1971 के उपरांत

भारतीय विदेश नीति की बदलती अवधारणाएँ

गोपाल कृष्ण शर्मा

PWP

प्रिन्टवैल, जयपुर
302 004.

Published By
PRINTWELL

By Special Arrangement With

RUPA BOOKS PVT. LTD.
S-12, SHOPPING COMPLEX
TILAK NAGAR JAIPUR - 302 004

Branch Office
218, West Cowley Brown Road,
R S Puram, Coimbatore - 641 002

First Published 1991

ISBN 81 7044 264 8

Laser Typesetting By
SPIRE,
(A House of Laser Typesetting)
JAIPUR 302 004
Printed at
GRAPHIC OFFSET PRINTERS
1307, Kedia Bhawan, Johari Bazar,
JAIPUR - 302 001

प्राक्कथन:

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में गत अर्धशताब्दि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, इन परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में प्रत्येक राष्ट्र के लिये विदेशनीति का निर्माण एव मुख्य रूप से उसका सचालन अत्यन्त चुनौतिपूर्ण हो गया है, इसी तरह की चुनौतियों का सामना स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में भारत को भी करना पडा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय विदेशनीति निश्चय ही अपने समय की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की स्वाभाविक उपज के रूप में विकसित हुई तथा इसीलिये विद्यमान लोकतात्रिक व्यवस्था में विदेशनीति पर राष्ट्रीय सहमति सदैव ही बनी रही तथापि भारतीय विदेशनीति के क्रियान्वयन में भिन्न सरकारों ने भिन्न प्राथमिकताओं को अपने सामने रखा। नेहरु युग के विदेशनीति क्रियान्वयन के दूरदर्शी लक्ष्य थे इसलिये जहा नेहरु की विदेशनीति ने भारत के आधुनिकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई वही शाति के प्रति नेहरु की शब्द एव कर्म के स्तर पर ईमानदार प्रतिबद्धता के कारण राष्ट्रीय अखडता को क्षति भी उठानी पडी।

प्रस्तुत पुस्तक में विदेशनीति के उस दौर का अध्ययन किया गया है, जब भारत ने शाति के लिये अपनी प्रतिबद्धता बरकरार रखते हुए भी शक्ति की राजनीति के यथार्थ को पहचाना और 1971 की घटनाओं से उत्पन्न परिस्थितियो का पूर्णत यथार्थवादी शैली से ..मना किया। इस प्रबध मे 1971 के पूर्व की विदेशनीति का सक्षिप्त एव विश्लेषणात्मक विवरण प्रस्तुत करने के बाद, 1971 के बाद इन्दिरा गाधी की सरकार द्वारा किये गये विदेशनीति व्यवहार की नई व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही इस सम्बन्ध मे विदेशनीति सचालन के उस दौर को भी सम्मिलित किया गया है। जब केन्द्र मे पहली बार कोई गैर काग्रेसी- जनता सरकार ने विदेशनीति को क्रियान्वित किया। इस पुस्तक मे यह विवेचन करने का भी प्रयत्न किया गया है कि जनता सरकार के बाद पुन इन्दिरा गाधी सरकार ने विदेशनीति के क्रियान्वयन मे क्या परिवर्तन किये।

मुझे विश्वास है कि भारतीय विदेशनीति के प्रसग में हिन्दी के माध्यम से किया गया यह अनुसधान विद्यार्थियों, शिक्षकों एव शोधार्थियों के साथ ही विदेशनीति में रुचि रखने वाले पाठकों के लिये भी उपयोगी एव सार्थक सिद्ध होगा।

रामसखा गौतम
आचार्य एव अध्यक्ष,
राजनीति विज्ञान अध्ययन शाला
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

आमुख :

किसी भी देश की विदेशनीति अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में उस देश की आकाक्षाओं एव आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति होती है। विदेशनीति की सरचना एव उसके क्रियान्वयन के पार्श्व मे उस देश का इतिहास, भौगोलिक स्थितियाँ, आर्थिक-सामाजिक परिवेश, सास्कृतिक-दार्शनिक एव वैचारिक पृष्ठभूमि, सैन्यक्षमताएँ तथा वैज्ञानिक एव तकनीकी विकास की समस्त शक्तियो का मथन विद्यमान रहता है। वर्तमान युग की गतिशील एव जटिल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी भी देश की विदेशनीति का निर्धारण एव क्रियान्वयन निश्चय ही चुनौतिपूर्ण होता है क्योकि विदेशनीति का मूल उद्देश्य सबद्ध राष्ट्र के हितों की रक्षा और उनकी वृद्धि मे ही मुख्यत निहित रहता है। जहा तक विदेशनीति के निर्धारण एव क्रियान्वयन में व्यक्ति विशेष या सरकार विशेष की भूमिका का प्रश्न है, यह भूमिका महत्वपूर्ण तो होती है किन्तु निर्णायक प्राय नहीं होती क्योकि निर्णय प्रक्रिया पर आतरिक एव बाह्य वातावरण का प्रभाव सदैव असकारात्मक रुप में विद्यमान रहता है। इन्हीं बिन्दुओ के परिप्रेक्ष्य में भारतीय विदेशनीति का भी अध्ययन करने का प्रयास मैंने अपने इस शोध-प्रबन्ध मे किया है।

यह सही है कि भारतीय विदेशनीति को आकार प्रदान करने में भारत के प्रथम प्रधानमत्री प. जवाहरलाल नेहरु ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। वे वस्तुस्थिति के एक विशेप मगाम पर एक ऐसे व्यक्ति के रुप मे प्रकट हुए कि देश की आकाक्षाओ के मूर्तरुप बन गए। नेहरु ने न केवल भारतीय विदेशनीति के उद्देश्यों, आधारभूत सिद्धान्तों, मान्यताओ एव मूल्यो को प्रभावकारी शैली में परिभाषित किया अपितु उसकी सीमाओं एव कमजोरियो को समझते हुए देश की स्वाधीनता के प्रथम सत्रह वर्षो तक इस नीति का क्रियान्वयन भी किया। नेहरु युग की विदेशनीति के क्रियान्वयन में यदि हम चीन से पराजय के अवसादपूर्ण हादसे एव पाकिस्तान के साथ काश्मीर के उलझे हुए प्रश्न को अपवाद रुप मे स्वीकार करें तो यह तय है कि नेहरु की विदेशनीति के क्रियान्वयन ने न केवल भारत के आधुनिकीकरण को एक ठोस आधार प्रदान किया वरन् अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिये उनके प्रयासों मे गुट निरपेक्ष-आन्दोलन के रुप मे एक सशक्त आन्दोलन को जन्म दिया। नेहरु वस्तुत मानवतावादी थे इसीलिये वे अन्तर्राष्ट्रीयतावादी भी थे परन्तु नेहरु की विदेशनीति को इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिये।

जवाहरलाल नेहरु के विराट व्यक्तित्व के बाद लालबहादुर शास्त्री भारत के द्वितीय प्रधानमंत्री बने तथापि शास्त्री का कार्यकाल बहुत संक्षिप्त रहा किन्तु विदेशनीति की यथार्थवादी शैली में संचालित करने के प्रयत्न उन्होंने प्रारंभ किये। विश्व के मामलों में अधिक रुचि न लेकर पड़ौसी देशों से बेहतर संबधों की खोज उन्होंने की। इसी बीच पाकिस्तान से पहले कच्छ के प्रश्न पर फिर एक पूर्णयुद्ध उनके नेतृत्व में भारत ने लड़ा। इस युद्ध में भारत विजेता भी रहा और शांति के प्रयत्नों के लिये वे ताशकंद पहुचे। कुछ अन्तर्राष्ट्रीय दबाव और कुछ शांति के आदर्शों के प्रति भारत की घोषित परम्परागत नीति ने ताशकंद के आधे अधूरे मन से किये गए समझौते को जन्म दिया इसी समझौते के साथ शास्त्री जी के निधन का दु खद अध्याय भी जुड़ा। शास्त्री जी की विदेशनीति में भी आदर्श और यथार्थ का मिश्रित प्रभाव रेखांकित किया जा सकता है।

शास्त्री के बाद भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी बनी। इन्दिरा गांधी ने अपने प्रथम कार्यकाल में देश की आतंरिक राजनीति पर नियंत्रण स्थापित करने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। फिर आया 1971 का महत्वपूर्ण वर्ष।

इस शोध प्रबन्ध में मुख्यत 1971 के बाद की भारतीय विदेशनीति के व्यवहारिक पक्ष का विवेचन करना मेरा मूल अभिप्राय रहा है। जहाँ इस प्रबन्ध का प्रथम अध्याय भारतीय विदेशनीति की ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है, वहीं द्वितीय अध्याय में 1947 से 1970 तक की विदेशनीति क्रियान्वयन का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक है - "1971 भारतीय विदेशनीति की नई व्याख्या का वर्ष।" 1971 जहां अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की यथास्थिति में हुए नाटकीय परिवर्तनों का वर्ष है वही 1947 में द्विराष्ट्र सिद्धान्त के आधार पर बने हुए पाकिस्तान के विभाजन का भी वर्ष है। इन दोनों ही परिवर्तनों में जो अन्त सम्बद्धता स्थापित हुई उसी ने भारतीय विदेशनीति की प्रमुख अवधारणा गुटनिरपेक्षता की नई व्याख्या प्रस्तुत हुई। इस अध्याय मे यही विवेचन प्रस्तुत किया गया है कि किस तरह पूर्वी पाकिस्तान में स्वाधीनता संघर्ष प्रारंभ हुआ। भारत पर इसका क्या प्रभाव हुआ। इसी अवसर पर किस तरह विश्व के दो परम्परागत शत्रुओं चीन तथा अमेरिका के मध्य संवाद स्थापित हुआ। कैसे 'पिंडी-पीकिंग-टन' धुरी का निर्माण हुआ। इस धुरी ने किस परिस्थिति में सोवियत संघ तथा भारत को शांति,मैत्री एवं सहयोग की २० वर्षीय संधि के लिये प्रेरित या बाध्य किया। विश्व की दो महाशक्तियों की गुटबाजी के विरुद्ध जन्मी गुटनिरपेक्षता किस कूटनीतिक चातुर्य से भारत-सोवियत संधि के बाद भी कैसे अक्षुण्ण रही ? इस सम्पूर्ण प्रसंग में भारत ने अपनी विदेशनीति की अवधारणाओं के व्यवहार में क्या परिवर्तन किये? तदुपरान्त हुए

भारत-पाक युद्ध एवं बंगलादेश की स्वतंत्रता में इस धुरी निर्माण का क्या प्रभाव हुआ ? संयुक्त राष्ट्र द्वारा इस युद्ध मे क्या भूमिका निभाई गई ? आदि प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयत्न इस अध्याय में किया गया है। वस्तुत यही इस शोध-प्रबंध का केन्द्र-बिन्दु भी है। इन्दिरा गाधी ने भारतीय विदेशनीति का उपर्युक्त घटनाओं में जिस यथार्थवादी शैली में क्रियान्वयन किया, वह बेमिसाल है।

1971 का यह वर्ष इसीलिये महत्वपूर्ण है कि इन्दिरा गाधी के नेतृत्व में इस वर्ष निश्चय ही भारत का कद ऊंचा हुआ। वह एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में स्थापित हुआ। यहीं से महाशक्तियों द्वारा भारत पर दबाव डालने के राजनय को विराम लगा। तीसरी दुनिया के देशों में भारत के प्रति सम्मान का भाव विकसित हुआ। इसीलिये प्राण चौपडा ने इसे भारत की दूसरी आजादी का वर्ष कहा है।

प्रबन्ध के चौथे अध्याय में "1971 के बाद भारत की प्रभावी भूमिका के दौर" का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। भारत बंगलादेश संधि, शिमला समझौता, अल्जीयर्स सम्मेलन मे भारत की भूमिका, भारतीय अणुविस्फोट, हिन्दमहासागर के प्रश्न पर भारतीय भूमिका, कोलम्बो के गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में भारत का योगदान, तथा अपने ही मित्र राष्ट्र सोवियत संघ द्वारा प्रस्तुत की गई एशियाई सामूहिक सुरक्षा योजना के प्रति भारत की निर्भीक प्रतिक्रिया का इस अध्याय मे विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इस शोध प्रबन्ध का पाँचवा अध्याय इस अर्थ मे महत्वपूर्ण है कि भारत की आजादी के बाद केन्द्र मे प्रथम बार सतारुढ हुई गैर कांग्रेसी जनता-सरकार की विदेशनीति का मूल्यांकन करने का इस अध्याय मे प्रयत्न किया गया है। वैसे जनता-सरकार बहुत कम समय के लिये सत्ता मे रही तथा उसके विदेशनीति क्रियान्वयन ने भी बडे पैमाने पर यही सिद्ध किया कि भारतीय विदेशनीति राष्ट्रीय सहमति पर ही आधारित रही है। फिर भी जनता सरकार के नेताओं द्वारा प्रस्तुत सही गुटनिरपेक्षता के विचार का क्या अभिप्राय था ? व्यवहार मे इस विचार का जनता सरकार ने किस तरह क्रियान्वित किया ? यह समझने का एक विनम्र प्रयास इस अध्याय मे किया गया है। साथ ही पडौसी देशों के प्रति इस उपमहाद्वीप में बडे भाई की उदारता का परिचय भारत ने किस प्रकार दिया ? इसे भी इस प्रबंध में प्रस्तुत किया गया है। जनता सरकार के युग मे महाशक्तियों से भारत के सबंधों का विश्लेषण भी इसी उद्देश्य से सम्मिलित किया गया है कि सही या वास्तविक गुटनिरपेक्षता के विचार को समझा जा सके।

अध्याय छः में जनता सरकार के बाद पुन इन्दिरा गाधी के नेतृत्व में सचालित हुई 1980 के बाद की भारतीय विदेशनीति का विश्लेषण है। जनता सरकार द्वारा सचालित की गई विदेशनीति तथा इन्दिरा गाधी द्वारा किये गए विदेशनीति व्यवहार का न्यूनाधिक अन्तर इस अध्याय में (मुख्य रुप से अफगानिस्तान एव कम्पूचिया के प्रश्न पर) रेखाकित किया गया है। पडौसी देशों तथा महाशक्तियो के प्रति इस दौर में अपनाए गए दृष्टिकोण के विवेचन के साथ ही गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के नेतृत्व के रुप में भारत द्वारा निभाई गई भूमिका का मूल्याकन करने का प्रयास भी इस अध्याय में सम्मिलित है।

अन्तिम एव सातवा अध्याय - 'उपसहार' मे इस प्रबध के निष्कर्षो को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि 1983 के अन्तिम दिनों तक की भारतीय विदेशनीति के क्रियान्वयन को इस प्रबन्ध में सम्मिलित किया गया है।

इस प्रबध की पूर्णता तथा पुस्तक के रुप मे प्रकाशन के सन्दर्भ में मुझे जिनसे मार्गदर्शन, प्रेरणाए एव सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके प्रति विनम्र कृतज्ञता की अभिव्यक्ति मेरा दायित्व है।

सर्वप्रथम मैं अपने इस प्रबन्ध के निर्देशक एव गुरु प्रोफेसर आर के अवस्थी कुलपति, पटना विश्वविद्यालय, बिहार के प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता अर्पित करता हूँ जिनके विद्वतापूर्ण मार्गदर्शन मे यह शोध प्रबन्ध सम्पन्न हो सका।

राजनीति विज्ञान अध्ययन शाला के आचार्य एव अध्यक्ष परम श्रद्धेय प्रो रामसखा गौतम के प्रति मै सदैव ऋणी रहूगा जिन्होंने मेरे इस शोध प्रबन्ध की सम्पूर्णता में ही नहीं वरन् मेरे अध्ययन अध्यापन के प्रत्येक पक्ष मे निरन्तर प्रोत्साहन, प्रेरणा, मार्गदर्शन एव वही प्यार दुलार दिया है जो एक पिता अपने पुत्र को दे सकता है।

अपने अग्रजो, डॉ चैनसिंह पँवार, उपाचार्य एव डॉ महेश माहेश्वरी, उपाचार्य राजनीति विज्ञान अध्ययन शाला के प्रति मैं आभारी हूँ जिन्होंने शोध की सम्पन्नता में मुझे आत्मीय सहयोग प्रदान किया है। साथ ही मेरे मित्र डॉ विजेन्द्र कुमार त्यागी तथा उनके सम्पूर्ण परिवार द्वारा अनुसधान के प्रसग में हुए दिल्ली प्रवास के अवसर पर स्नेह तथा आश्रय देकर जो आत्मीय सौजन्य प्रदान किया है, उसके बिना शोधकार्य की पूर्णता निश्चय ही दुष्कर कार्य होता।

मैं अपने मित्रों डॉ सतीश गौड़, डॉ एन एन वर्मा, डॉ जगदीश निगम, डॉ ज्ञानवर्धन पाठक, कु ममता शर्मा, कु कालिन्दी दापर, डॉ उषा कश्यप, डॉ ओम गुहना तथा डॉ

राम राजेश मिश्र एव डॉ निशा वशिष्ठ को इस प्रबंध की सम्पन्नता में दिये गए सहयोग के लिये धन्यवाद देता हूँ।

इस प्रबन्ध के प्रकाशन में डॉ कु नलिनी रेवडीकर, प्राचार्य शासकीय कन्या स्नातकोतर महाविद्यालय इन्दौर एव डॉ. अरुण चतुर्वेदी, उपाचार्य, राजनीति विज्ञान अध्ययनशाला विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के प्रति उनसे प्राप्त मार्गदर्शन के लिये विनम्र कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस प्रबन्ध की सम्पन्नता में सप्रू हाउस, ग्रन्थालय, नई दिल्ली, त्रिमूर्ति भवन ग्रन्थालय, नई दिल्ली, जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय पुस्तकालय तथा महाराजा जीवाजीराव पुस्तकालय उज्जैन के सभी अधिकारियों एव सहयोगियों के प्रति मैं आभारी हूँ जिनका सक्रिय सहयोग ही मेरे इस शोधकार्य का प्रमुख आधार है।

इस पुस्तक के लिए विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के अन्तर्गत प्रकाशन हेतु अनुदान स्वीकृत किये जाने हेतु मैं निश्चय ही ऋणी हूँ, जिससे इस प्रबन्ध का प्रकाशन सभव हो सका।

मैं अपने प्रकाशक श्री राजेन्द्र गुप्ता, प्रिन्टवैल पब्लिशर्स, तिलक नगर, जयपुर के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक का यह सुरुचिपूर्ण प्रकाशन सम्पन्न किया है।

अन्त में नितात व्यक्तिगत किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण एव विनम्र दायित्व अपने माता-पिता के प्रति सादर कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। साथ ही सहधर्मिणी श्रीमती डॉ कल्पना शर्मा, सहायक प्राध्यापक शासकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उज्जैन एव छोटी बहिन श्रीमती चन्द्रकाता भट्ट, सहायक प्राध्यापक, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झाबुआ का मुझ पर ऋण है यही मेरा सौभाग्य भी है।

गोपालकृष्ण शर्मा

उज्जैन (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

		पृष्ठांक
अध्याय - 1	*ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि*	*1 - 40*
	स्वतंत्रता के पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विदेशनीति	
	विदेशनीति के प्रभावी कारक	
	विदेशनीति के लक्ष्य एवं सिद्धान्त	
अध्याय - 2	*विदेशनीति का क्रियान्वयन (1947-1970)*	*41 - 80*
	नेहरू युग (1947-1964)	
	शास्त्री युग (1964-1966)	
	श्रीमती गांधी युग (1966-1970)	
अध्याय - 3	1971 भारतीय विदेशनीति की नई भारतीय कोण	81 - 119
	बंगलादेश का मुक्ति संग्राम भारतीय चिन्ता	
	चीन-अमेरिका-पाक धुरी	
	भारत-सोवियत मैत्री संधि विदेशनीति की नई व्याख्या	
	भारत-पाक युद्ध एवं बंगलादेश की स्वतंत्रता	
	भारत पाक युद्ध और संयुक्त राष्ट्र	
अध्याय - 4	1971 के बाद प्रभावी भूमिका का दौर	120 - 155
	भारत बंगलादेश संधि	
	शिमला समझौता	
	अल्जीयर्स सम्मेलन और भारत	
	भारतीय अणु विस्फोट	
	भारत-चीन तनाव शैथिल्य	
	हिन्द महासागर का प्रश्न	
	कोलम्बो सम्मेलन में भारत की भूमिका	
	एशियाई सामूहिक सुरक्षा योजना और भारत	
अध्याय - 5	जनता-सरकार की विदेशनीति	156 - 183
	सही असंलग्नता का विचार	
	पड़ोसी देशों से सम्बन्धों को प्राथमिकता	
	जनता-सरकार और महाशक्तियां	
	(1) भारत और सोवियत संघ	
	(2) भारत और अमेरिका	

अध्याय - 6	1980 के बाद भारतीय विदेशनीति	184 - 216
	कम्पूचिया की मान्यता	
	अफगानिस्तान का प्रश्न	
	पड़ोसी देशों के प्रति भारतीय नीति	
	अमरिका से संवाद	
	सोवियत संघ के प्रति नीति	
	गुटनिरपेक्ष सम्मेलन आन्दोलन के नेतृत्व का दायित्व	
अध्याय - 7	उपसंहार	217 - 230

अध्याय - 1

ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि
स्वतंत्रता के पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विदेशनीति
विदेशनीति के प्रभावी कारक
विदेशनीति के लक्ष्य एवं सिद्धान्त

(1) स्वतंत्रता के पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विदेशनीति

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने विदेशनीति के लिये जो चिन्तन विकसित किया वह आकस्मिक नहीं था। स्वतंत्रता के पूर्व भारतीय शासन पर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का नियंत्रण था तथा ब्रिटिश शासक अपने साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी हितों के लिए तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत का उपयोग करते थे। ब्रिटिश साम्राज्य के लिए भारतीय उपनिवेश का सर्वाधिक महत्व था तथा वे भारत को सुरक्षित रखने के लिये ही अपनी नीति को सुनिश्चित आधार प्रदान करते थे। ब्रिटेन के शासकों द्वारा भारत के अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के सम्बन्ध में लिये गये निर्णय भारत के मूलभूत हितों से किसी भी तरह मेल नहीं खाते थे और न ही किसी प्रकार की राष्ट्रीय सहमति इन निर्णयों के साथ सम्भव थी।

भारत की ब्रिटिश दासता से मुक्ति के लिये राष्ट्रीय चेतना का प्रसार बहुत शिथिल गति से किन्तु क्रमिक रूप से होता रहा। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ ही राष्ट्रीय स्तर पर ब्रिटिश शासन के विरोध का क्रम प्रारम्भ हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस शीघ्र ही भारतीय चेतना को अभिव्यक्त करने वाली राष्ट्रीय संस्था के रूप में परिणत हो गई।

अपनी स्थापना के कुछ ही वर्षों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने समय की महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और समस्याओं पर मत व्यक्त करना आरम्भ कर दिया भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में विदेशनीति के भावी स्वरूप के सन्दर्भ में प्रस्ताव पारित किये जाने लगे।

स्वतंत्रता के पूर्व के 62 वर्षों के अपने अस्तित्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की समस्याओं पर प्रकट किये गये विचारों में हमें स्वतंत्रता के तत्काल बाद भारत द्वारा स्वीकार की गई विदेशनीति की जड़े देखने को मिलती हैं या यह कहा जाए कि स्वतंत्र भारत की विदेशनीति का प्रारम्भिक स्वरूप उसी निरन्तरता से जुड़ा हुआ है जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रस्तावों में प्रतिध्वनित होता है। विशेष रूप से प्रथम महायुद्ध के बाद जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जनाधार अधिक सशक्त और व्यापक हो गया तब विदेशनीति सम्बन्धी प्रश्नों पर अपेक्षाकृत अधिक मुखर रूप में प्रस्ताव पारित किये जाने लगे। महात्मा गांधी के नेतृत्व में जब कांग्रेस संगठन अधिक प्रभावशाली रूप में विकसित हुआ तो 1928 में जवाहरलाल नेहरु की अध्यक्षता में विदेशनीति विभाग इस राष्ट्रीय संस्था के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्थापित किया गया। वैसे अपने जन्म के समय से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा पारित किये गये प्रस्तावों से स्पष्ट होता है कि वह विदेशनीति से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करती रही और सभी में उच्च आदर्शों की प्राप्ति को लक्ष्य बनाते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिये भारत द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियों एवं सिद्धान्तों को आकार देती रही।

1885 में ही अपने प्रथम अधिवेशन में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित कर ब्रिटिश शासन द्वारा ऊपरी बर्मा को भारत में मिला लेने का विरोध करते हुए निंदा की गई।[1] कांग्रेस द्वारा विदेश नीति के सम्बन्ध मे पारित किया गया यह पहला अधिकृत प्रस्ताव इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि भारतीय नेता, पडौसी देशों पर आक्रमण एव आधिपत्य के विरोधी थे।

जब ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए ब्रिटिश शासक भारतीय सैनिकों का उपयोग बर्मा, अफगानिस्तान, ईरान, तिब्बत आदि पडौसी एव निकटवर्ती राज्यों के विरुद्ध करते थे तो कांग्रेस इस पर अपनी उग्र प्रतिक्रिया, अपने प्रस्तावो के माध्यम से व्यक्त करती थी। 1892 के अधिवेशन मे भी कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित कर ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के अनुसरण मे या अन्य यूरोपीय महाशक्तियों के साथ ब्रिटेन के सम्बन्धों के कारण भारत की सीमाओ के बाहर सैनिक गतिविधियो के सचालन का विरोध प्रकट किया था। इसी तरह 1904 में भी कांग्रेस ने ब्रिटिश शासन के तिब्बत अभियान का विरोध किया तथा इस बात पर विशेष बल दिया गया कि तिब्बत के सम्बन्ध मे लिये गये निर्णय ब्रिटिश साम्राज्य की उस व्यापक नीति का अग है जो भारत को विदेशी मामलो मे उलझाना चाहती है। यहाँ यह पुन स्पष्ट होता है कि भारतीय नेता न केवल अपने पडौसी देशों की प्रादेशिक अखण्डता एव सम्मान के प्रति सवेदनशील थे वरन् वे भारत को व्यर्थ के अन्तर्राष्ट्रीय विवादो मे उलझाने के भी विरुद्ध थे।

1905 मे जापान द्वारा रूस की पराजय पर भारतीय नेताओ ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की क्योकि यह विकसित हो रहे एशियाई देश द्वारा यूरोपीय देश की पराजय थी। उसके बाद भी विभिन्न घटनाओं पर भारतीय नेता अपनी प्रतिक्रियाए व्यक्त करते रहे। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व अंग्रेजों द्वारा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को दिये गये वचन के कारण युद्धकाल मे ब्रिटिश शासन के लिये भारतीय सैनिकों के प्रयोग की अनुमति के प्रस्ताव पारित किये गये।[2]

प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस विदेशनीति के सन्दर्भ मे और अधिक मुखर प्रस्ताव पारित करने लगी तथा अपनी स्वतत्र दृष्टि का परिचय देने लगी। 1920 में जब ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध आयरिश जनता ने स्वाधीनता सग्राम प्रारम्भ किया तो कांग्रेस ने 'सहानुभूति-प्रस्ताव' पारित कर इस स्वतत्रता सग्राम का का समर्थन किया।[3] इस प्रस्ताव में यह नीति विकसित हुई कि भारत किसी भी देश के स्वतत्रता आन्दोलनों का साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद के विरुद्ध सहयोग करेगा।

1921 के दिल्ली अधिवेशन मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक ऐतिहासिक प्रस्ताव पारित किया जिसमें स्पष्ट रूप से कहा गया कि "भारत की वर्तमान सरकार किसी भी रूप में भारत का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती।"

कांग्रेस के विदेशनीति विभाग के सचिव डा० एन०व्ही० राजकुमार ने इस प्रस्ताव की

व्याख्या करते हुए लिखा है कि "यह प्रस्ताव इसलिये महत्वपूर्ण है कि यह राष्ट्रवादी भारत की पहली महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है कि विदेशनीति के क्षेत्र मे भारत और ब्रिटेन के हित एक-दूसरे के विरोधी हैं। इस प्रस्ताव मे ही भारत की स्वतन्त्र विदेशनीति की नीव रखी गई है।"[4]

मद्रास काग्रेस मे 1927 के अधिवेशन मे भी भारतीय टुकडियों के चीन, मेसोपोटामिया एव फारस में प्रयोग पर आपत्ति की गई और युद्ध की उन तैयारियो की भर्त्सना की गई जो ब्रिटेन के द्वारा भारत मे की जा रही थी। 1920 से 1927 तक के ये प्रस्ताव भारत की भावी विदेशनीति के स्वरूप को एक हद तक निश्चय ही स्पष्ट करने वाले थे। नेहरू ने कहा था कि धीरे-धीरे काग्रेस ने एक ऐसी विदेशनीति का निर्माण किया जो सभी स्थानों पर राजनैतिक व आर्थिक साम्राज्यवाद की समाप्ति और स्वतत्र राष्ट्रो के परस्पर सहयोग पर आधारित थी। यह नीति भारत की स्वतत्रता की माग पर आधारित थी। 1920 मे काग्रेस ने विदेशनीति पर एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें दूसरे देशों के साथ सहयोग करने की हमारी इच्छा विशेष रूप से पडोसी देशों के साथ मैत्री सम्बन्धों की स्थापना करने की आवश्यकता पर बल डाला गया। बाद मे बडे पैमाने पर युद्ध की आशका पर भी विचार किया गया तथा 1927 मे दूसरे विश्वयुद्ध के आरम्भ होने से 12 वर्ष पूर्व ही काग्रेस ने अपनी नीति की घोषणा कर दी।[5]

यह तय है कि भारतीय परतत्रता के कई देशों की स्वतत्रता का भाग्य जुडा हुआ था, इसलिये भारतीय परतत्रता के प्रश्न को एकाकी न रखते हुए अन्य देशों की स्वतत्रता के साथ जोडकर, भारत ने एक साथ साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद के विरुद्ध आक्रोश एव दलित राष्ट्रो के प्रति सवेदना और सहयोग की भावी नीति का मार्ग प्रशस्त किया।

1928 मे नेहरू की अध्यक्षता मे विदेशनीति प्रकोष्ठ की स्थापना के बाद भारतीय विदेशनीति अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित स्वरूप प्राप्त करती चली गई। यह कहा जा सकता है कि 1928 से मृत्यु पर्यन्त नेहरू ने ही भारतीय विदेशनीति को शिल्प प्रदान किया।

विश्व की राजनीतिक गतिविधियों के प्रति भारत का निश्चित दृष्टिकोण अधिकाश जवाहर लाल नेहरू के विचारों मे ही निर्मित हुआ था। नेहरू ही एक ऐसे व्यक्तित्व थे जिन्होने अपने काँग्रेस दल के लोगो को तथा आम जनता को शनै शनै अन्तर्राष्ट्रीय विकास के परिप्रेक्ष्य मे देश के राजनीतिक आन्दोलन का अवलोकन करने को प्रेरित किया था। विश्व की राजनीतिक गतिविधियो के समानान्तर ही राष्ट्र के राजनैतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया जा सके, इस का प्रयास वे द ्र रहे थे। उन्होने अपने देशवासियों की वैचारिक विविधता और परस्पर मतभेदो को एकाकृत करने का प्रयास किया था। विश्व राजनीति के प्रति उनका सुसगत दृष्टिकोण देश की जनता के लिये उत्साहवर्धक और प्रेरणादायक था।[6]

कलकत्ता के अपने 1928 के अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने विदेशनीति प्रकोष्ठ द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों को स्वीकार किया। इन प्रस्तावों में मिश्र, सीरिया, ईराक एव फिलीस्तीन की जनता को साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष में भारतीयों की ओर से शुभकामनाए प्रेषित की गई। इस तरह यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध शिकार देशों की एकता का मार्ग विकसित होने लगा जिसका श्रेय भारतीय नेताओ को जाता है।

1930 के बाद विश्व में साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद के विरुद्ध फासीवाद व नाजीवाद की उग्र धाराए विकसित हुई। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस इन धाराओं के प्रति सचेत थी, इसलिये काग्रेस ने अपने प्रस्तावों में फासिस्ट एव नाजी शक्तियों की आक्रामक कार्यवाहियों की निन्दा की। प्रथम महायुद्ध के विपरीत काग्रेस ने द्वितीय महायुद्ध के समय ब्रिटिश शासकों को युद्ध में किसी प्रकार का सहयोग न देने का निर्णय लिया। 1939 के त्रिपुरा अधिवेशन में काग्रेस ने स्वय की ब्रिटिश नीति से अलग किया तथा यह मत व्यक्त किया कि भारत के लिये यह परमावश्यक है कि वह अपनी विदेशनीति का सचालन एक स्वतत्र राज्य के रुप में करे और इसी कारण अपने को साम्राज्यवाद का फासीवाद दोनों से ही अलग रखकर शाति और स्वाधीनता के मार्ग का अनुसरण करे। अपने प्रस्ताव में काग्रेस कार्य समिति ने कहा कि "भारतीयों के लिये युद्ध और शाति के प्रश्नों का फैसला भारतीय जनता द्वारा किया जाना चाहिए। उनकी पूरी सहानुभूति जनतत्र और स्वतत्रता के पक्ष में है किन्तु भारत जनतात्रिक स्वतत्रता के पक्ष में ऐसे युद्ध में भाग नही ले सकता जबकि स्वय उसे इस स्वतत्रता से वचित रखा गया हो।[7]

इन घटनाओं तक काग्रेस साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा किसी भी राष्ट्र की आक्रामक कार्यवाहियों की प्रखर विरोधी हो गई।

1945 में सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना का भारतीयों ने स्वागत किया तथा विश्वशाति की स्थापना के अपने उद्धेश्यों के अनुकूल होने से इस विश्व-सस्था को सहयोग देने का भी सकल्प किया किन्तु जुलाई, 1945 में काग्रेस कार्य समिति ने एक प्रस्ताव में इस नव-स्थापित विश्व-सस्था पर महाशक्तियों के प्रभुत्व एव पराधीन उपनिवेशों की स्वतत्रता के विषय में स्पष्ट घोषणा के स्थान पर अपनी आपत्ति प्रकट की।

1945-46 में ही काग्रेस कार्य समिति ने अणुबम के प्रयोग से निर्मित स्थिति के प्रति सवेदना व्यक्त की।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण से यह स्पष्ट होता है कि स्वतत्रता के पूर्व के 62 वर्षों में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने विदेशनीति के अपने चिन्तन एव दृष्टिकोण को क्रमिक रुप से विकसित किया था। यह निश्चित रुप से सही है कि विदेशनीति की इन आधारभूत मान्यताओं का निर्माण तत्कालीन ब्रिटिश दासता के कटु अनुभवो तथा उससे मुक्ति के अहिंसात्मक प्रयासों के बीच ही हुआ था।

(2) विदेशनीति के प्रभावी कारक

हमने स्वतत्रता के पूर्व ही भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की विदेशनीति सम्बन्धी मान्यताओ का विश्लेषण किया, जिससे यह स्पष्ट हुआ कि स्वतत्र भारत की विदेशनीति आकस्मिक नही थी। वैदेशिक नीति का भावी स्वरुप भारतीय नेताओं के मस्तिष्क में ब्रिटिश शासन के समय ही विकसित हो रहा था।

अब हम यहा उन आधारभूत निर्धारक तत्वों की समीक्षा करेंगे जो स्वतत्र भारत की विदेशनीति को निर्धारित करने में अपनी प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं।

विदेशनीति का निर्माण किसी एक कारक या कुछ कारक-समूहो के प्रभाव से ही नहीं होता है किन्तु यह कई कारक तत्वों की अन्त क्रियाओं के फलस्वरुप निर्मित होती है। य कारक विभिन्न तरीकों से तथा विभिन्न परिस्थितियों मे विदेशनीति को प्रभावित करते हैं। इनमें से कुछ कारक अपेक्षाकृत अधिक स्थिर एव अपरिवर्तनशील होते हैं तो कुछ अस्थिर एव परिवर्तनशील होते हैं। हम यहा मुख्य कारकों की चर्चा करेगे जो विदेशनीति की तीव्रता से प्रभावित करते हैं। इनमें भूगोल, आर्थिक विकास, राजनैतिक परम्पराए, आन्तरिक वातावरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियाँ मुख्य हैं।

भौगोलिक परिस्थिति :

भारतीय विदेशनीति के निर्धारण में भौगोलिक स्थिति का सर्वाधिक प्रभाव पडता है। भारत के एक ओर उत्तर में सर्वाधिक ऊची हिमालय की पर्वत श्रृखलाए और विश्व के तीन बडे समुद्रों से दक्षिण की ओर सीमाए मिलना, भारत को विदेशी सम्बन्धों पर भौगोलिक प्रभाव के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में रखता है। हिमालय की असाधारण ऊची पर्वत श्रृखलाए भारत को प्रभावशाली तरीके से उसकी उत्तरी सीमा के पडौसी देशों से सैनिक, राजनैतिक एव व्यावसायिक दृष्टि से अलग कर देती है। केवल खेवर दर्रे की उत्तर-पश्चिमी सीमा ही मुख्य भू-व्यापार या आक्रमण के लिये शेप रह जाती है। यह भौगोलिक स्थिति भारत को अवश्यम्भावी रुप से समुद्री मार्गों मे अपने राजनैतिक, व्यापारिक एव सास्कृतिक सम्बन्धो की स्थापना के लिये वर्तमान मे ही नहीं, भविष्य मे भी प्रेरित करती है। भारत के राजनैतिक एव आर्थिक सम्बन्ध तथा सुरक्षा की दृष्टि से मुख्यत यह आवश्यक हो जाता है कि वह हिन्द महासागर पर अपना नियत्रण रखे। हिन्द महासागर के शीर्ष में भारत की भौगोलिक स्थिति काफी प्रभुत्वपूर्ण है और उसकी सीमा भू-मध्य रेखा के लगभग आठ डिग्री निकट तक दक्षिण की ओर पहुचती है। भारत दो स्पष्टत भिन्न प्रकार के देशों के बीच स्थित है। पश्चिम की ओर दक्षिण-पश्चिमी एशिया के रेगिस्तानी और पूर्व की ओर दक्षिण-पूर्व एशिया के मानसूनी देशों के बीच स्थित, भारत मे इन दोनो प्रदेशों की विशेषताए देखी जा सकती हैं। देश की भौगोलिक स्थिति का प्रमुख तत्व लम्बा समुद्र-तट हैं।[8]

दक्षिण एशिया में भारत की स्थिति उसे एशिया में केन्द्रीय स्थान प्रदान करती है

जिससे उसके भू-राजनीतिक महत्व का विस्तार होता है। विश्व के सभी समुद्री एव वायुमार्ग भारत से होकर गुजरते है। एक रुप में, भारत पश्चिम एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया एव सुदुर-पूर्व के मध्य सम्पर्क सूत्र के रुप में भुगोल द्वारा स्थापित किया गया है। भौगोलिक दृष्टिकोण मे नेहरू ने कहा था कि -- "भारत पूर्व एव पश्चिम के मध्य एक तरह से पुल के सदृश्य है तथा इसी कारण वह अनिवार्यतः विश्व की महत्वपूर्ण समस्याओं से जुड़ जाता है।"[9]

इसीलिये ब्रिटिश साम्राज्य की दृष्टि में भारत का सर्वाधिक महत्व था और इसीलिये भारत यदि चाहे तो समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपनी प्रभावशाली भूमिका निभा सकता है।

किसी भी राजनैतिक क्षेत्र में अन्य राजनैतिक क्षेत्रो की तुलना मे सापेक्ष स्थिति का भू-राजनीतिक महत्व होता है। भारत चारो ओर से ऐसे देशों से घिरा है जो राजनीतिक आकर्षण के केन्द्र है। यूरोप और एशिया के सन्दर्भ में भारत की स्थिति कुछ ऐसी है कि कुछ विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियो में विश्व नियत्रण की रणनीति मे भारत की निर्णायक भूमिका बन सकती है। इस महत्व का बुनियादी कारण यूरेशियाई हृत्स्थल के सन्दर्भ में भारत की भौगोलिक स्थिति है। इस हृत्स्थल को मेकिण्डर ने पृथ्वी का महान प्राकृतिक दुर्ग कहा है।[10]

क्षेत्र की दृष्टि से विश्व मे सातवा विशाल राज्य होने का प्रभाव भी भारतीय विदेशनीति पर पडता है। विशाल भू-क्षेत्र होने से भारत मे विशाल पैमाने पर भू-सम्पदा भी विद्यमान है। अमेरिका और रुस के महाशक्ति होने का यह प्रमुख कारण था। इसी कारण भारत में भी महाशक्ति बनने की सम्भावनाए विद्यमान हैं तथा भारत अपने विशाल आकार के कारण भी विश्व राजनीति में प्रभावशाली भूमिका निभा सकता है। दूसरे, इसी विशाल आकार के कारण भारत की सुरक्षा भी अधिक सरलता से की जा सकती है। जब तक कि सैनिक दृष्टि से बहुत अधिक अन्तर नही हो, भारत पर नियत्रण स्थापित करना अब किसी भी देश के लिए सम्भव नही रह गया है। इन स्थितियों के परिणाम-स्वरुप ही भारत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की स्थिति में है। विशाल आकार होने के कारण यह भारत के लिये तर्क-सम्मत नहीं था कि वह विश्व राजनीति में एक छोटे राष्ट्र की तरह आचरण करे। जवाहरलाल नेहरु ने सही ही कहा था कि --

मेरी समझ में योरोप के कुछ छोटे देश और एशिया के छोटे और लाचार देश ही इतनी परिस्थितियों से घिरे हुए हैं कि वे बडे और ताकतवर राष्ट्रों की ओर विवशतावश और कातरता से मुँह ताकने को मजबूर हैं इसके अलावा उनके पास कोई चारा भी नहीं है। उनके विरोध में खडे राष्ट्र इतने सबल हैं कि उनके सताये देशों को पनाह देने की कोई हिम्मत तक नहीं करता ऐसी स्थिति मे वे बेचारे कहाँ जाएँ। मैं नहीं समझता कि ऐसी

नौबत भारत की आने वाली है। भारत इतना विशाल देश है कि वह किसी देश का दावेदार बन ही नहीं सकता, विशाल देश की अनेक समस्यायें होने पर भी यह देश तेजी से आगे बढ़ रहा है। निश्चय ही वह दिन दूर नही है जबकि यह देश विश्व में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लेगा।[11]

इस तरह भारत की भौगोलिक स्थिति, उसका आकार, उसकी जनशक्ति तथा उसकी धरती में छिपी खनिज सम्पदा यह आधार प्रदान करती है कि भारत विश्व राजनीति में अपनी प्रभावशाली भूमिका निभाए।

एक ओर हिमालय का क्षेत्र, तीन ओर हिन्द महासागर की सीमाए, भारत को एक सशक्त राष्ट्र के रूप मे विकसित होने का भू-राजनीतिक वरदान देती है। एक बात निश्चित है कि भारत का भूगोल आन्तरिक एव वैदेशिक मामलो मे एक महत्वपूर्ण तत्व रहेगा।[12]

आर्थिक स्थितियां ·

शताब्दियों के आर्थिक शोषण ने स्वतत्रता के पूर्व ही भारत को आर्थिक दृष्टि से क्षीण कर दिया था और स्वतत्रता के साथ ही होने वाले भारत विभाजन ने नव-स्वतत्र भारत को आर्थिक मोर्चे पर और अधिक कमजोर बना दिया था। उधर दूसरे विश्वयुद्ध से उत्पन्न आर्थिक सकट से भी भारत का अप्रभावित रहना असम्भव था। इन विपरीत परिस्थितियों मे भारत की स्वतत्रता के बाद भारत का लक्ष्य स्वाभाविक रूप से तीव्र गति के साथ अपना आर्थिक प्रश्न पुनर्निर्माण करना था। किसी भी देश की विदेशनीति की मुख्य योजना उस देश के आन्तरिक उद्देश्यों और राज्य की नीतियों को अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश मे रखने की ही ी है। भारत जैसे निर्धन राष्ट्र को आर्थिक विकास का लक्ष्य सामने रखना था। जब विकास के लक्ष्य और शैली निर्धारित की जाती है तो आर्थिक विदेशनीति का एक निर्णायक तत्व होता है।

जहाँ तक भारत के राष्ट्रीय शक्ति सामर्थ्य का प्रश्न है, जनसख्या एव प्राकृतिक सम्पदा की दृष्टि से भारत की प्रभावशाली स्थिति थी। स्वतत्रता की प्राप्ति के बाद भारत की अपनी प्राविधिकी ही विकसित करना थी जो उसे तीव्र आर्थिक विकास प्रदान कर सकती थी, क्योकि प्राविधिकी के उच्च स्तर पर विकास के अभाव मे जनसख्या और प्राकृतिक सम्पदा का कोई उपयोग या महत्व नही था।

भारत को एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप मे उभारने और इस लम्बी प्रक्रिया मे उसकी स्वतत्र विदेशनीति का निर्धारित करने मे भारत की प्राकृतिक सम्पदा वस्तुत एक महत्वपूर्ण तत्व है। अत यह समझा जाना चाहिए कि प्राकृतिक सम्पदा का उचित उपयोग अनेक सहयोगी तत्वो जैसे पूजी, श्रम, सगठन, प्राविधिकी और अपेक्षाकृत नये सामाजिक सस्थान और मूल्यों पर ही निर्भर होता है।[13]

आधुनिक विश्व में कोई भी देश ऐसा नही है जो आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे किसी न किसी सीमा तक उधार ली गई प्राविधिकी पर निर्भर न करता हो। सयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रारम्भिक आर्थिक विकास विदेशी धन और प्राविधिकी पर ही निर्भर था। जापान विदेशी प्राविधिकी पर अधिक और विदेशी पूजी पर कम निर्भर था। सोवियत सघ मे भी जो क्रान्ति से पूर्व विश्व का सबसे बडा पाँचवा औद्योगिक देश था, बोलशेविक क्रान्ति के बाद भी तकनीक उधार लेता रहा। चीनी आर्थिक समृद्धि मे भी रुसी तकनीक एव पूजी सहायक रहे। यह आश्चर्यजनक कदापि नहीं कि भारत अपने आर्थिक विकास के आरम्भिक दशकों में विदेशी पूजी व तकनीक पर निर्भर रहता।[14]

भारत आर्थिक अस्त-व्यस्तता की स्थिति मे विदेशी सहायता के लिये विवश भी था, इसीलिये उसके विदेशनीति निर्माताओं के सामने यह लक्ष्य था कि भारत की विदेशनीति का निर्माण एव सचालन इस तरह होना चाहिए जिससे वह अधिकाधिक विदेशी पूँजी एव प्राविधिकी प्राप्त कर अपने आर्थिक विकास की निश्चित आकार एव गति प्रदान कर सके। इसी द्रुत आर्थिक विकास को एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय लक्ष्य के रुप में स्वीकारने और आर्थिक स्वरुप के हमारे द्वारा स्वीकारे गये प्रजातात्रिक राजनीतिक ढाँचे के साथ राज्य आयोजना के आर्थिक प्रतिमान के कारण ही हमारी विदेशनीति ने अर्थोन्मुखी रुप ग्रहण किया है।[15]

स्वतत्रता के समय द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर विश्व राजनीति ने विश्व को दो शक्तिशाली गुटों में विभाजित कर दिया था। इन दोनो गुटो मे शीतयुद्ध जारी हो चुका था। शीतयुद्ध के कारण एक स्त्रोत से सहायता प्राप्त करना दूसरे सहायता-स्त्रोत के रोष का कारण बन सकता था। यह जानना आवश्यक था कि कौनसी नीति-विशेष से विदेशी सहायता के परिमाण और गुण मे वृद्धि होगी।[16]

इसीलिये इन आर्थिक स्थितियों का प्रभाव भारत की विदेशनीति पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। एक ओर भारत की क्षीणतम आर्थिक स्थिति साथ ही विशाल भू-भाग, जनसख्या एव प्राकृतिक सम्पदा के कारण उसके विकास की सम्भावनाए, दूसरी ओर विश्व का मौजूदा राजनैतिक स्वरुप, पूर्व और पश्चिम में विश्व राजनीति का सोवियत सघ एव अमेरिका द्वारा गुट निर्माण के माध्यम से सचालन और शीतयुद्ध की स्थिति आदि तत्वों का यह प्रत्यक्ष प्रभाव हमारी विदेशनीति पर स्थापित हुआ। यह कहा जा सकता है कि इसीलिये भारतीय विदेशनीति में असलग्नता के चिन्तन का समावेश हुआ। भारत की स्वतत्रता के पूर्व से ही भारत के ब्रिटेन से सम्पर्क-सूत्र जुडे हुए थे। नेहरु द्वारा स्वतत्रता के पश्चात् भी राष्ट्र-मण्डल में सम्मिलित होने का निर्णय उनकी आर्थिक दूरदर्शिता का ही मुख्य परिणाम था। वे जानते थे कि राष्ट्र-मण्डल की सदस्यता नव-स्वतत्र भारत को आर्थिक मोर्चे पर मदद करने मे सहायक होगी। भारतीय सविधान सभा में 16 मार्च, 1949 को अपने भाषण में नेहरु ने कहा था कि भारत का राष्ट्र मण्डल में सम्मिलित होने

का निर्णय भारत के लिये लाभप्रद होगा।[17]

इसमें कोई सन्देह नही था कि आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रो मे सहयोग का लाभ तो भारत को था ही, शिक्षा, राजनय और सुरक्षा की दृष्टि से भी यह भारत के लिये लाभप्रद था। मुख्य उद्देश्य निश्चय ही आर्थिक मोर्चे पर ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल समुदाय से स्वतत्रता के बाद तत्काल सहायता प्राप्त करना था।[18]

राजनीतिक परम्पराएं .

विदेशनीति के निर्धारण में प्राचीन एव नवीनतम राजनीतिक परम्पराओ का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। विशेष रूप से भारत जैसे देश के लिये इसका महत्व और भी अधिक था क्योंकि आदर्शो पर आधारित सशक्त राष्ट्रीय आन्दोलन के माध्यम से सुदीर्घ उपनिवेशवाद से मुक्ति के प्रयास किये गये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन पर भारत के पुनर्जागरण आन्दोलन का प्रभाव था। राष्ट्रीय चेतना के इन कुछ विशिष्ट पक्षों का भारतीय विदेशनीति का प्रत्यक्ष प्रभाव स्थापित हुआ।

जहा तक भारत की शास्त्रीय राजनीतिक परम्परा का प्रश्न है, यहा मुख्यत दो धाराए भारतीय इतिहास से प्रवाहित हुई हैं। एक कौटिल्य की यथार्थवादी राजनीतिक विचारधारा तथा दूसरी सम्राट अशोक की आदर्शवादी चिन्तनधारा, जिस पर बुद्ध का प्रभाव था।

भारत की प्राचीन अहिंसात्मक मूल्यों पर आधारित परम्परा का बहुमुखी प्रभाव भारत की राजनीति के प्रति आदर्शात्मक दृष्टिकोण मे पडा। गाधी के नेतृत्व म जब भारतीय स्वतत्रता के प्रयास हुए तो गाधी ने राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय दोनो ही पहलुओ पर शक्ति की राजनीति का विरोध करते हुए अहिसा की शक्ति पर विशेष बल दिया गया। उनके अनुसार केवल अहिसा की शक्ति ही वाछनीय थी। वे अहिंसा की शक्ति को अणुबम की शक्ति से अधिक प्रभावशाली मानते थे। एक अकेला व्यक्ति भी अगर शुद्धत एव पूर्णत अहिंसक है तो वह पूरे साम्राज्य को चुनौती दे सकता है। यही उनकी मान्यता थी और उन्होंने ऐसा ही किया। ब्रिटिश सत्ता को अहिंसात्मक सत्याग्रह आन्दोलनो से असहाय एव फिर समाप्त कर देने का गाधीजी का भारतीयों को सदैव आह्वान रहा करता था। विश्वयुद्ध के समय तो वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को यह परामर्श दे रहे थे, कि यदि जर्मनी या जापान भारत पर आक्रमण करते हैं जो अहिंसात्मक प्रतिरोध के लिये तैयार रहना चाहिए।

राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति इस आदर्शवादी दृष्टि से गाधी के अतिरिक्त आधुनिक भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक श्री अरबिन्दु ने भी अपना चिन्तन प्रस्तुत किया। रवीन्द्र नाथ टैगोर भी इसी परम्परा के विचारक थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अहिंसा को केवल एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नही

किया वरन् राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल के लिये अहिंसात्मक साधनों की नीति चलाने पर बल दिया। भारत के सविधान के नीति निर्देशक तत्वों में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शातिपूर्ण समाधान की बात स्वीकार की गई। नेहरू एव दूसरे नीति निर्माता जो भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के अहिंसात्मक आन्दोलन मे गाँधीजी के नेतृत्व में सक्रिय रहे थे, वे भी यद्यपि जब भारत के प्रधान मत्री बने तो उन्होंने स्वीकार किया था कि पूर्णत आदर्श होना सम्भव नही था तथा भारतीय राष्ट्रीय हित के यथार्थवादी तत्वों को वे विदेशनीति के निर्माण मे महत्वपूर्ण कारक मानते थे, किन्तु उन्होंने भी पूरी शक्ति के साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति पूर्णत यथार्थवादी दृष्टिकोण का आलोचना की थी।[19(1)] और बार-बार भारत की आदर्शवादी राजनीतिक परम्पराओं पर बल दिया था तथा गाँधीजी के अहिंसा एव साधनों की पवित्रता को भारतीय विदेशनीति का महत्वपूर्ण तत्व घोषित किया था।

इसी आदर्श दृष्टिकोण का प्रयोग भारत द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयवाद के लिये किया गया। गाँधी, अरविन्दु, टैगोर और नेहरू ने पूरी शक्ति के साथ 'एक विश्व' के दर्शन को सम्पन्न किया। भारतीय पुनर्जागरण के युग मे राजा राममोहन राय से लेकर विवेकानन्द तक ने सार्वभौमिकतावाद के जिस आदर्श को प्रस्तुत किया था वही आदर्शवाद आधुनिक भारत की अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति, दृष्टि के रूप मे विकसित हुआ। गाँधी, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को अहिंसा की शक्ति के आधार पर स्थापित करने के पक्ष मे थे। उन्होंने एकाकी स्वतत्रता के स्थान पर राष्ट्रों की स्वैच्छिक अन्तरनिर्भरता का विचार प्रस्तुत किया। अरविन्दु ने भी मानवता की एकता को सर्वोपरि रखा।[19(2)] टैगोर ने भी इसी आदर्शवाद पर बल दिया था कि हम भारतीय, विश्व को उस सत्य से परिचित करवा सकते हैं जो न केवल निरस्त्रीकरण को सम्भव बनायेगा वरन् विश्व को शक्ति प्रदान करेगा। यह शक्ति नैतिक शक्ति होगी और सारी मानवता को मुक्ति प्रदान करेगी।

गाँधी, अरविन्दु और टैगोर की तरह भावुक आदर्शवादी नेहरू नहीं थे फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति शुद्धत यथार्थवादी भी नहीं थे। उन्होंने विश्व के सभी शोषित राष्ट्रों की स्वतत्रता की आवश्यकता, स्वतत्रता के पूर्व बतलाई थी। वे एक विश्वसघ की स्थापना को विश्वशाति, सुरक्षा एव प्रगति के लिये आवश्यक मानने लगे थे। जनवरी, 1947 और 14 अगस्त, 1947 को सविधान सभा के समक्ष दिये गए अपने भाषणों में नेहरू ने एक विश्व सघ या सस्था के विचार को पूरी शक्ति के साथ रखा।[20]

इस तरह हम देखते हैं कि भारत की राजनीतिक परम्पराओं के आदर्शवादी तत्वों का प्रभाव भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस पर एव राष्ट्रीय आन्दोलन पर तो हुआ ही, इन्हीं आदर्शवादी तत्वों ने भारत को विश्वदृष्टि भी प्रदान की। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के प्रति समर्पित भारत के प्रथम प्रधानमत्री नेहरू पर इन परम्पराओं का गहरा प्रभाव था। वही प्रभाव भारतीय विदेशनीति पर भी पडा।

भारत की यह मानवतावादी नीति एव उदार अन्तर्राष्ट्रीय नीति उसकी परम्पराओं, उसकी आवश्यकताओं एव उसके स्थान के कारण ही विकसित हुई है। नेहरू ने राष्ट्रीय और उपमहाद्विपीय आवश्यकता के रूप में यह नीति अपनाई। शान्ति, स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र, प्रगति आदि के प्रति गहरी आस्थाओ ने भारत को सम्पूर्ण विश्व के शोषित, पीडित देशों के प्रति चिंतित किया था।

आन्तरिक वातावरण

किसी भी देश की विदेशनीति उसकी आन्तरिक स्थितियों को निश्चय ही प्रतिबिम्बित करती है। आन्तरिक वातावरण और विदेशनीति की अन्त सबद्धता को नकारा नही जा सकता। यद्यपि जिस भौगोलिक स्थिति, आर्थिक विकास एव राजनीतिक परम्पराओ की चर्चा विदेशनीति पर प्रभावक स्रोतो के रूप मे पिछले पृष्ठों मे की है वह सब भी आन्तरिक वातावरण के महत्वपूर्ण घटक है, किन्तु इसके अतिरिक्त भी भारतीय विदेशनीति पर शासक अभिजन, राष्ट्र निर्माण की समस्या और दलीय ढॉचे का भी प्रभाव स्थापित हुआ है। ये तीनों कारक भी आन्तरिक वातावरण पर प्रभावशाली रूप से हावी रहे है इसीलिये विदेशनीति का स्वरूप निर्धारित करने मे इन्होंने अपनी प्रभावशाली भूमिका निभाई है।

भारत के एक स्वतन्त्र देश मे उदय के साथ ही यहा तीन सत्ता-अभिजन प्रभावी हुए। राजनीतिक नेतृत्व (राजनीतिक कार्यपालिका सहित), स्थाई नागरिक सेवा के अधिकारी तथा सैनिक अधिकारी वर्ग। इन तीनो मे भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के नेता अपने विदेशनीति सम्बन्धी दृष्टिकोण मे पूर्णत भारतीय थे तथा इनका भारतीय विदेशनीति के सन्दर्भ मे सुनिश्चित मत विकसित हुआ था। जैसा कि हम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विदेशनीति सम्बन्धी विचारो के वर्णन मे स्पष्ट कर चुके हैं। महात्मा गॉधी के नेतृत्व मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सम्पूर्ण राष्ट्र के विभिन्न सामाजिक वर्गो के एक मच के रूप म स्थापित सस्था थी। इस विशाल दल के नेताओ ने सर्वानुमति से कार्य करने की शैली विकसित की थी। इसी व्यवहारिक दृष्टिकोण का प्रभाव विदेशनीति पर पड़ा। कॉंग्रेस ने अपने जन्म के समय से ही स्वतत्रता सग्राम के अपने अनुभवो एव ऐतिहासिक परम्पराओ को दृष्टिगत रखते हुए विदेशनीति सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किये थे। इसलिये विभिन्न सामाजिक श्रेणियों के राजनीतिक अभिजनो ने राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के उग्र ध्रुवीकरण का विचारधारा या शक्तिगुट के आधार पर निर्माण करने के प्रयास का हर सम्भव विरोध करते हुए स्वतत्र विश्वदृष्टि को विकसित किया।

जहा तक अधिकारी वर्ग एव सैन्य अधिकारी वर्ग के विदेशनीति पर प्रभाव का प्रश्न है, उल्लेखनीय है कि भारत के राजनीतिक नेतृत्व न मुख्य रूप से अधिकारी वर्ग के दृष्टिकोण को विकसित नहीं होने दिया। भारतीय नागरिक सेवा का यह वर्ग शुद्धत ब्रिटिश सस्कारों से सुसज्जित था। इस वर्ग ने ब्रिटिश साम्राज्य को सुरक्षित रखने मे तथा भारत

के स्वतन्त्रता सग्राम को कुचलने मे कोई कसर बाकी नही रखी थी। स्वतन्त्रता के बाद भी यह वर्ग अपने को पश्चिमी सभ्यता एव पश्चिमी देशों के अधिक निकट अनुभव करता था किन्तु नेहरु के जादुई प्रभाव से विदेशनीति निर्माण पर कोई विशेष प्रभाव इस वर्ग का नहीं हो पाया फिर भी अगर वैदेशिक सेवाओ में इनकी नियुक्ति से भारतीय विदेशनीति का सही प्रतिनिधित्व नहीं हो सका। यह एक भूल थी।[21]

इसी तरह सैनिक अधिकारियो की उदासीनता से भी प्रारम्भ मे भारत को क्षति हुई। इस वर्ग ने स्वतत्रता के बाद भी बदली हुई सामयिक स्थिति पर कभी गम्भीरतापूर्वक या उत्तरदायित्वपूर्ण विचार नही किया जबकि भारतीय उपमहाद्वीप से ब्रिटिश शासकों की वापसी एव दक्षिण एशिया के निकट चीन का एक शक्ति के रुप में उदय हो चुका था। नयी भू-राजनीतिक अनिवार्यताओं के परिप्रेक्ष्य मे उन्होंने भारतीय सेनाओ के पुनर्गठन या पुनर्निर्माण की आवश्यकता को कभी अनुभव नहीं कराया जबकि उत्तरी क्षेत्र पर एव दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में युद्ध की नई तकनीके विकसित हो रही थी। हमारे सैनिक पहाडों पर युद्ध की तकनीक से अनभिज्ञ थे। इसके विपरीत सैनिक असफलताओं का दोष राजनीतिक नेतृत्व पर मढ़ने का कार्य यह ब्रिटिशकालीन सैन्य नेतृत्व करता रहा। यह स्वीकार किया जा सकता है कि राजनीतिक नेतृत्व द्वारा समुचित सामयिक चिन्तन का अभाव 1962 की पराजय का एक कारण था किन्तु इसके भी कोई प्रमाण नहीं मिलते कि प्रारम्भ में ही भारतीय सैन्य अधिकारियों ने इस दिशा में रुचि दिखाई हो। इसके अतिरिक्त उच्च सैन्य अधिकारियों एव साधारण सैनिकों के बीच की वर्ग चरित्र जनित खाई भी एक दुर्भाग्यपूर्ण पहलू थी।

बदले हुए परिवेश में नये सामयिक चिन्तन की अपरिहार्यता के अभाव ने भारतीय विदेशनीति पर आगे चलकर विपरीत प्रभाव डाला।

राजनीतिक, प्रशासनिक और सैन्य अभिजन की इस प्रारम्भिक पीढ़ी के दृष्टिकोण एव सस्कारों के बाद की पीढ़ी के दृष्टिकोण एव सस्कारो से स्वाभाविक रुप से भिन्न हुए। स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय की पीढ़ी की आदर्शवादी मान्यताए नई पीढ़ी को उसी रुप में प्रभावित नहीं कर सकीं, इसीलिये विदेशनीति के क्रियान्वयन में हम नेहरु, शास्त्री और फिर इन्दिराजी के दृष्टिकोण में आदर्श और यथार्थ के समीकरणों का अन्तर अनुभव करते हैं।

इसी तरह अब वह अधिकारी वर्ग एव सैन्य अभिजन भी अस्त हो चुका है जो ब्रिटिश हितों का रक्षक रहा था। इसीलिये सत्ता अभिजन के इन दोनों वर्गो ने भी अपने उत्तरदायित्वों को समझा है। इसी कारण भारत ने पिछले दो दशकों में अपनी स्थिति को बेहतर बनाया है।

सत्ता अभिजन के अतिरिक्त आन्तरिक वातावरण में दूसरा कारक राष्ट्र निर्माण है। राष्ट्र निर्माण की पहली आवश्यकता यह है, कि आधुनिक राज्य राजनीतिक, प्रशासनिक,

आर्थिक और सैनिक आधार पर शक्ति एव स्थिरता प्राप्त करें। भारत मे रियासतो के विलीनीकरण, लोकतत्र की सस्थाओं का अपेक्षाकृत बेहतर क्रियान्वयन स्थाई प्रशासनिक यत्रों की स्थापना, आर्थिक नियोजन के माध्यम से औद्योगिक विकास और बाद में शक्तिशाली सेनाओ के निर्माण के माध्यम से भारत ने अन्य किसी नये देश की तरह राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक और सैनिक क्षेत्रो मे पर्याप्त सफलता प्राप्त की तथा राष्ट्र निर्माण के पहले चरण को पार किया। वास्तव मे आन्तरिक क्षमता और क्रमिक विकास की तीव्र गति के कारण ही नेहरू-युग मे भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के निर्धारण मे पर्याप्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। किन्तु आज भी भारतीय राज्य व्यवस्था क्षेत्रीय, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एव सास्कृतिक रूप मे पूर्णत एकीकृत और सगठित नही हुई है। इसी सामान्य अभाव का प्रभाव जो हम राष्ट्र निर्माण के क्षेत्र मे अनुभव करते हैं, हमारी विदेशनीति को प्रभावित करता है।

तीसरा और महत्वपूर्ण आन्तरिक कारक भारत के राजनीतिक दल है। मुख्यत स्वतत्रता के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस लगातार तीन दशको तक सत्ता मे बनी रही।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस मे विदेशनीति के प्रश्न पर स्वतत्रता आन्दोलन के समय से ही सर्वानुमति रहा करती थी। इस सर्वानुमति मे नेहरू की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी। स्वतत्रता के बाद भी नेहरू युग मे सर्वानुमति पर आधारित विदेशनीति निरन्तर रूप से सचालित हुई। मुख्य कारण यह था कि कांग्रेस सगठन मे सभी तरह के विचारधाराओं से प्रभावित नेता थे। पश्चिमी मूल्यो एव राजनीतिक विचारों के प्रति आस्था रखने वाले भी थे तो पूर्वी देशों की साम्यवादी और समाजवादी मान्यताओ से प्रभावित नेता भी थे। तीसरी श्रेणी मध्यमार्गियो की थी। कांग्रेस के लिये यही उचित था कि न वह पूरब की उग्र विचारधारा से जुडे न पश्चिम की। इसलिये उसने नेहरू के नेतृत्व मे असलग्नता का रास्ता खोजा। इस प्रक्रिया मे निश्चय ही नेहरू के वैयक्तिक चिन्तन का प्रभाव अधिक था।[22]

कांग्रेस के अतिरिक्त भारत मे साम्यवादी दलो ने भी भारतीय विदेशनीति पर प्रभाव डाला है। रूस-चीन मतभेद से पूर्व भारत के साम्यवादी आन्दोलन मे एकता थी और यह दबाव समूह भारतीय विदेशनीति पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालता था। नेहरू का साम्यवादी रुझान भी यद्यपि एक महत्वपूर्ण कारक था,इसीलिये विभाजन के पूर्व इन दलो ने रूस एव चीन के विरोध मे अधिक निर्भीक स्वर व्यक्त नही होने दिये। साम्यवाद की टूटन के बाद रूस समर्थित भारतीय साम्यवादी दल ने सकल्प किया कि वह भारतीय सरकार की आन्तरिक एव विदेशनीति का समर्थन करेगी।

दूसरे वामपथी दल जिनमें समाजवादी, प्रजासमाजवादी आदि दल सम्मिलित हैं ने भी भारतीय विदेशनीति के कुछ पहलुओं पर सिद्धान्त रूप में अपना विरोध एव असहमति प्रकट की तथा सरकार पर राष्ट्रीय एव स्वतत्र विदेशनीति के क्रियान्वयन हेतु दबाव डाला। ये दल राष्ट्र मण्डल की सदस्यता, नेहरू की चीन, तिब्बत एव हगरी नीति आदि के विरोधी

थे तथा भारत के स्वतन्त्र दृष्टिकोण की बात करते थे।

भारतीय जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी देश की दक्षिणपथी पार्टियां थीं। भारत के सभी दलों में जनसंघ उग्र राष्ट्रवादी दल था। यह एक साथ रूस एवं चीन के साम्यवाद का मुखर विरोधी, पाकिस्तान का कठोर शत्रु, भारत के अरब-जगत के प्रति मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण का विरोधी तथा भारत की रक्षा-नीति से अपने उग्र स्वभाव के कारण असहमत रहा। यह आणविक शक्ति के विकास का खुला समर्थन करने वाला दल था। यह तय है कि भले ही जनसंघ की इन उग्र बातों को सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार न किया हो किन्तु भारतीय विदेशनीति पर जनसंघ के अप्रत्यक्ष प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती।[23]

स्वतन्त्र दल मुख्यतः पश्चिमी जगत से प्रभावित दल रहा है। यह भारत-पाक सम्बन्धों की निकटता का भी सशक्त पक्षधर दल था किन्तु इस दल का राष्ट्र की धारा में कोई विशेष अस्तित्व न होने से यह विदेशनीति पर अपनी गहरी छाप नहीं छोड़ सका।

उपरोक्त समस्त तथ्य स्पष्ट करते हैं कि भारत के आन्तरिक दलीय ढांचे का भारतीय विदेशनीति पर गहरा प्रभाव हुआ है। वैसे यह भी तय है कि भारत जैसे विकासशील देश की विदेशनीति विभिन्न राष्ट्रीय दलों के बीच राष्ट्रीय सहमति के आधार पर निर्मित की जानी चाहिए तभी भारत का राष्ट्रीय विकास एवं निर्माण सम्भव है और यह कहा जा सकता है कि भारतीय विदेशनीति के मुख्य सिद्धान्त और व्यवहार राष्ट्रीय सहमति लेकर ही क्रियान्वित होते हैं।

यहाँ हमने आन्तरिक वातावरण के तीन महत्वपूर्ण कारक सत्ता अभिजन, राष्ट्र निर्माण की समस्या तथा दलीय ढाँचे के भारतीय विदेशनीति पर प्रभाव की चर्चा की जिससे स्पष्ट होता है कि भारतीय विदेशनीति का जो भी स्वरूप निर्धारित हो रहा था, उसमें इतिहास, भूगोल, आर्थिक स्थितियां, राजनीतिक परम्पराओं आदि के साथ ही आन्तरिक परिस्थितियों के इन विभिन्न कारकों की भी प्रभावशाली भूमिका थी। अब हम किसी भी राष्ट्र की विदेशनीति को अस्थाई रूप से किन्तु प्रभावी तरीके से निर्धारित करने वाले कारक की चर्चा करेंगे, वह है अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां

अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर तकनीकी प्रगति के चयन प्रभाव एवं राष्ट्र राज्यों का राजनीतिक विकास कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कारक हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को गतिशील चरित्र प्रदान करते हैं तथा गतिशील चरित्र की इस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में ही किसी राष्ट्र को अपने विदेश सम्बन्धों का निर्धारण करना होता है। इसीलिये तार्किक रूप से एक बड़ी सीमा तक किसी राष्ट्र की विदेशनीति किसी भी युग में उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से नियंत्रित एवं प्रभावित होती है। एक अर्थ में तो बदलते हुए विश्व-चक्र में विदेशनीति पर ही

नहीं, आन्तरिक नीतियों पर भी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितिया प्रभाव डालती हैं। विदेशनीति पर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो का यह प्रभाव पहले की अपेक्षा अब और अधिक तीव्र रूप मे पडता है।

भारत जैसे विशाल आकार एव जनसख्या वाले राष्ट्र के लिये तो यह और भी *असम्भव है कि वह विश्व राजनीति से अलग हटकर अपना विकास करे।* मुख्य रूप से इसलिये कि शताब्दियों की आन्तरिक टूटन एव शोषण के बाद भारत ने स्वतत्रता प्राप्त की थी। भारत का प्रमुख लक्ष्य स्थायित्व प्राप्त करते हुए अपना आर्थिक पुनर्निमाण करना था। यह उद्देश्य प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सक्रिय भूमिका निभाना उसकी राजनीतिक आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त भौगोलिक स्थिति मे भी उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय रहने के लिये प्रतिबद्ध करती है। फिर भारत के कारण विश्व क कई देशों पर तत्कालीन उपनिवेशवादी, साम्राज्यवादी शक्तियो ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। इसलिये भारत की इन दशों के प्रति सवेदना भी स्वाभाविक थी। पराधीन दशा क स्वतत्रता आन्दोलनो का समर्थन करना तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वतत्रता के पूर्व ही प्रारम्भ कर दिया था तथा अपनी भावी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का पूर्वाभास दे दिया था।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ही विश्व राजनीति मुख्यत सैन्य सामर्थ्य और सैनिक गुटो पर आधारित होती थी इसलिये गिन-चुन राष्ट्रो द्वारा ही विश्व के मानचित्र पर प्रभुत्व-स्थापना का प्रयास चलता रहता था। शेष विश्व क देश या तो इन युद्धप्रिय और साम्राज्यवादी शक्तियो के शिकार थे या फिर इतने कमजोर थे कि उनकी भूमिका नगण्य रहा करती थी। यूरोप की कुछ शक्तिया विश्व राजनीति की कर्ता-धर्ता बनी हुई थी।

लेकिन द्वितीय महायुद्धोत्तर विश्व मे घटने वाली कुछ घटनाओ तथा उभरने वाली नवीन राजनीतिक प्रवृत्तियों ने विश्व राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद विश्व मे अमेरिका एव सोवियत सघ के रूप मे दो महाशक्तियों का अभ्युदय एव द्विध्रुवी विश्व राजनीति का प्रारम्भ अपेक्षाकृत स्थिर एव आशिक रूप से प्रभावशाली विश्व-सस्था, सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना, आणविक युग का सूत्रपात, ऐतिहासिक साम्राज्यवादी एव उपनिवेशवादी शक्तियों का पराभव, एशियाई-अफ्रीकी महाद्वीपो मे सैन्य-दृष्टि से कमजोर लेकिन चेतना स भरपूर नये स्वतत्र राष्ट्रों का प्रादुर्भाव आदि घटनाओ ने समूचे अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य को नया रूप प्रदान कर दिया जिसमे राष्ट्रो को अपनी भूमिका तय करनी थी।

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इस क्रान्तिकारी रुपान्तरण से प्रत्येक देश की विदेशनीति प्रभावित नहीं हुई किन्तु फिर भी कई राष्ट्र अपनी नई अन्तर्राष्ट्रीय आकाक्षाओ के साथ विश्व-मच पर प्रकट हुए।

ब्रिटेन के साम्राज्यवाद के विरुद्ध आन्दोलन के दिनों मे ही भारत अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति अप्रत्यक्ष रूप से विकसित कर रहा था। महायुद्ध के बाद विश्व राजनीति के अद्भुत

शक्ति-सघर्ष के दृश्य का भारतीय विदेशनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा। भारत ने इस शक्ति-सघर्ष के समक्ष समर्पण करने की अपेक्षा अपनी नैतिक अहिंसात्मक मान्यताओं के आधार पर इसे चुनौती देते हुए अपनी भूमिका तय की।

भारत ने अपने समक्ष प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों मे से ही विदेशनीति के लिये एक सार्थक विकल्प खोजा। इस विकल्प की चर्चा करने से पूर्व हम उन अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियो का क्रमवार विश्लेषण करेगे जो स्वतत्रता प्राप्त करने के तत्काल बाद भारत के सामने विद्यमान थी।

महाशक्तियों के मध्य शीतयुद्ध एव शक्ति की राजनीति भारतीय स्वतत्रता के समय अथवा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण विश्व को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रही थी। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत सघ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी महाशक्तियों के रूप मे प्रकट होकर विश्व-मच पर हावी थे। 1947 तक अन्तर्राष्ट्रीय जगत् द्विध्रुवी शक्तियों मे विभाजित हो गया तथा शीतयुद्ध की स्थिति निर्मित हो गई। अमेरिका एव सोवियत सघ विश्व की पेचीदी, सघर्षपूर्ण राजनीति में राजनैतिक, सैनिक, आर्थिक, कूटनीतिक, वैचारिक, सास्कृतिक और वैज्ञानिक शक्तियों का उपयोग अपने पक्ष मे सतुलन बनाने और सम्पूर्ण सघर्ष को तैयारी करने में करने लगे। इन महाशक्तियो ने यूरोप के राज्यो को ही नहीं वरन् एशिया-अफ्रीका के नव-स्वतत्र राष्ट्रो को भी फुसलाते हुए या भय अथवा लालच दिखाकर शीतयुद्ध के भवर में उलझाना प्रारम्भ कर दिया। चीन के गृहयुद्ध में साम्यवादी सेनाओ की विजय तथा चीन में शक्तिशाली सरकार की स्थापना ने शीतयुद्ध को और अधिक तीव्र रूप प्रदान कर दिया क्योकि चीन सोवियत सघ से वैचारिक, राजनीतिक, सैनिक और भौगोलिक रूप से बहुत निकट था। चीन के उदय से अमेरिका को सोवियत सघ के और अधिक शक्तिशाली हो जाने का अहसास हुआ। प्रतिक्रिया स्वरूप नाटो, सीएटो और सेन्टो जैसे सैन्य सगठनों का जन्म सोवियत साम्यवाद के प्रभाव को नियत्रित करने के लिये हुआ। सोवियत सघ ने पूर्वी यूरोप के देशों के साथ वारसा संधि की। इनके अतिरिक्त भी इन महाशक्तियों ने अनेक द्विपक्षीय सैन्य सधियों पर हस्ताक्षर किये।

विश्व राजनीति की इस वास्तविकता से नव-स्वतत्र भारत का साक्षात्कार हुआ। अब भारत के समक्ष दो ही विकल्प थे जिनमें से अपने दूरगामी राष्ट्रीय हितो को दृष्टिगत रखते हुए भारत को कोई एक विकल्प चुनना था। पहला विकल्प तो यह था कि भारत शक्ति की राजनीति के तत्कालीन खेल मे सक्रिय भाग लेने की इच्छा रखकर, शीतयुद्ध मे उतर जाए तथा सैनिक गठबन्धनों का सदस्य बनकर हाल ही में प्राप्त प्रभुसत्ता को एक हद तक समझौते के माध्यम से किसी एक शक्ति के समक्ष समर्पित कर दे। ऐसा करने पर निश्चय ही तीसरे विश्वयुद्ध की स्थिति निर्मित हो जाती क्योकि भारत शक्ति सतुलन को अस्त-व्यस्त कर देता।

दूसरा विकल्प यह था कि भारत स्वय को द्विध्रुवीय सघर्ष से पृथक् रखकर अपनी नव-स्वतत्रता एव सप्रभुता को सुरक्षित बनाये रखे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतत्र भूमिका का निर्वाह करते हुए अपने आन्तरिक राजनीतिक एव आर्थिक विकास के प्रति गम्भीरतापूर्वक ध्यान देते हुए देश का पुनर्निमाण करे व विश्व में तनाव कम करने एव सघर्ष पर नियत्रण करने के लिये सयुक्त राष्ट्र सघ के भीतर एव बाहर अपनी भूमिका का निर्वाह करे।

यह तय था कि इसके अतिरिक्त और कोई बेहतर और स्पष्ट विकल्प नही था। तटस्थ रहकर विश्व के प्रति उत्तरदायित्वों से अलग कट जाना, तीसरा विकल्प हो सकता था किन्तु राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिये वह तो लेशमात्र भी साधन नही बन पाता।

प्रथम दोनों में से जो भी विकल्प भारत चुनता, वह निश्चय ही न केवल भारत के लिये वरन् एक हद तक सम्पूर्ण विश्व के लिये विपरीत रूप में ही प्रभावकारी होता।

अस्तु, भारत ने अपने राष्ट्रीय हितों (सुरक्षा, राष्ट्रीय-विकास एव विश्व-व्यवस्था) की प्राप्ति के लिये तथा अपनी भौगोलिक, आर्थिक विकास, राजनैतिक परम्पराओ एव आन्तरिक स्थितियो के प्रभाव स्वरूप तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियो मे दूसरे विकल्प को ही अपने विदेशनीति का आधार बनाते हुए शक्ति की शीतयुद्धकालीन राजनीति से अपने को पृथक् कर लिया। न वाशिंगटन के आकर्षण को स्वीकार किया, न मास्को के।

स्वतत्रता के पूर्व ही अपनी इस भावी भूमिका को भारत के प्रधानमत्री श्री नेहरू ने राष्ट्र के नाम प्रसारित अपने एक महत्वपूर्ण सन्देश में (7 सितम्बर, 1946 को) ही स्पष्ट कर दिया था। श्री नेहरू ने कहा था, कि "हम अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशनों मे एक स्वतत्र राष्ट्र की हैसियत से भाग लेगें हमारी नीतिया स्वय की निजी ही होंगी।नीति निर्धारण के विषय में हम किसी राष्ट्र के पिछलग्गू नहीं बनेंगे। हम आशा करते है कि अन्य राष्ट्रों के साथ हमारे सीधे और मैत्रीपूर्ण सबध रहेगे। हम विश्व शान्ति और मानवीय स्वतत्रता के विकास में हम अन्य राष्ट्रों के साथ सहयोग देकर उनकी सहायता करेंगे।[24]

इसी ऐतिहासिक नीति के सदर्भ मे उन्होंने कहा था, "हम यह प्रस्ताव करते हैं कि हम यथाशक्ति, शक्ति सतुलन की गुटटबाजी से दूर रहेंगे, ऐसे ही राष्ट्र जिन्होंने एक दूसरे के विरुद्ध विगत विश्वयुद्ध छेड़ा था और अपनी ताकत बढा कर उससे भी अधिक विनाशकारी विश्व युद्ध छेड़ने की परस्पर होड कर रहे है।[25]

स्वतत्रता की प्राप्ति से पूर्व ही नेहरू द्वारा प्रकट किया गया यह नीति मन्तव्य स्पष्ट करता है कि भारत महाशक्तियों की शक्ति-स्पर्धा के सन्दर्भ मे पूर्णत सचेत था। भारत के राष्ट्रीय हितो की रक्षा एव वृद्धि के लिये यही एक-मात्र उपयुक्त विकल्प था। भारत अपने कटु अनुभवो के कारण साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एव प्रजातिवाद को किसी भी रूप मे स्वीकार नही कर सकता था। पश्चिमी गुट, इन्हीं प्रवृत्तियों का नया सस्करण था। दूसरी ओर अपनी राष्ट्रीय स्वतत्रता का सघर्ष भी जिस देश ने अहिसात्मक शैली में लड़ा हो

उसके लिये हिंसक शैली के साम्यवाद का वरण करना भी असम्भव था। और फिर भारत की मूल आस्था विश्वशांति में थी। विश्वशांति के लिये सम्पूर्ण शक्ति के साथ अपनी भूमिका तय करने के लिये इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प शेष नहीं था। इसके साथ ही भारत अपनी तरह उन पराधीन उपनिवेशों का भाग्य निर्धारण भी करना चाहता था जो तत्कालीन साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी शक्तियों के नियत्रण से मुक्त होकर स्वतत्र जगत मे अपना अस्तित्व खोजना चाहते थे। इन विद्यमान शक्तियो में शक्ति-प्रतिस्पर्धा से सम्पूर्ण स्वाभिमान के साथ अलग रखते हुए विश्व राजनीति मे अपनी सार्थक भूमिका निभाने के अतिरिक्त कोई श्रेष्ठ विकल्प भारत के पास शेष नहीं था।

महाशक्तियों को शक्ति-राजनीति ही एकमात्र अन्तर्राष्ट्रीय कारक नही थी जिसने भारतीय विदेशनीति पर अपना प्रभाव स्थापित किया। तत्कालीन स्थितियों मे एशिया-अफ्रीका का उदय, विश्व-सस्था का निर्माण तथा हमारे ठीक पड़ौस मे पाकिस्तान एव साम्यवादी चीन का उदय अन्य महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव थे जिसका भारतीय विदेशनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा।

भारतीय स्वतत्रता के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की प्रक्रिया म एशियाई और अफ्रीकि महाद्वीपो मे कई नये राष्ट्रो के उदय का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इन राष्ट्रो के उदय के साथ ही ऐतिहासिक साम्राज्यवाद का ही अन्त नहीं हुआ वरन् 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को नया आकार भी प्रदान किया जो पूर्व की कई शताब्दियो की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से भिन्न था।

इन नव-स्वतत्र राष्ट्रो मे कई बाते सामान्य थी। ये सभी राष्ट्र सैन्य नियत्रण, आर्थिक शोषण एव प्रजातीय भेदभाव से साम्राज्यवादी शक्तियो द्वारा शिकार बनाये गये थे। सभी राष्ट्र आर्थिक रूप से अविकसित थे तथा इन्हे अपना तीव्र आर्थिक विकास करना था। इन राष्ट्रो ने सशक्त राष्ट्रीय स्वतत्रता सग्रामो के माध्यम से स्वतत्रता प्राप्त की थी तथा सैनिक दृष्टि से क्षीण होने के बाद भी ये सभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अपनी प्रभावशाली भूमिका निभाने के आकाक्षी थे। इन राष्ट्रो ने शताब्दियो के शोषण और पराधीनता से मुक्ति प्राप्त की थी इसलिये ये पुन द्विध्रुवीय राजनीति अथवा गुटीय राजनीति के शिकार होने के पक्ष म नही थे न किसी सैन्य सघर्ष के लिय तैयार थे वरन् ये अपनी राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक प्रगति के लिये प्रतिबद्ध थे।

भारत के राष्ट्रीय हितों के लिये चूकि यह आवश्यक था कि सैनिक सगठनो से दूर रहा जाए जिससे तीसरे महायुद्ध को रोका जा सके और चूकि एशिया और अफ्रीका के कई देशो को राष्ट्रीय हितो म भी भारत के साथ समानता थी इसलिये भारत की विदेशनीति मे यह तत्व स्वत विकसित होता गया कि विश्व राजनीति मे अपनी प्रभावशाली भूमिका एशिया अफ्रीका के इन राष्ट्रो को सगठित करके ही निभाई जा सकती है। इन राष्ट्रो की एकता यद्यपि सरलता से सम्भव नही थी फिर भी यह तय था कि इनका समूह

एक ऐसी 'तीसरी शक्ति' का निर्माण कर सकता था जो विश्व राजनीति मे व्याप्त शीतयुद्ध या युद्ध की आशकाओ को दूर कर सके, शाति के क्षेत्र का विस्तार करने में सहायक हो, सघर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर नियत्रण कर सके, साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मचो पर साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद के विरुद्ध मिलजुलकर कार्य करते हुए अपनी सुरक्षा, आर्थिक विकास एव विश्व व्यवस्था के लक्ष्यों को प्राप्त कर सके।

इस दिशा में नेहरू द्वारा स्वतत्रता प्राप्ति से पूर्व ही प्रयास प्रारम्भ किये जा चुके थे। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की विदेशनीति के विश्लेषण मे हमने स्पष्ट किया है कि यह धारा स्वतत्रता आन्दोलन के समय ही विकसित हो रही थी कि एशिया-अफ्रीका के पद-दलित राष्ट्रो के प्रति सवेदना का भाव भारतीय नेताओ के मन मे था। 1927 मे ब्रुसेल्स मे आयोजित पद-दलित राष्ट्रीयताओ के सम्मेलन मे भी नेहरु ने इन राष्ट्रीयताओं की निकटता पर बल दिया था।

23 मार्च, 1947 को नई दिल्ली मे एशियन रिलेशन्स कान्फ्रेन्स का आयोजन भी इसी नीति को विकसित करने के लिये किया गया था। नेहरु ने अपने प्रभावशाली एव विदेशनीति चिन्तन पर आधारित वक्तव्य मे एशिया-अफ्रीका के लिये अपनी नीति स्पष्ट की थी। नेहरु ने कहा था कि--

हम इतिहास के नये मोड पर खडे हैं जहाँ एक युग का अन्त और दूसरे युग की शुरुआत होती है, एक ऐसे जलसभर पर जो कि मानवीय इतिहास का काल विभाजन करता है।यहाँ से हम पीछे मुडकर अपने लम्बे भूतकाल पर एक नजर डाल सकते हैं और उस दीर्घकालीन भविष्य को भी देख सकते हैं जो कि युग निर्माण की करवट बदल रहा है, यह अवसर काफी निश्चलता के बाद अचानक आया है जिसमे कि हम विश्व की गतिविधियों में फिर से अहम भूमिका निभा सकते है।[26]

नेहरु एशियाई देशों में जागृत होने वाली इस चेतना से विशेष रुप से आशावादी थे। उन्होंने एशियाई देशों के इस सम्मेलन के लक्ष्य स्पष्ट करते हुए आशा व्यक्त की थी कि--

इस अधिवेशन और कार्य में कोई न तो किसी का नेता है और न अनुचर, एशिया के सभी देश इस अधिवेशन में समान स्तर के है और अपने सम्मिलित उद्देश्य के लिए बराबरी के स्तर पर सहयोग दे रहे हैं। अब यह अवसर समयानुकूल है जबकि भारत, एशिया को नये विकास के मोड पर लाकर खडा कर दे एशिया के देश पिछडेपन के शिकार है, उनका जीवन स्तर दुनिया की अपेक्षा बहुत ही गिरा हुआ है। हमारी आर्थिक समस्याओं का शीघ्र हल न निकला तो हमे सकट और तबाही जल्दी ही घेर लेगी।"[27]

एशियाई देशों के इस सम्मेलन मे ही नेहरु ने अफ्रीकी देशो के प्रति भी अपनी सवेदना स्पष्ट करते हुए कहा था ---

अफ्रीका की जनता के लिये हम एशिया वासियों की खास जिम्मेदारी है, हमें उन्हें विश्व के माननीय परिवार में उचित स्थान दिलाने के लिये उनकी सहायता करनी चाहिए।

जो स्वतन्त्रता हमे प्राप्त है केवल हम लोगों तक ही सीमित न रहे बल्कि इस स्वतन्त्रता का उपभोग समस्त मानव जाति कर सके हमें ऐसे प्रयास करने चाहिये।[28]

एशिया-अफ्रीका के लिये भारत की ओर से व्यक्त किये गये नेहरू के ये विचार स्पष्ट करते है कि भारतीय विदेशनीति के निर्माण में इन महाद्वीपों के देशों की तत्कालीन स्थिति की बहुत प्रभावशाली भूमिका थी। शक्ति-स्पर्धा की तत्कालीन स्थितियो मे नेहरू ने तीसरा दुनिया की शक्ति का सही आकलन किया था।

एशिया-अफ्रीका के नये राष्ट्रों के उदय के साथ ही द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका के बाद मानवता को अक्षुण्ण रखने के उद्धेश्य से सयुक्त राष्ट्र की स्थापना हुई थी। यह विश्वसस्था भारत की अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति विकसित होने वाली चिन्तन परम्परा के अनुकूल थी। भारतीय विचारकों ने तो एक विश्व दर्शन प्रस्तुत किया था। इस विश्वसस्था के उदय का भी भारतीय विदेशनीति पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। सयुक्त राष्ट्र को यथोचित सम्मान देना भारतीय विदेशनीति की उसके राष्ट्रीय हितों के कारण आवश्यकता थी। अपने राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय हितों व उद्धेश्यों की प्राप्ति के लिये भारत इस विश्वसस्था का उपयोग कर सकता था। तनाव के विश्वव्यापी वातावरण मे सयुक्त राष्ट्र ही आशा की किरण था जो पूर्व की शताब्दी की अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता पर अपना नैतिक नियन्त्रण स्थापित कर सकता था।

सैन्य दृष्टि से कमजोर राष्ट्र होने के बाद भी भारत इस मच के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सक्रिय भूमिका निभाते हुए आर्थिक, तकनीकी हितों की रक्षा कर सकता था। विश्व में शाति की स्थापना भारत की विदेशनीति के प्रमुख लक्ष्यों मे से एक था तथा यही लक्ष्य सयुक्त राष्ट्र सघ का भी था। इसी कारण सयुक्त राष्ट्र की स्थापना न केवल भारतीय विदेशनीति पर प्रभाव डालती है वरन् भारत के अन्तर्राष्ट्रीय भविष्य के लिये भी अप्रत्यक्ष रुप से सहायक हो सकती थी।

भारतीय विदेशनीति पर जिन अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों ने प्रभाव स्थापित किया उनमे भारत के पडौस मे दो राष्ट्रों का उदय भी सम्मिलिति हैं – एक राष्ट्र पाकिस्तान -- जिसका जन्म दीर्घ साम्प्रदायिक वैमनस्य के परिणामस्वरुप भारत के विभाजन से ही सम्भव हुआ था, तथा दूसरा राष्ट्र चीन -- जो माओत्से तुग की साम्यवादी क्रान्ति के माध्यम से विश्व के राजनीतिक मच पर एक प्रभावी शक्ति के रुप में प्रकट हुआ था।

'पाकिस्तान' -- भारतीय विदेशनीति के क्रियान्वयन और उसके स्वरुप निर्धारण मे एक महत्वपूर्ण कारक तत्व रहा है। पाकिस्तान के साथ भारतीय मतभेद और इन मतभेदो में विश्व के राष्ट्रों की भूमिका मे भारत के सम्बन्ध इन राष्ट्रों से प्रभावित हुए हैं।[29]

स्वतन्त्रता के बाद शीतयुद्ध की विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे पाकिस्तान ने पश्चिमी सैन्य-सगठनों की सदस्यता प्राप्त कर ली जबकि भारत असलग्न था। पाकिस्तान की सदस्यता का परिणाम यह हुआ कि दक्षिण एशिया मे महाशक्तियों की द्विध्रुवीय

राजनीति का प्रवेश हो गया।

चीन के उदय का भी भारतीय विदेशनीति पर गम्भीर प्रभाव हुआ। चीन के उत्तरी सीमा में एक शक्तिशाली एक महत्वाकांक्षी राष्ट्र के रूप में उदय से भारत की प्रादेशिक अखण्डता एवं सुरक्षा पर प्रश्नचिन्ह लग गया। नेहरू की प्रारम्भिक चीन नीति इसी प्रश्न चिन्ह के सकारात्मक उत्तर खोजने का प्रयास थी।

भारतीय विदेशनीति के निर्धारण में उपरोक्त वर्णित अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों ने अपनी प्रभावशाली भूमिका निभाई। यह भूमिका नीति निर्माण से लेकर नीति-क्रियान्वयन तक निरन्तर प्रभावी रही। अब हम भारतीय विदेशनीति के विभिन्न सिद्धान्तों एवं साधनों की चर्चा अगले पृष्ठों पर करेंगे।

(2) विदेशनीति के लक्ष्य एवं सिद्धान्त

हमने प्रारम्भ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा स्वतन्त्रता के पूर्व विदेशनीति के सम्बन्ध में पारित प्रस्तावों एवं प्रकट किये गये विचारों का विश्लेषण किया तदुपरान्त भारतीय विदेशनीति के निर्धारक तत्वों की चर्चा की।

उपरोक्त दोनों बिन्दुओं के विस्तृत विश्लेषण से भारतीय विदेशनीति के स्वरूप की हमें क्रमश जानकारी मिलती है। भारत अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों एवं दायित्वों का निर्वाह किस प्रकार करेगा, यह बहुत हद तक तो भारतीय स्वतन्त्रता के पूर्व ही स्पष्ट होने लगा था।

प्रत्येक देश की तरह भारत का विदेशनीति का मुख्य अभीष्ट उसके राष्ट्रीय हितों की रक्षा एवं वृद्धि करना ही है।

4 सितम्बर, 1947 को संविधान सभा में नेहरू ने स्पष्ट रूप से कहा था कि "आप चाहे जो भी नीति अपनाए, विदेशनीति के निर्धारण की कला राष्ट्रीय हित के सम्पादन में ही निहित है। हम अन्तर्राष्ट्रीय शांति, सहयोग और स्वतन्त्रता की चाहें कितनी ही बातें करें और उनका वैसा ही अर्थ लगाए किन्तु अन्तत एक सरकार, अपने राष्ट्र, जिसका कि वह प्रतिनिधित्व करती है, की भलाई के लिये ही कार्य करती है और कोई भी सरकार ऐसा कोई कदम नहीं उठा सकती जो उसके राष्ट्र के हित में नहीं हो। अत सरकार का स्वरूप चाहे साम्राज्यवादी हो या साम्यवादी हो या समाजवादी, उसका विदेशमंत्री मूलत राष्ट्रीय हित के लिये ही कार्य करता है।[30]

अस्तु राष्ट्रीय हित तो किसी भी राष्ट्र की विदेशनीति का मुख्य अभीष्ट होता ही है किन्तु प्रत्येक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपने आचरण के कुछ मानदण्ड या सिद्धान्त तय करता है।

भारत ने अपनी विदेशनीति के जो सिद्धान्त एवं लक्ष्य निश्चित किये वे उसके निजी

अनुभवों एव उसके सम्पूर्ण परिवेश से ही जन्म लेते हैं। स्वतत्रता के आन्दोलन मे जो सकल्प विदेशनीति के नीति के सन्दर्भ मे किये गए थे वे ही आगे चलकर स्वतत्र भारत की विदेशनीति के रूप में विकसित हुए।

भारतीय विदेशनीति के प्रमुख सिद्धान्तों की जानकारी हमे नेहरु द्वारा विभिन्न मचो पर दिये गये वक्तव्यों द्वारा मुख्यत प्राप्त होती है।

नेहरु ने 1946 मे भारतीय विदेशनीति के जिन सिद्धान्तो का अधिक स्पष्टता से उल्लेख किया था, वे हैं --[31]

1 अन्तर्राष्ट्रीय शाति के लिये प्रयत्नशील रहना।
2 सयुक्त राष्ट्र सघ के साथ सहयोग करना।
3 विश्व के सभी राष्ट्रों के साथ मैत्री-भाव।
4 राष्ट्र कुल की सदस्यता।
5 परतत्र राष्ट्रो का स्वाधीनता सघर्ष मे सहयोग, तथा
6 रगभेद की नीति का विरोध करना।

1948 मे काग्रेस ने अपने विदेशनीति प्रस्ताव मे भारत की विदेशनीति के सिद्धान्तों को निश्चित करते हुए कहा था कि -- "ये सिद्धान्त विश्वशाति की दृष्टि, राष्ट्रों की स्वतत्रता, जातीय समानता तथा साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद की समाप्ति है। काग्रेस कई पीढियों से उपनिवेशवाद के विभिन्न रूपो से पीडित होने वाले एशिया और अफ्रीका के देशो के लिये विशेष रूप से चिन्तित है। विश्वशाति और सहयोग के कार्य को बढाने के उद्देश्य से भारत सयुक्त राष्ट्र सघ मे सम्मिलित हुआ है। भारत की विदेशनीति का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह सभी देशों से मित्रतापूर्ण तथा सहयोगपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करे और विश्व की शाति को सकट मे डालने वाले, ससार को प्रतिद्वन्द्वी गुटो में विभक्त करने वाले गुटो के साथ सैनिक तथा इस प्रकार के अन्य समझौते करने से बची रहे।"[32]

इसी तरह कोलम्बिया विश्वविद्यालय मे 17 अक्टूबर, 1949 के अपने भाषण मे भारतीय विदेशनीति के लक्ष्यों को स्पष्ट करते हुए नेहरू ने कहा था कि -- "विश्वशाति का अनुसरण किसी बडी शक्ति या गुट के साथ सलग्न करके नही अपितु विवादपूर्ण मामलों में स्वतत्र दृष्टिकोण अपनाना, अधीन जातियों को स्वतत्र कराना, व्यक्तिगत एव राष्ट्रीय स्वतत्रता को बनाए रखना, प्रजातीय भेदभाव को दूर करना, भूख, बीमारी और निरक्षरता को दूर करना, जो कि ससार के अधिकतर भाग को प्रभावित करते है, भारत की विदेशनीति के मुख्य लक्ष्य हैं।[33]

भारतीय सविधान निर्माताओं ने भारतीय सविधान के चतुर्थ अध्याय में, जिसमे राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों का वर्णन है, भारत द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे व्यवहार

करने के लिये विदेशनीति सम्बन्धी सिद्धान्त निश्चित किये हैं। सविधान के अनुच्छेद 51 मे दिये गए ये सिद्धान्त है[34]

1 भारत अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा के लिये हर सम्भव प्रयत्न करेगा।
2 अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान मध्यस्थता द्वारा खोजने का प्रयत्न करेगा।
3 सभी राज्यों और राष्ट्रो में परस्पर सम्भानपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखेगा।
4 विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध में सधियों का पालन तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के प्रति आस्था रखेगा।

पामर पार्किन्स ने भारत की विदेशनीति के निम्नांकित मुख्य लक्ष्य बतलाए हैं।[35]

1 जातीय भेदभाव और साम्राज्यवाद का प्रबल विरोध।
2 साम्यवाद अथवा शक्ति की राजनीति की अपेक्षा राष्ट्रों के आधारभूत आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक विकास पर बल।
3 एशियाई देशों की उपेक्षा न करने और उन पर बलात् कुछ न थोपने का आग्रह।
4 *स्वतत्रता, असलग्नता या गुट निरपेक्षता की नीति पर बल व सयुक्त राष्ट्र तथा* अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रयास में विश्वास।
5 शीतयुद्ध तथा क्षेत्रीय सुरक्षा सगठनो से बचना।
6 अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने वाले एव शातिपूर्ण सह-अस्तित्व को बढाने वाले प्रयत्नो में आस्था।

भारतीय विदेशनीति के सन्दर्भ मे यत्र-तत्र प्रकट किये गए इन सिद्धान्तों का विश्लेषण करने के पश्चात् हम निम्न निष्कर्षो पर पहुँचते है जिनमे भारतीय विदेशनीति के लक्ष्य एव सिद्धान्त स्पष्ट हो सकते हैं -

1 गुट-निरपेक्षता या असलग्नता की नीति।
2 अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा मे आस्था।
3 साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद का विरोध।
4 रगभेद का विरोध।
5 अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों एव सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रति आस्था।
6 सभी राष्ट्रो के साथ मैत्री स्थापित करना।
7 एशियाई-अफ्रीकी देशो की सहायता करना।
8 नि शस्त्रीकरण का समर्थन।
9 पचशील।

नेहरु ने अपने विभिन्न वक्तव्यो मे विदेशनीति के इन सिद्धान्तो को स्पष्ट किया है। हम यहा इन सिद्धान्तो का विश्लेषण करेंगे।

गुट-निरपेक्षता से नेहरु का आशय गुटो की शक्ति राजनीति से निरपेक्ष रहते हुए, स्वतत्र विदेशनीति का सचालन करना था, वे इस "तटस्थता" का नाम देने के विरुद्ध थे, क्योंकि तटस्थता एक नकारात्मक विचार था। वे भारतीय विदेशनीति को नकारात्मक रूप देने के पक्ष में नहीं थे वरन् सकारात्मक तटस्थता की नीति के समर्थक थे। विश्व के दायित्वो के प्रति सकारात्मक रूप से कार्य करने का लक्ष्य उनके समक्ष था। भारतीय विदेशनीति को वे सक्रिय विदेशनीति का रूप देना चाहते थे। असलग्नता का उन्होंने अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा था कि शक्ति सघर्ष के लिये बने हुए शक्ति गुटो से वे अपने को सलग्न नहीं करेंगे। नेहरु द्वारा गुट-निरपेक्षता की नीति भारत को भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक, सास्कृतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक एव अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो के औचित्य को देखते हुए स्वीकार की गई थी। गुट-निरपेक्षता कर्तव्य से पलायन की नहीं, कर्तव्य-परायणता की नीति थी। यह कर्तव्य-परायणता भारत के नेताओं के मन मे सम्पूर्ण विश्व के प्रति अनुभव होती थी। असलग्नता, तत्कालीन तनावपूर्ण विश्व राजनीति का शातिमय विकल्प थी। इस नीति के माध्यम से नेहरु विश्व मे वास्तविक शाति का विस्तार करना चाहते थे। नेहरु का मत था कि गुटों की सदस्यता से जन्म लेने वाली प्रतिबद्धता राष्ट्रों की स्वतत्र निर्णयक्षमता को समाप्त कर देगी।

नेहरु ने असलग्नता को देश की परिस्थितियो की उपज कहा था --

> भारत की विदेशनीति को केवल 'नेहरु की नीति' कहना अनुचित है यह इसलिये गलत है कि मैने केवल इन नीतियो की आवाज ही उठायी है। ये नीतिया कुछ अलग से मेरे दिमाग की उपज नही है। ये नीतिया हम भारतीय परिवेश से विरासत मे मिली हैं। इसमें पूरे भारतवासियों की मानसिकता का प्रतिनिधित्व है। इसमे वे भी परिस्थतियाँ अन्तर्भूत है जिनका अनुभव हमे स्वतत्रता सग्राम के सघर्ष के दौरान हुआ है। ये नीतिया विश्व की वर्तमान परिस्थतियो का बिम्ब प्रस्तुत करती हैं। यह केवल सयोग की बात है कि मै इन नीतियों का वाहक हूँ। मैने राष्ट्र के विदेश मत्री की हैसियत से इन नीतियों का अनुगमन किया है, मुझे विश्वास है कि किसी भी पार्टी का सदस्य यदि सत्ता मे इस पद पर होता तो उसका आचरण भी ऐसी नीतियों के पालन का होता, यह मुमकिन है कि इनसे मिलती-जुलती कोई अन्य नीति का अनुसरण कर सकता था किन्तु इनसे अलग हट कर देश की नीतियों को अमल में लाना बड़ा ही मुश्किल रहता। इन नीतियो मे कुछ स्थानो में कमोवेश आग्रह हो सकते है क्योंकि इनमे नीति विषयक देश की परिस्थितियो का समर्थन है।[36]

असलग्नता की इस नीति का नामकरण स्वत्रता के बहुत बाद में हुआ किन्तु नेहरु के वक्तव्यों से इस नीति का स्वरुप निरन्तर स्पष्ट होता रहा।

असलग्नता की नीति का आभास देने वाला प्रथम वक्तव्य नेहरु ने 7 सितम्बर, 1946 के अपने एक प्रसिद्ध भाषण में दिया था जिसमें उन्होंने कहा था कि – "सत्ता शक्ति की दलीय राजनीति से अलग रहने का मात्र उद्देश्य यही है कि हम ऐसी गुटबदी से अलग रहे जो आपस में एक दूसरे के विरोधी है और जिन्होने पिछले विश्व युद्ध की परिस्थितियाँ निर्मित की थी, ऐसे गुटों में शामिल होने के माने हैं कि विश्व को भविष्य में युद्ध के खतरे में भीषण तबाही की ओर ढकेला जाय।"[37]

स्वतत्रता से पूर्व के इस वक्तव्य से नेहरु का यह मन्तव्य स्पष्ट होता है कि वे तत्कालीन विश्व में शक्ति राजनीति के दोनों ध्रुवों से भारत को असलग्न रखने के पक्ष में थे। 4 दिसम्बर, 1947 को अपने एक वक्तव्य मे नेहरु ने कहा था कि – "हमनें विश्व की राजनीतिक गुटबाजी में न फसकर स्वय को तटस्थ करार कर दिया है इस का स्वाभाविक परिणाम यह है कि कोई गुट अथवा बडा राष्ट्र होने पर अपनी नीति नहीं थोप सकता। वे हम पर अपनी रहनुमाई का विश्वास नहीं करते। क्योंकि हम अपनी नीति के अतिरिक्त दूसरों के इशारे पर इधर-उधर नहीं भटक सकते।"[38]

तत्कालीन विश्व में प्रभावशाली शक्तिगुटों के लिये इस तरह की नीति सर्वथा नवीन थी इसलिये प्रारम्भ में असलग्नता पर कई प्रश्नचिन्ह लगाए गए। प्रत्येक शक्तिगुट भारत को अपने विरुद्ध एव विरोधी गुट से जुडा हुआ समझता था या भारत को तटस्थ मानता था। ये आशकाए भी व्यक्त की गई कि भारत शक्ति की राजनीति से आतकित या भयभीत है इसलिये असलग्नता के माध्यम से अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों से पलायन करना चाहता है। नेहरु ने इस भ्रम को स्पष्ट शब्दों में दूर करने का प्रयास करते हुए कहा कि–

"हमें किसी भी खेमें की सैनिक शक्ति से डरने की जरुरत नहीं है। हम इस देश के प्रतिनिधि के रुप में यह खुलासा कर देना चाहते हैं कि हमें किसी भी सैनिक शक्ति का डर नहीं है। हमारी नीति न तो दब्बू है और न नकारात्मक ही है। हमारे निजी स्वतत्र विचार अलग अस्तित्व रखते हैं।"[39]

भारतीय असलग्नता का अर्थ तटस्थता नही था। तटस्थता की नीति अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति उदासीनता प्रकट करती थी इसलिये नेहरु ने असलग्नता को एक सकारात्मक नीति बतलाते हुए कहा था कि –

तटस्थ नीति सकारात्मक और सक्रिय है जोकि हमारे देश के स्वतत्रता सग्राम से निरन्तर चली आ रही है। जब मानव समाज की शान्ति खतरे में होती है तब हम तटस्थ रह ही नहीं सकते। उस समय तटस्थ बने रहना मेरे उस ध्येय के लिए आत्मघाती धोखा होगा जिसके लिये हमने बराबर सघर्ष किया है और जिसके समर्थक रहे हैं।"[40]

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि नेहरू ने अपनी नीति को असंलग्नता का स्वरूप प्रदान किया था किन्तु प्रथम बार इस शब्द के प्रयोग 1953-54 में कृष्णा मेनन द्वारा किया गया था। अकस्मात्, संयुक्त राष्ट्र संघ में इस शब्द को प्रयोग किया गया था जैसा कि मेनन ने कहा है --

'असंलग्नता का अर्थ है किसी शक्ति के बंधन में न रहना। यह शब्द अनायास ही संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रयोग हुआ था लेकिन न हम निश्चय नहीं कह सकते कि हमारी तटस्थ नीति की वजह से हमारी भर्त्सना हुई होगी। जैसा मैंने कहा कि हम तटस्थ नहीं है पर किसी पक्ष के साथ विपक्ष भी नहीं है। हम 'असंलग्न' हैं। मेरा ख्याल है यह शब्द कभी सन् 1953-54 के आसपास प्रयोग में आया है लेकिन इस शब्द की उत्पत्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ के परिवेश में ही हुई है।"[41]

इसी सन्दर्भ में मेनन ने असंलग्नता का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा था कि -- "असंलग्नता केवल विदेशी मामलों में स्वतन्त्रता की नीति है।"[42]

डा० अप्पादाराय ने भी असंलग्नता का आशय स्पष्ट करते हुए कहा था कि -- "भारत पहले से ही अपने-आपको किसी भी गुट के साथ समझौते द्वारा सम्बद्ध नहीं करना चाहता और न प्रत्येक विषय को उसके गुणानुसार परखने की अपनी स्वतन्त्रता किसी भी दशा में खोना चाहता है।"[43]

भारत द्वारा अपनाई गई असंलग्नता की नीति के प्रति प्रथम दशक में विश्व शक्तियों के मन में सन्देह और भ्रम की स्थिति थी। असंलग्नता का मखौल उड़ाया जाता था।

साम्यवादी जगत ने प्रारम्भ में ही असंलग्नता के विचार को पूरी तरह अमान्य एवं असम्भव ही घोषित कर दिया। मास्को के प्रमुख पत्र न्यू टाइम्स ने अपनी सम्पादकीय में लिखा था कि --

विदेश नीति में भारत ने आंग्ल-अमेरिका परिक्रमा पथ की ओर से कदम उठाया है।"[44]

कुछ ही वर्षों बाद जब भारत द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रश्नों पर लिये गये कुछ निर्णय अमेरिका के हितों के विपरीत दिखाई दिये एवं असंलग्न रहते हुए भी भारत ने अमेरिका की तरह सोवियत संघ से भी मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया तो असंलग्नता के प्रति अमेरिकी संदेह पुनः प्रकट किये जाने लगे। न्यूयार्क टाइम्स ने लिखा कि --

"नेहरू और बुल्गानिन के संयुक्त वक्तव्य में भारत की धरती पर पश्चिमी योरोप की आलोचना को नेहरू द्वारा व दाखिल कर लेने से तो साफ जाहिर होता है कि नेहरू सोवियत नीतियों का समर्थन करते हैं और यह आचरण उनकी घोषित तटस्थ नीति के प्रति संदेह उत्पन्न करता है।"[45]

महाशक्तियों की सन्देह भरी इन प्रतिक्रियाओं के बाद भी असलग्नता का विचार विश्व के नव-स्वतन्त्र राष्ट्रों विदेशनीतियों मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता गया और इस नीति को स्वीकारने वालो की सख्या निरन्तर बढती गई तो महाशक्तियों की असलग्नता की नीति की वास्तविकता ज्ञात हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय विदेशनीति का प्रमुख सिद्धान्त असलग्नता एक प्रभावशाली विचार के रुप में विकसित हुआ।

नेहरु तथा अन्य भारतीय नेताओ एव विद्वानो द्वारा असलग्नता की नीति का जो भी स्वरुप स्पष्ट किया गया उससे इस नीति के सन्दर्भ में निम्न निष्कर्ष निकलते हैं --

1 असलग्नता शक्ति के गुटो से असलग्न रहने की नीति है।
2 असलग्नता सकारात्मक नीति है, नकारात्मक नही।
3 असलग्नता विश्व की घटनाओ के प्रति स्वतन्त्र दृष्टि अपनाने की नीति है।
4 असलग्नता का उद्धेश्य राष्ट्रीय हितो की रक्षा करते हुए विश्वशाति स्थापित करने का प्रयास करना है।
5 असलग्नता अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो के प्रति निर्वाह की नीति है।
6 असलग्नता का उद्धेश्य गुट-निर्माण नही, गुटो का विरोध है।

गुट-निरपेक्षता के अतिरिक्त साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एव रगभेद का विरोध भारतीय विदेशनीति का प्रमुख सिद्धान्त था। भारतीय स्वतत्रता सग्राम के दौर मे ही भारत ने अपने कटु अनुभवो के कारण साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एव प्रजातिभेद को पश्चिमी नीति के प्रति अपना विरोध प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया था। सम्पूर्ण एशिया अफ्रीका एव लेटिन अमेरिका के देश इन तीनो अन्तर्राष्ट्रीय वृतियो के शिकार थे। भारत ने जब उपनिवेशवाद एव साम्राज्यवाद के विरुद्ध अहिसात्मक आन्दोलन के माध्यम से सघर्ष करते हुए स्वतत्रता प्राप्त की तो अपनी विदेशनीति मे इनके प्रत्येक रुप के विरोध का स्वर भी मुखरित हुआ।

नेहरु ने 4 दिसम्बर, 1947 को सविधान सभा के सम्मुख कहा था "हम शान्ति और स्वतत्रता का समर्थन करते है। मैं सोचता हूँ कि इस बारे मे कुछ कहा जाना चाहिए। इस बात का कुछ विशेष अर्थ है, जब हम कहते हैं कि हम एशियाई देशों की स्वतत्रता और साम्राज्यवाद के उन्मूलन का समर्थन करते हैं।[46]

सयुक्त राष्ट्र की महासभा मे साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद पर प्रहार करते हुए नेहरु ने भारत की नीति स्पष्ट की थी कि," आज तक एशिया साम्राज्यवाद व उपनिवशवाद का शिकार बना रहा। यद्यपि उसका एक वृहत् भाग पराधीन है, यह आश्चर्यजनक बात ह

कि अब भी कोई देश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से उपनिवेशवाद के सिद्धान्त को बनाये रखने का साहस करता है। आज तक जो हो चुका है उसके लिये कुछ नहीं किन्तु अब उपनिवेशवाद के किसी भी रुप के विरोध में हमें सक्रिय सघर्ष करना है, यह हमें सबसे पहले ध्यान रखना है।"[47]

साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद की ही तरह भारत रगभेद की अमानवीय नीति का भी विरोधी रहा है। दक्षिण अफ्रीकी देशों में भारतीय स्वतत्रता के बाद भी व्याप्त रगभेद की नीति की भारत ने सदैव भर्त्सना की है। लोकसभा में रगभेद के खतरों पर अपने विचार रखते हुए नेहरु ने स्पष्ट किया था कि--

"हमारे सामने अनेक समस्याओं में से तात्कालिक और सबसे चिन्ताजनक समस्या दक्षिण अफ्रीका के रगभेद की है। हमारी इस समस्या में दिलचस्पी केवल इस लिए नहीं है कि हम जाति भेद के विरुद्ध हैं किन्तु इसके पीछे एक लम्बा इतिहास छिपा है। यदि हम पचास-साठ और इससे भी अधिक समय पीछे मुडकर देखें तो हम स्वतत्रता के पूर्व और बाद भी इस समस्या से ग्रस्त रहे हैं। जाति भेद एक ऐसी समस्या है जो कि दुनिया को विभाजित कर रही है किन्तु दक्षिण अफ्रीका में अन्य मुद्दों के साथ-साथ यह समस्या अति गम्भीर बनी हुई है।"[48]

एक अन्य वक्तव्य में नेहरु ने कहा था कि --

"मेरी समझ में दक्षिण अफ्रीका सघ की जाति-नीति बुनियादी तौर पर गलत है और भविष्य में यह नीति विश्व के लिये अन्य समस्याओं से अधिक खतरनाक साबित हो सकती है। हमे तो यह ताज्जुब है कि वे देश जो लोकतत्रीय परम्परा का समर्थन करते हैं और जो यूनाइटेड नेशन चार्टर के पक्षधर है और मानव अधिकारो के हिमायती हैं,आज अफ्रीकी रगभेद नीति के विरुद्ध मुँह खोलने तक का साहस नही करते।"[49]

स्वतत्रता के बाद मुख्यत दक्षिणी अफ्रीका के सन्दर्भ मे भारत ने रगभेद एव प्रजातिभेद की नीति की सदैव भर्त्सना करते हुए उसे मानव अधिकारो एव मानवीय गरिमा के प्रतिकूल निरुपित किया।

अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा मे आस्था भी भारतीय विदेशनीति का एक उज्जवल पहलू था। भारत दार्शनिक और वैचारिक आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का दृढ समर्थक था। भारत की विश्वशाति की वास्तविक स्थापना मे गहरी रुचि थी। सस्कृति के प्रभाव से जन्म लेने वाली मानवतावादी दृष्टि इसके अतिरिक्त भारत के राष्ट्रीय हितो की दृष्टि से भी वह अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा को अपरिहार्य मानता था। भारत की स्वतत्रता के बाद भारत को अपना आर्थिक पुनर्निर्माण करना था तथा हाल ही मे सम्पन्न द्वितीय

विश्वयुद्ध की विभीषिका के बाद विश्व राजनीति मे शीतयुद्ध का प्रादुर्भाव भारत के लिये चिन्ता का विषय था।

नेहरू अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के सशक्त समर्थक थे। स्वतत्रता के पूर्व से ही नेहरू ने विश्वशांति की अपरिहार्यता को समग्र मानवता के लिये एकमात्र शर्त निरूपित की थी।

स्वतत्रता के बाद भी भारत का नेतृत्व करते हुए नेहरू ने विश्वशांति मे बाधाए उत्पन्न करने वाली सभी शक्तियो का विरोध किया। वे सैन्य सगठनो के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने कई अवसरो पर इनके अस्तित्व को मानवता के लिये खतरनाक निरूपित किया था। शीतयुद्ध को तत्काल समाप्त करते हुए पूर्ण निशस्त्रीकरण का समर्थन उन्होंने किया। भारत की असंलग्नता की नीति स्वय मे विश्वशाति एव सुरक्षा केप्रति आस्था का प्रमाण थी। पचशील के पाच आदर्शो का प्रतिपादन भी भारत ने विश्व मे शाति की स्थापना के आधारभूत तत्वो के रूप मे किया था। सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रति भारत की आस्था का मूल हेतु ही विश्वशाति का मार्ग प्रशस्त करना था। विश्वशाति के प्रति अपने दर्शन को स्पष्ट करते हुए कहा था कि -- "युद्ध का न होना ही शाति नही है, शाति जीवन पद्धति है, विचारो की पद्धति एव कार्यो का रूप है। युद्ध की निरन्तर तैयारियों के बीच शाति के स्वप्न देखना स्वय मे विरोधाभास है। अतीत के विवादो, मतभेदों और कटुताओ को भूलकर केवल सहनशीलता एव क्षमाशीलता के वातावरण में ही शाति की स्थापना की जा सकती है।[50] अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा के प्रति अपनी दृढ आस्थाओं के कारण ही भारत ने स्वतत्रता के बाद विश्व मे उत्पन्न होने वाले सकटो के सन्दर्भ मे अपनी भूमिका निभाई। नेहरू विश्वशाति के प्रतीक के रूप मे पहचाने जाने लगे थे। वैसे तो सिद्धान्त के रूप मे प्रत्येक राष्ट्र शाति के प्रति आस्था व्यक्त करता है किन्तु वास्तविक धरातल पर विश्वशाति के प्रति अपनी प्रतिबद्धता भारत ने इस हद तक रखी कि इसनी सैन्य शक्ति का विस्तार भी नही किया। नीति के क्षेत्र मे शाति के प्रति ईमानदार दृष्टिकोण का उदाहरण अन्यत्र प्राप्त होना लगभग असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून एव सयुक्त राष्ट्र का सम्मान भारत की प्रमुख नीति थी। भारत का विश्वशाति में दृढ विश्वास था। भारत के विचारक महर्षि अरबिन्दु एव रवीन्द्र नाथ टैगोर तथा नेहरू विश्व समुदाय को एक विश्व-सरकार मे देखना चाहते थे। भारतीय मानवतावादी दृष्टिकोण विश्व के प्रत्येक राष्ट्र उसका उचित सम्मान देने के पक्ष मे थे। इसी दार्शनिक परम्परा तथा विश्व मे घटने वाली महायुद्धो की दोनों दुर्घटनाओं के कारण भारत अन्तर्राष्ट्रीय कानून एव अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं की महत्ता को स्वीकारता था। इसी कारण भारत ने अपने सविधान मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून एव सस्थाओ के प्रति सम्मान व्यक्त किया।

सयुक्त राष्ट्र सघ के विभिन्न मचों पर नेहरू द्वारा प्रकट किये गये विचार इस विश्वसस्था के प्रति उनकी आस्था के प्रमाण हैं। 3 नवम्बर, 1948 को सयुक्त राष्ट्र

महासभा मे दिये गये भाषण में नेहरू ने इस विश्वसस्था के प्रति अपनी दृढ आस्था प्रकट करते हुए कहा था कि --

> "सयुक्त राष्ट्र महासभा के इस अधिवेशन में मैं अपने देश के शासन और जनता की ओर से यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि हम यूनाइटेड नेशन चार्टर के सिद्धान्तों और उद्देश्य को पूरी तौर पर समर्थन देते हैं और हम यथा शक्ति इसके सिद्धान्तों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिये काम करते रहेंगे।"[51]

नेहरू सयुक्त राष्ट्र को आशा का प्रतीक मानते थे। वे सयुक्त राष्ट्र के दायरे में विश्व के प्रत्येक राष्ट्र को सम्मिलित करने के पक्ष मे थे। वे महाशक्तियों द्वारा इस विश्वसस्था को अपने हितों के लिये प्रयुक्त करने के कारण दु खी थे। उनका मत था कि सयुक्त राष्ट्र सार्वभौमिकता के सिद्धान्त पर आधारित है फिर किसी राष्ट्र को इसकी सदस्यता से वचित करना, इस सस्था के मूलभूत स्वरूप के प्रतिकूल होगा। चीन की सदस्यता के प्रश्न पर अपने विचार रखते हुए नेहरू ने कहा था कि --

> "चीन जैसे महान देश को सयुक्त राष्ट्र सघ मे मान्यता प्राप्त नहीं है। चीन की वर्तमान सरकार से चाहे हम सहमति रखते हो अथवा नही हम चीन की क्राँति के समर्थक हैं अथवा नही यह तथ्य प्रासगिक नही है। आज सयुक्त राष्ट्र ने विश्व व्यापी सघ के बुनियादी सिद्धान्त को निरस्त कर सम्पूर्ण विश्व की एकता का प्रमाण नही दिया है।"[52]

सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रति भारत की हार्दिक आस्था का सशक्त प्रमाण यह था कि भारत ने स्वय सयुक्त राष्ट्र मे काश्मीर की समस्या प्रस्तुत की। इसके अतिरिक्त सयुक्त राष्ट्र को भारत ने हर सम्भव सहयोग दिया। आवश्यकता पडने पर अपनी सेनाए भेजीं। सयुक्त राष्ट्र के विभिन्न आयोगों और समितियों की सदस्यता प्राप्त की। विभिन्न पदों पर नियुक्त भारतीयों ने सफलता पूर्वक अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। सयुक्त राष्ट्र ने भारत द्वारा प्रतिपादित पचशील को भी मान्यता दी। नेहरू युग म सयुक्त राष्ट्र के प्रति दृढ आस्था को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है। इतना ही नहीं, नेहरू ने सयुक्त राष्ट्र का श्रेष्ठतम स्वरूप देने का सपना भी देखा व उसे श्रेष्ठ रूप देने के प्रयास भी किये।

भारत की विदेशनीति का एक प्रमुख सिद्धान्त सभी राष्ट्रों के साथ मैत्री सम्बन्धों की स्थापना भी है। स्वतत्रता के पूर्व ही भारतीय नेता ब्रिटिश शासकों द्वारा किसी भी राष्ट्र के विरुद्ध भारतीय सेनाओं के प्रयोग के पक्ष मे नहीं रहते थे क्योंकि भारत सभी राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का पक्षधर था। स्वतत्रता के बाद असलग्नता की नीति भी भारत ने विश्व के विभिन्न प्रतिस्पर्धी राष्ट्रों के साथ तनाव कम करते हुए मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना के लिये ही अपनाई थी। राष्ट्र मण्डल की सदस्यता का निर्णय भी भारत ने इसी उद्देश्य की

प्राप्ति के लिये लिया था। भारत की चीन नीति भी इसी विचार पर आधारित थी। नेहरु ने अपनी विदेशनीति के इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा था -- "हम अन्य राष्ट्रों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखना चाहते हैं, शर्त यही है कि वे हमारे लिये कठिनाइया पैदा न करें। यही हमारी विदेशनीति का लक्ष्य है। हम अमेरिका से मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखना चाहते है और हम सोवियत सघ से भी पूर्ण सहयोग करना चाहते हैं। हमें अधिक से अधिक राष्ट्रो को एक साथ मिलाना चाहिए जो युद्ध की प्रवृत्ति के विरुद्ध हों और विश्वशाति के लिये कार्य करना चाहते हों।"[53]

भारत ने इसी उद्देश्य के लिये एशिया, अफ्रीका के समस्त देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के लिये ठोस प्रयास किये। पश्चिमी और पूर्वी यूरोप के देशो के साथ मैत्री और सहयोग के विभिन्न समझौते किये। पडौसी देशों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया। पाकिस्तान के समक्ष कई बार अयुद्ध-सधि का प्रस्ताव किया।

भारत स्वय ही विभिन्न राष्ट्रो से मैत्री सम्बन्धों की स्थापना का ही पक्षधर नहीं था वरन् वह विश्व के समस्त राष्ट्रो के मध्य सम्मानपूर्ण आधार पर मैत्री देखना चाहता था। स्टालिनोत्तर युग के ख्रुचेव और केनेडी को नजदीक लाने मे नेहरु ने अपनी प्रभावी भूमिका निभाई, इसके अतिरिक्त विश्व के प्रत्येक विवाद को आपसी वार्ता और मैत्रीपूर्ण साधनो के द्वारा हल करने मे भारत का पूर्ण विश्वास था। भारत का यही दृष्टिकोण विश्व-परिवार की दिशा मे एक साधन के रुप मे विकसित हुआ था। नेहरु अन्तर्राष्ट्रीय शाति की अनिवार्यता के प्रति इतने सतर्क थे कि जहा कही भी युद्ध की चिनगारिया दिखाई देती थीं, वे अपनी मध्यस्थता से उसे बुझाने के लिये व्यग्र हो उठते थे। चीन को मित्र बनाने के उन्होने हर सम्भव प्रयास किये किन्तु मित्रता की भाषा अन्तत चीन जैसा बर्बर राष्ट्र नहीं समझ पाया।

एशियाई-अफ्रीकी देशों के प्रति सवेदना तथा उनमे परस्पर एकता स्थापित करते हुए उनके तीव्र विकास के लिये भारतीय विदेशनीति मे विशेष ध्यान दिया गया। जैसा कि पूर्व मे ही स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत की तरह एशिया-अफ्रीका के कई देश साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के नियत्रण मे शोषण के शिकार हुए थे। इसी कारण विकास की दिशा म ये सभी राष्ट्र बहुत पीछे रह गये थे। भारतीय स्वतत्रता के बाद भी इनमे से कई राष्ट्र पराधीन थे। स्वतत्रता के पूर्व की अपनी नीति पर कायम रहते हुए भी भारतीय नेताओ ने इन महाद्वीपो के स्वतत्रता आन्दोलनो का पूर्ण शक्ति के साथ समर्थन किया। भारत ने स्वतत्रता से पूर्व ही नई दिल्ली म एशियाई देशो के सम्मेलन का आयोजन किया। इसके बाद 1954 मे इडोनेशिया के नगर बाडुग मे एशिया-अफ्रीका के राष्ट्र एक मच पर एकत्रित हुए। 1961 मे बेलग्रेड (युगोस्लाविया) मे आयोजित असलग्न राष्ट्रो के प्रथम सम्मेलन से इन महाद्वीपो के राष्ट्रो मे नेतृत्व का क्रम चलता रहा।

नई दिल्ली के सम्मेलन मे ही नेहरु ने कहा था कि -- "एशिया के देश चिरकाल

तक पश्चिमी देशों के दरबारों में प्रार्थी एवं भिक्षुक बने रहे हैं। अब वह अतीत की कथा हो जाना चाहिए। हम चाहते हैं कि हम अपने पैरों पर खड़े हों। जो हमारे साथ सहयोग करे उसके साथ हम सहयोग करने को तैयार हैं लेकिन हम दूसरों के हाथ का खिलौना नहीं बनना चाहते।"[54]

इसी सम्मेलन में अफ्रीका के देशों के प्रति भी नेहरू ने अपनी संवेदना व्यक्त की व कहा था कि -- "हम एशिया के देशों का अफ्रीकी लोगों के प्रति विशेष उत्तरदायित्व है, हमें उन्हें मानवीय परिवार में उनका उचित स्थान दिलाने में मदद करना चाहिए।"[55]

बाडुंग सम्मेलन का आयोजन मुख्यतः भारतीय प्रयासों से ही हुआ था। यह सम्मेलन अफ्रीकी-एशियाई एकता की दिशा में मील का पत्थर था। नेहरू ने सम्मेलन में भारत की ओर से अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था कि -- "हमने दृढ़ निश्चय किया है कि हम किसी अन्य देश या महाद्वीप से शासित नहीं होंगे। हम इस बात के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ हैं कि हम अपने लोगों तक समृद्धि एवं प्रसन्नता लाएं तथा सदियों पुरानी उन श्रृंखलाओं को तोड़ दें, जिन्होंने हमें राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं, आर्थिक दृष्टि से भी जकड़ रखा है। ये श्रृंखलाएं उपनिवेशवाद की हैं।"[56]

सम्मेलन की सार्थकता प्रकट करते हुए नेहरू ने कहा था --

> "मैं कह सकता हूँ कि सम्मेलन के समय बाँडुंग एशिया-अफ्रीका की राजधानी के रूप में थी। हम यहां एकत्रित हुए क्योंकि एशिया-अफ्रीका के लोगों में एक अदम्य उत्साह एवं व्यग्रता विद्यमान है। हम यहां मिले हैं क्योंकि इन महाद्वीपों में जो शक्तियां कार्य कर रही हैं,वे लाखों लोगों को अग्रसर कर रही हैं,मैं उनके मन में अदम्य उत्साह एवं भावनाएं पैदा कर रहा हूँ जिससे उनकी स्थिति बदल सके।"[57]

भारत ने एशिया-अफ्रीकी देशों की स्वतंत्रता आन्दोलनों का समर्थन तो किया ही, स्वतंत्रता के बाद इन्हें संगठित करने में तथा इनके स्वाभिमान को विकसित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई,जिससे ये देश विदेशी दबाव एवं शोषण से मुक्त होकर स्वतंत्र निर्णय ले सकें। 1961 से प्रारम्भ होने वाले असंलग्न देशों के सम्मेलन का क्रम 1967 के अतिरिक्त प्रति तीसरे वर्ष जारी रहा जिसमें सदस्यों की संख्या बढ़कर 100 तक पहुँच गई।

एशिया-अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के ये शोषित, अविकसित तथा विकासशील देश भारतीय प्रयासों के फलस्वरूप एक संगठित शक्ति के रूप में विकसित हुए। संयुक्त राष्ट्र महासभा में अब कोई भी महाशक्ति इनकी उपेक्षा करके अपना अस्तित्व नहीं रख सकती। ये देश अब साथ-साथ मतदान करने लगे हैं, इसी कारण पिछले दशकों में संयुक्त राष्ट्र महासभा के महत्व में वृद्धि हुई।

विदेशनीति के इस पहलू पर भारत की सफलता स्वयं सिद्ध है।

भारतीय विदेशनीति चूँकि मुख्यत विश्वशाति के लिये प्रतिबद्ध थी इसलिये नि शस्त्रीकरण के पक्ष मे भारत ने अपनी ओर से बहुत प्रयास किये। नेहरू शीतयुद्ध तथा सैन्य-सगठनो के सशक्त विरोधी थे तथा विश्व मे पूर्ण नि शस्त्रीकरण के पक्ष मे थे। नेहरू ने लोकसभा मे नि शस्त्रीकरण के सन्दर्भ मे अपने विचार रखते हुए कहा था --

"नि शस्त्रीकरण के विषय मे हमारी काफी दिलचस्पी रही है। शायद इस सदन को याद होगा कि सन् 1953 में राष्ट्र सघ की महासभा मे भारत की ही पहल पर निरस्त्रीकरण उप समिति का गठन किया गया था। इस विषय में गत वर्ष कुछ तत्काल शुरुआत करने के सुझाव सयुक्त राष्ट्र सघ को हमने दिये थे। इनमें से सबसे पहला यह था कि न्यूक्लियर और थर्मो-न्यूक्लियर बम के विस्फोटों के प्रयोग तत्काल निलम्बित किये जाएँ और इसे तब तक के लिए रोका जाय जब तक इनको नष्ट करने का निर्णय न ले लिया जाय। हमारा दूसरा सुझाव अणु बम निर्माण पर रोक लगा कर कम से कम कुछ बमों को पूरी तरह से नष्ट किया जाना चाहिए। ऐसे उपाय किये जाए ताकि इनका जखीरा न बढ़े। तीसरा सुझाव था कि अणु शक्ति के घातक प्रयोग करने वाले देश सयुक्त राष्ट्र सघ तथा विश्व के देशों के सामने घोषणा करे कि हम अणु के मारक बम बनाना बद कर रहे है। हमारा चौथा सुझाव था कि सभी देश अपने सैनिक बजट की घोषणा करें, सैनिक बजट मे इजाफा न किया जाय, जहाँ कहीं इस मद मे कटौती की जा सकती है तत्काल ही उस खर्च को कम किया जाय।"[58]

नेहरू के इस वक्तव्य से भारत की नि शस्त्रीकरण की पक्षधरता का प्रमाण मिलता है। वे अणुशक्ति को सम्पूर्ण मानवता के लिये भयावह खतरा मानते थे तथा विश्व मचो पर नि शस्त्रीकरण के लिये जनमत बनाते रहे। नेहरू ने कहा था कि -- "अन्तत हमे एक युद्धविहीन विश्व के लक्ष्य को सामने रखना है और कोई विकल्प नहीं है अत हमे पहले चरण के रूप में नि शस्त्रीकरण के लिये कार्य करना है।"[59]

यद्यपि नेहरू इस दिशा में विशेष सफलता अर्जित नही कर सके किन्तु उनके प्रयासो से ही विश्व की महाशक्तियो पर प्रभाव पड़ा और 1963 मे अणुपरीक्षण विरोधी हस्ताक्षर हुए, जिस पर भारत ने भी हस्ताक्षर किये।

नि शस्त्रीकरण की तरह ही नेहरू सैन्य-सधि सगठनो के भी विरोधी थे। वे इन सगठनो को विश्वशाति की दिशा मे बाधा मानते थे। उनका मत था कि शाति की स्थापना के लिये युद्ध के साधन जुटाने का कोई औचित्य नही।

1954 मे भारतीय विदेशनीति के सिद्धान्तो मे पचशील का भी समावेश हुआ। भारत और चीन के मध्य सम्पन्न हुए 29 अप्रैल, 1954 के एक समझौते मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के लिये इन पाँचो सिद्धान्तो को स्वीकार किया गया है -- अनाक्रमण, अहस्तक्षेप

प्रादेशिक अखण्डता--का परस्पर सम्मान, समानता एव परस्पर लाभ तथा शातिपूर्ण सह-अस्तित्व।

भारत द्वारा पचशील के ये सिद्धान्त मूलत शाति एव स्थिरता के लिये प्रतिपादित किये गये थे। नेहरू को इन सिद्धान्तों के प्रति विशेष आस्था थी। आदर्शवादी दृष्टि होने के कारण वे इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के आदर्श मानते थे। अनेक देशों के साथ भारत ने इन सिद्धान्तों के लिये हस्ताक्षर किये। 1955 मे बाडुग सम्मेलन मे भी एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रो ने पचशील के सिद्धान्तों मे पाच सिद्धान्त और जोडकर इन्हे स्वीकार किया। बाद मे इन सिद्धान्तों को सयुक्त राष्ट्र ने भी 1957 में स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय हितो की प्राप्ति के उद्देश्य से भारत ने अपनी विदेश नीति के सचालन में जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया वे मूलत विश्वशाति और मानवतावाद पर आधारित थे। यह भी कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के पूर्व भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने जो विदेशनीति प्रस्ताव पारित किये थे, स्वतत्र भारत की विदेशनीति, उन्ही प्रस्तावो का विकसित रूप थी। स्वतत्रता के बाद की बदली हुई परिस्थितियों में स्वतत्र भारत की विदेशनीति को निर्धारित करने वाले तत्वो का भी भारतीय विदेशनीति के इन सिद्धान्तो पर पर्याप्त अनुकूल प्रभाव पडा।

सन्दर्भ-सूची

1 सीतारमैया, डा० पट्टाभि - द हिस्ट्री आफ इण्डियन नेशनल काग्रेस, वाल्यूम - 1 (1885 - 1935) दमा पब्लिकेशन्स, बम्बई, 1935, पृष्ठ 19।

2 द रिपोर्ट ऑफ ट्वेन्टीनाइन्थ इण्डियन नेशनल काग्रेस - 1914, पृष्ठ 1।

3 द रिपोर्ट ऑफ थर्टीफिफ्थ इण्डियन नेशनल काग्रेस - 1920, पृष्ठ 95।

4 राजकुमार, एन० व्ही० - दी बैकग्राउण्ड ऑफ इडियन फॉरेन पॉलिसी (सम्पादित), नई दिल्ली, 1952। उद्धृत - मिश्रा, के०पी० -- फॉरेन पॉलिसी आफ इडिया (सम्पादित) 1977, थामसन प्रेस, नई दिल्ली, पृष्ठ 12।

5 नेहरू, जे० -- द डिस्कवरी आफ इडिया, पृष्ठ 393।

6 मल्होत्रा, एस आर -- द डैवलपमेन्ट आफ इडियन आउटलुक आन वर्ल्ड अफेयर्स बिफोर 1947 द जर्नल आफ डेवलपमेन्ट स्टडी, वाल्यूम न - 3, अप्रैल, 1955

7 पामर, नार्मन डी० -- स्वतत्रता के पहले भारतीय राष्ट्रीय कॉग्रेस की विदेशनीति। उद्धृत - मिश्रा, के०पी० -- फॉरेन पॉलिसी आफ इडिया, (सम्पादित) थामसन प्रेस, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 13।

8 भारत की सागर सीमा लगभग 6083 किलोमीटर और भूमि सीमा लगभग 15,200 किलोमीटर है -- सागर सीमा का महत्व इसी बात से आका जा सकता है कि प्रतिवर्ष भारत का लगभग 90 प्रतिशत विदेश व्यापार समुद्र मार्ग द्वारा होता है।

9 नेहरू, जे० -- इडियन फॉरेन पॉलिसी, दिल्ली, 1961, पृष्ठ 22।

10 करण, पी०पी० -- भारत की भू-राजनीतिक भूमिका, उद्धृत -- मिश्रा, के०पी०-- भारत की विदेशनीति, मेकमिलन, 1977, पृष्ठ 2।

11 नेहरू, जे० -- इडियन फॉरेन पॉलिसी, पृष्ठ 32।

12 करण, प्रद्युम्न पी० -- भारत का भू-राजनीतिक भूगोल, इडिया क्वार्टरली, खण्ड - नौ, 1953, पृष्ठ 169।

13 बध्योपाध्याय, जे० -- विदेशनीति के आर्थिक आधार, इडिया क्वाटर्ली, खण्ड - 25, 1969, पृष्ठ 361।

14 वही - पृष्ठ 362।

15 बध्योपाध्याय जे० -- विदेशनीति के आर्थिक आधार, इडिया क्वार्टरली, खण्ड - 25 1979 पृष्ठ 364।

16 वही - पृष्ठ 368।

17 जे.नेहरू के भाषण भाग 1 पृ 281

18 1 राष्ट्रकुल मे भारत की सदस्यता निरन्तर रखने के लिए भारत शासन के निर्णय को न्यायोचित ठहराते हुए प नेहरू ने सविधान निर्मात्री सभा मे 16 मई सन् 1949 को कहा था - हमारे लिये यह नीति फायदेमन्द भी थी और यदि हम विश्व में प्रगति के पथ पर आगे बढना चाहते हैं और मौके का फायदा उठाना चाहते हैं, तो इसमें कोई शक नहीं है कि इसे इसमें जुडने मे कोई हिचक न होनी चाहिए। इसमे सम्मिलित होने में कई फायदे है। हमे आर्थिक, राजनीतिक, शिक्षा, कूटनीनिक एव प्रतिरक्षा के क्षेत्र मे इससे जुड़ने में लाभ मिलेगा। भारत के व्यापार का बहुत बडा भाग राष्ट्र कुल देशों के साथ चलता है। इसकी विदेशी मुद्रा का बहुत बडा अश पौंड थावना में सुरक्षित है और पौंड मुद्रा के क्षेत्र में फसा हुआ है। भारतीय प्रवासी बहुत बडी सख्या मे ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न देशो में बसे हुए तिजारत कर रहे हैं और उनके मुद्रा विनिमय की भी समस्या हमारे सामने है जिसके लिये राष्ट्रकुल से जुडे रहना सर्वथा उपयुक्त है।

18 2 प. नेहरू के भाषण, भाग ।। पृ सख्या 130

19 1 आधुनिक भारत के निर्माता प्रधानमत्री नेहरू विशुद्ध आदर्शवादी नीति पर चलने को बाध्य न थे। उन्होने अक्सर अपनी विदेश नीति में उन विचारों का उल्लेख किया है, जो कि देश के राष्ट्रीय हित में महत्वपूर्ण थे। उन्होंने विश्व में व्याप्त

सैन्य शक्ति के वर्चस्व और थैलीशाहों के आर्थिक प्रलोभन की हमेशा आलोचना की है। आमतौर पर उनके विचारों में आधुनिकता के लिए सीधा और सरल रास्ता आदर्शवादी, आधुनिक परम्परा और गाँधीवादी विचार की मेरुदण्ड अहिंसा का मार्ग रहा है। उन्होंने निरन्तर इस बात का समर्थन किया था और उनका विशेष आग्रह था कि उचित साधनों के आधार पर ही भारत की विदेश नीति का पालन किया जाय।

बन्द्योपाध्याय जे दि मेकिंग आफ इंडियन फॉरेन पॉलिसी, 1970 पृ. स 67

19 2 महर्षि अरविन्दो ने ससार के सैन्य एकीकरण के बारे में यह तर्क दिया था, "यह विश्व में शान्ति और सुरक्षा की प्राथमिक आवश्यकता बनेगी।" उनके विचार में मानव मात्र में एकता का पहला सूत्र वर्ग सगठन है, ऐसे वर्ग की प्रणाली स्वतंत्र और निर्बाध हो जिसमें नैसर्गिक वर्ग गठन में एकता सूत्रों को तोड़ने की क्षमता नहीं होती। इसमे किसी वर्ग के उत्पीडन और जाति विद्रोह की भी गुंजाइश नहीं है और न लोगों के बीच परस्पर विरोध ही पैदा होने की सभावना है।

बन्द्योपाध्याय जे, दि मेकिंग आफ इंडियन फॉरेन पॉलिसी 1970 पृ स 67-68 (श्री नेहरू द्वारा उद्धृत)

20 1 जनवरी, 1947 सविधान सभा को सबोधित करते हुए नेहरू ने कहा था, "केवल एक ही सम्भावित उद्देश्य हमारे सम्मुख है कि अन्य राष्ट्रों के साथ मिल जुलकर उनके सहयोग से एक ऐसे विश्व की सरचना करें जो कि एकता के सूत्र में बधा हो, इस विश्व राष्ट्रीयता की भावना को आप कोई भी सज्ञा दे सकते हैं इसकी मूल भावना एकता का प्रतीक है, आगे 14 अगस्त 1947 में इसी सविधान सभा में भाषण देते हुए कहा था कि "मैं स्वय को अपनी समस्त मानवीय सवेदनाओं सहित अपने देश और उसकी जनता की सेवा में समर्पित करता हूँ ताकि यह प्राचीन राष्ट्र विश्व में अपनी उचित प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके और मानव कल्याण और विश्व शान्ति के विकास में अपनी सक्रिय भागीदारी निभा सके" नेहरू ने अनेक बार अपनी विदेश नीति की घोषणा करते हुए स्पष्ट रूप से 'विश्व एकता' पर बल दिया था और भारतीय विदेश नीति को उजागर करते हुए सयुक्त राष्ट्र सघ की महत्ता को विशेष रूप से स्वीकारा था।

"बन्धोपाध्याय जे दि मेकिंग आफ इंडियाज फॉरेन पॉलिसी" 1970 पृ स 69 से उद्धृत।

21 जहाँ तक कि नेहरू की विदेश नीति का सबध है उन्होंने अपने अप्रतिम व्यक्तित्व के बल पर ही आई सी एस अफसरानों को विदेश सेवा से अपनी टिप्पणियों और कलम की ताकत से निकाल बाहर किया था। किन्तु वरिष्ठ विदेश सेवाओं के रिक्त पदों की पूर्ति के लिये पुराने आई सी एस और देशी राज्यों के राजघराने के लोगों

की नियुक्ति राजनय सबधों की दृष्टि से बड़ी भारी भूल कही जा सकती है। दि मेकिंग आफ इडियन फॉरेन पॉलिसी बध्योपाध्याय जे 1970 पृ 78

22 1 काँग्रेस पार्टी अधिवेशनों में विदेश नीति विषय के प्रस्ताव मुख्यत प नेहरु के दिमाग की उपज होते थे। सरकार में भी विदेश नीति सचालन के वे सर्वेसर्वा थे उनके नीति सबधी निर्णय और विचारों को कोई चुनौती देने वाला न था। यद्यपि भारत की विदेश नीति में व्यापक दिग्विन्यास दृष्टिगत नहीं होता था फिर भी प नेहरू अपनी नीति निर्धारण और उन्हें अमल मे लाने के पूर्व ठोस प्रतिपादन की नीति अपनाते थे। नेहरू जी ने कई बार यही कहा है कि मैं देश की विदेश नीति को मूर्तरुप देने का प्रयास कर रहा हूँ जिस का आधार उनकी दृष्टि से काँग्रेस की परम्परागत नीतियों से अनुकूलन स्थापित रख सके। जब भी वे विदेश नीति सबधी विचार काँग्रेस पार्टी के अन्तर्गत रखते उनके विचार दुराग्रहपूर्ण न होते, उन्होंने नीति विषयक चर्चा में पार्टी के जनमत के विपरीत ऐसा कोई कदम नही उठाया जिससे यह अनुभव हो कि पार्टी के स्वगत विचारों के प्रतिकूल काम कर रहे हैं। उनका प्रमुख उद्देश्य दक्षिण पथी और वामपथी विचारो के बीच सामजस्य स्थापित कर सश्लेषण करना और दोनो परस्पर विरोधी विचारो को एक ही मच पर एकत्र करना था ताकि विदेश नीति के सर्वग्राह सिद्धान्तो को अमल मे लाया जा सके।

बन्धोपाध्याय जे - दि मेकिंग आफ इडियन फॉरेन पॉलिसी 1970 पृ 84-85

23 विदेश नीति के कश्मीर सहित अन्य कई मामलो मे शासन सभवत परोक्ष रुप से जनसघ के दृष्टिकोण से प्रभावित रहा है बाद में बहुत से राष्ट्रीय विचारधारा के समूह ने उक्त विचारो का अनुमोदन किया था।

बन्धोपाध्याय जे टि मेकिंग आफ इडियाज फॉरेन पॉलिसी 1970 पृ 88

24 नेहरु जे - इडियाज फॉरेन पॉलिसी पृ 2

25 वही पृ 2

26 नेहरु, जे० -- इडियाज फॉरेन पॉलिसी (स्पीचेज) पृष्ठ 248-253।

27 वही- पृष्ठ 249।

28 नेहरु जे, इडियाज फॉरेन पॉलिसी, पृ 253

29 "महाशक्तियाँ, ब्रिटेन, राष्ट्रकुल, पश्चिम एशिया, तथा पडौसी देशों और यहा तक कि राष्ट्र सघ के प्रति भारतीय नीति का स्पष्टीकरण काश्मीर के मामले पर पाकिस्तान को लिखे गये पत्र द्वारा साफ तौर से जाहिर हो जाता है।"

"बन्धोपाध्याय - जे० - दि मेकिंग आफ इडियाज फॉरेन पॉलिसी 1970, पृ 98"

30 नेहरु, जवाहरलाल -- टाइम्स आफ इडिया 5 दिसम्बर 1947।

नेहरु -- इडियाज फॉरेन पॉलिसी, पृष्ठ 28।

सैन्य शक्ति के वर्चस्व और थैलीशाहों के आर्थिक प्रलोभन की हमेशा आलोचना की है। आमतौर पर उनके विचारो म आधुनिकता के लिए सीधा और सरल रास्ता आदर्शवादी, आधुनिक परम्परा और गाँधीवादी विचार की मेरुदण्ड अहिसा का मार्ग रहा है। उन्होंने निरन्तर इस बात का समर्थन किया था और उनका विशेष आग्रह था कि उचित साधनों के आधार पर ही भारत की विदेश नीति का पालन किया जाय।

बध्योपाध्याय जे दि मेकिंग आफ इडियन फॉरेन पॉलिसी, 1970 पृ स 67

19 2 महर्षि अरविन्दो ने ससार के सैन्य एकीकरण के बारे मे यह तर्क दिया था, "यह विश्व मे शान्ति और सुरक्षा की प्राथमिक आवश्यकता बनेगी।" उनके विचार मे मानव मात्र में एकता का पहला सूत्र वर्ग सगठन है, ऐसे वर्ग की प्रणाली स्वतत्र और निर्बाध हो जिसमे नैसर्गिक वर्ग गठन मे एकता सूत्रो को तोड ने की क्षमता नहीं होती। इसमें किसी वर्ग के उत्पीड़न और जाति विद्रोह की भी गुजाइश नही है और न लोगों के बीच परस्पर विरोध ही पैदा होने की सभावना है।

बध्योपाध्याय जे, दि मेकिंग आफ इडियन फॉरेन पॉलिसी 1970 पृ स 67-68 (श्री नेहरू द्वारा उध्दृत)

20 1 जनवरी,1947 सविधान सभा को सबोधित करते हुए नेहरू ने कहा था, "केवल एक ही सम्भावित उद्देश्य हमारे सम्मुख है कि अन्य राष्ट्रो के साथ मिल जुलकर उनके सहयोग से एक ऐसे विश्व की सरचना करें जो कि एकता के सूत्र मे बधा हो, इस विश्व राष्ट्रीयता की भावना को आप कोई भी सज्ञा दे सकते है इसकी मूल भावना एकता का प्रतीक है, आगे 14 अगस्त 1947 मे इसी सविधान सभा में भाषण देते हुए कहा था कि "मै स्वय को अपनी समस्त मानवीय संवेदनाओं सहित अपने देश और उसकी जनता की सेवा मे समर्पित करता हूँ ताकि यह प्राचीन राष्ट्र विश्व मे अपनी उचित प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके और मानव कल्याण और विश्व शान्ति के विकास में अपनी सक्रिय भागीदारी निभा सकें" नेहरू ने अनेक बार अपनी विदेश नीति की घोषणा करते हुए स्पष्ट रूप से 'विश्व एकता' पर बल दिया था और भारतीय विदेश नीति को उजागर करते हुए सयुक्त राष्ट्र सघ की महत्ता को विशेष रूप से स्वीकारा था।

"बन्धोपाध्याय जे दि मेकिंग आफ इंडियाज फॉरेन पॉलिसी" 1970 पृ स 69 से उद्धृत।

21 जहाँ तक कि नेहरू की विदेश नीति का सबध है उन्होंने अपने अप्रतिम व्यक्तित्व के बल पर ही आई सी एस अफसरानो को विदेश सेवा मे अपनी टिप्पणियों और कलम की ताकत से निकाल बाहर किया था। किन्तु वरिष्ठ विदेश सेवाओ के रिक्त पदो की पूर्ति के लिये पुराने आई सी एस और देशी राज्यो के राजघराने के लोगों

की नियुक्ति राजनय सबधों की दृष्टि से बडी भारी भूल कही जा मकती है। दि मेकिंग आफ इंडियन फॉरेन पॉलिसी बध्योपाध्याय जे 1970 पृ 78

22 1 कॉंग्रेस पार्टी अधिवेशनों में विदेश नीति विपय के प्रस्ताव मुख्यत प नेहरू के दिमाग की उपज होते थे। सरकार में भी विदेश नीति सचालन के वे सर्वेसर्वा थे उनके नीति सबधी निर्णय और विचारों को कोई चुनौती देने वाला न था। यद्यपि भारत की विदेश नीति में व्यापक दिग्विन्यास दृष्टिगत नही होता था फिर भी प नेहरु अपनी नीति निर्धारण और उन्हें अमल में लाने के पूर्व ठोस प्रतिपादन की नीति अपनाते थे। नेहरु जी ने कई बार यही कहा है कि मै देश की विदेश नीति को मूर्तरुप देने का प्रयास कर रहा हूँ जिस का आधार उनकी दृष्टि मे कॉंग्रेस की परम्परागत नीतियों से अनुकूलन स्थापित रख सके। जब भी वे विदेश नीति सबधी विचार कॉंग्रेस पार्टी के अन्तर्गत रखते उनके विचार दुराग्रहपूर्ण न होते, उन्होंने नीति विपयक चर्चा में पार्टी के जनमत के विपरीत ऐसा कोई कदम नही उठाया जिससे यह अनुभव हो कि पार्टी के सगत विचारो के प्रतिकूल काम कर रहे हैं। उनका प्रमुख उद्देश्य दक्षिण पथी और वामपथी विचारो के बीच सामजस्य स्थापित कर सश्लेपण करना और दोनो परस्पर विरोधी विचारो को एक ही मच पर एकत्र करना था ताकि विदेश नीति के सर्वग्राह सिद्धान्तो को अमल मे लाया जा सके।

बन्धोपाध्याय जे - दि मेकिग आफ इडियन फॉरेन पॉलिसी 1970 पृ 84-85

23 विदेश नीति के कश्मीर सहित अन्य कई मामलो मे शासन सभवत परोक्ष रुप से जनसघ के दृष्टिकोण से प्रभावित रहा है बाद मे बहुत से राष्ट्रीय विचारधारा के समूह ने उक्त विचारो का अनुमोदन किया था।

बन्धोपाध्याय जे दि मेकिग आफ इडियाज फॉरेन पॉलिसी 1970 पृ 88

24 नेहरु जे - इडियाज फॉरेन पॉलिसी पृ 2

25 वही पृ 2

26 नेहरु, जे० -- इडियाज फॉरेन पॉलिसी (स्पीचेज) पृष्ठ 248-253।

27 वही- पृष्ठ 249।

28 नेहरू जे, इडियाज फॉरेन पॉलिसी पृ 253

29 "महाशक्तियाँ, ब्रिटेन, राष्ट्रकुल पश्चिम एशिया, तथा पडौसी देशों और यहा तक कि राष्ट्र सघ के प्रति भारतीय नीति का स्पष्टीकरण काश्मीर के मामले पर पाकिस्तान को लिखे गये पत्र द्वारा साफ तौर से जाहिर हो जाता है।"

"बन्धोपाध्याय - जे० - दि मेकिग आफ इडियाज फॉरेन पॉलिसी 1970, पृ 98"

30 नेहरु, जवाहरलाल -- टाइम्स आफ इडिया, 5 दिसम्बर, 1947।

नेहरु -- इडियाज फॉरेन पॉलिसी, पृष्ठ 28।

31 नेहरु, टाइम्स आफ इडिया, 27 सितम्बर, 1946।
32 कॉग्रेस के विदेशनीति प्रस्ताव, 1944-1954, पम्पलेट कॉग्रेस पार्टी प्रकाशन।
33 कोलम्बिया विश्वविद्यालय, अमेरिका में 17 अक्टूबर, 1949 को दिये गये भाषण का अश -- टाइम्स आफ इडिया, 18 अक्टूबर, 1949।
34 अनुच्छेद - 51, भारत का सविधान।
35 उद्धृत -- शर्मा, एम० एल० -- बदलती विदेशनीतियाँ, पृष्ठ 148।
36 नेहरु जे. -- इडियाज फॉरेन पॉलिसी पृ 80
37 वही पृ 2
38 नेहरु - जे० इडियाज फॉरेन पॉलिसी पृ 25
39 तथैव - पृ 25,32
40 स्वर्ण सिंह - नॉन अलाइनमेंट ए बेसिक टेनेट ऑफ इडियाज फॉरेन पॉलिसी, सोशलिस्ट इडिया, अगस्त 12, 1972, पृ 67
41 ब्रीच माइकल - इडिया एण्ड वर्ल्ड पालिटिक्स - कृष्णा मेनन्स व्यू आन दि वर्ल्ड - लदन आक्सफोर्ड प्रेस 1968 पृ 3 1977-80
42 वही पृ 4
43 उद्धृत -- नागपाल, ओ०पी० -- भारत और विश्व राजनीति, कमल प्रकाशन, इन्दौर, 1977, पृष्ठ 43।
44 न्यू टाइम्स, मास्को -- 12 जनवरी, 1949।
45 न्यूयार्क टाइम्स, 15 दिसम्बर 1955
46 नेहरु, जे० -- इडियाज फॉरेन पॉलिसी, स्पीचेज, पृष्ठ 24।
47 वही- पृष्ठ 164।
48 "नेहरु जे - इडियाज फॉरेन पॉलिसी पृ 543
49 तथैव - तथैव
50 नेहरु, जे० -- इडियाज फॉरेन पॉलिसी, पृष्ठ 171।
51 नेहरु - जे - इडियाज फॉरेन पॉलिसी पृ 186"
52 नेहरु, जे, इडियाज फॉरेन पॉलिसी पृ 189
53 नेहरु, जे० -- इडियाज फॉरेन पॉलिसी, पृष्ठ 28।
54 नेहरु, जे० -- इडियाज फॉरेन पॉलिसी, पृष्ठ 251।
55 वही- पृष्ठ 253।
56 वही- पृष्ठ 270।
57 नेहरु, जे० -- इडियाज फॉरेन पॉलिसी, पृष्ठ 269।
59 नेहरु, जे० -- इडियाज फॉरेन पॉलिसी, पृष्ठ 199।
60 वही पृ 394।

अध्याय - 2

विदेशनीति का क्रियान्वयनं (1947-1970)

नेहरू युग (1947-1964)

शास्त्री युग (1964-1966)

श्रीमती गांधी युग (1966-1970)

(1) नेहरू युग (1947-1964)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नेहरू के नेतृत्व में बनने वाली भारतीय सरकार के मन्त्रिमण्डल में नेहरू ने विदेश विभाग भी स्वयं अपने पास रखा और निरन्तर विदेशनीति की क्रियान्विति करते रहे। यह इसलिये भी किसी के लिये आश्चर्यजनक नहीं था कि नेहरू ने स्वतन्त्रता के पूर्व ही भारत की भावी विदेशनीति को शिल्प देना प्रारम्भ कर दिया था। 1927-28 में भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के विदेश विभाग के संयोजक नेहरू ने स्वतन्त्रता के बाद विदेशी सम्बन्धों का संचालन अपने हाथों में ही रखा। स्वतन्त्रता के पूर्व के वर्षों में ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन, अन्तर्राष्ट्रीय यात्राएं और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क आदि के कारण नेहरू की अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि निरन्तर विकसित हो रही थी। भारत के पहले विदेशमंत्री के रूप में नेहरू ने नये सिरे से स्वतंत्र भारत की वैदेशिक नीति का संचालन *प्रारम्भ किया। स्वतन्त्रता के पूर्व ब्रिटिश शासकों के पास विदेशनीति का संचालन था और* अपने हितों के कारण इन शासकों ने भारत को विश्व राजनीति से मूलतः पृथक् रखा था। जब नेहरू ने दक्षिणी सचिवालय से विश्व पर दृष्टिपात किया तो बहुत कुछ नवीनताएं विश्व में व्याप्त थी।

नेहरू पर गॉंधी के स्वतन्त्रता आन्दोलनों में किये गये प्रयोगों का तीव्र प्रभाव था। नेहरू की दृष्टि में साम्राज्यवादियों के विरुद्ध किया गया भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष एशिया के पुनरुत्थान का प्रतीक था। अहिंसक आन्दोलनों से साम्राज्यवाद के उन्मूलन के ठोस तथ्य से नेहरू ने यह निष्कर्ष निकाला कि भौतिक शक्ति राष्ट्रों के भाग्य-निर्धारण के लिये आवश्यक नहीं है। गॉंधी के ही प्रभाव से नेहरू पश्चिमी पूँजीवाद और सोवियत साम्यवाद की कमियों के प्रति सचेत हो गए थे। अहिंसा और आत्मा की शक्ति के प्रयोगों से नेहरू ने ये निष्कर्ष निकाला था कि युद्ध और सैन्य-शक्ति की कोई सार्थकता नहीं है। विश्वशांति की स्थापना केवल शांतिपूर्ण तरीकों से ही सम्भव है अन्यथा विनाश तय है। नेहरू इस युग के प्रथम राष्ट्रीय नेताओं में से थे जिन्होंने आणविक शक्ति के भयावह एवं अगणनीय खतरों के प्रति संकेत करते हुए उसे मानवता को विनाश की ओर ले जाने वाले मृत्यु-वाहक *निरूपित किया था।*[1] *नेहरू के मन में उपनिवेशवाद और "युद्ध" के प्रति घृणा थी और इसी* कारण पराधीन राष्ट्रों की स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रों के मध्य शांति की अनिवार्यता को उन्होंने अपनी विदेशनीति में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया।

अन्तरिम सरकार की स्थापना के बाद नेहरू द्वारा भारत की भावी विदेशनीति स्पष्ट करने वाला वक्तव्य स्वयं में असाधारण साहस और असामान्य धैर्य का प्रतीक था जिसमें

उन्होंने कहा था कि -- "जहां तक सम्भव होगा हम एक-दूसरे के विरुद्ध गठित शक्ति की राजनीति के समूहों से अपने आपको पृथक् रखेंगे क्योंकि इन्होंने ही अतीत में विश्वयुद्धों को जन्म दिया है और ये और भी अधिक व्यापक एवं विनाशकारी युद्ध का कारण बन सकते हैं।" [2] अपने प्रारम्भिक विदेश सम्बन्धों के वक्तव्यों में नेहरू ने ब्रिटेन व राष्ट्रमण्डलीय देशों से सद्भाव एवं सहयोग पर आधारित सम्बन्धों की बात कही तो उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे एशियाई-अफ्रीकी देशों के प्रति संवेदना एवं हर सम्भव सहयोग का संकल्प भी व्यक्त किया। नेहरू ने अमेरिका के निवासियों को अपना अभिनन्दन भेजा तो सोवियत संघ के प्रति अपना मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहा कि -- "एशिया में वह भारत का महान पड़ौसी देश है जिसके साथ हमें कई ऐसे कार्य करने होंगे जो परस्पर हितों के लिये आवश्यक हैं।"[3] चीन के प्रति विशेष हार्दिकता प्रकट करते हुए नेहरू ने कहा था कि -- "शक्तिशाली अतीत का वह शक्तिशाली देश हमारा सदियों से पड़ौसी मित्र रहा है और यह मित्रता और अधिक सशक्त होगी।"[4]

नेहरू द्वारा प्रकट किये गए विदेशनीति सम्बन्धी इन्हीं विचारों के आधार पर आगामी दो दशकों तक भारतीय विदेशनीति संचालित हुई। प्रजाति भेद और उपनिवेशवाद का विरोध, ब्रिटेन से पूर्व के कटु अनुभवों को भूलकर सम्बन्धों को सद्भावनापूर्ण बनाने के प्रयास असंलग्न रहते हुए भी अमेरिका एवं सोवियत संघ से मैत्री के संकल्प, चीन को एक सशक्त मित्र के रूप में स्थापित करने के प्रयास, समानता के आधार पर एशियाई-अफ्रीकी देशों से सम्बन्धों की स्थापना तथा विश्वशांति के प्रति हार्दिक समर्पण एवं शीतयुद्ध और तनावों के प्रति मुखर असहमति नेहरू के इस पहले महत्वपूर्ण विदेशनीति वक्तव्य से स्थापित होती है।

नेहरू की असंलग्नता की विदेशनीति की विश्वसनीयता स्थापित होने में पर्याप्त समय लगा। अमेरिका और सोवियत संघ की शक्ति राजनीति के माध्यम से बहुत तेजी से सैन्य-गुटों का निर्माण कर रहे थे। द्वितीय महायुद्ध के समय स्टालिन की भूमिका तथा स्टालिन के द्वारा रूस के केन्द्रीकरण से अमेरिका आशंकित हुआ तथा उससे रूस के बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव को रोकने के लिये पश्चिमी यूरोप के साथ तथा अन्य क्षेत्रों में घेराबन्दी का क्रम प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप -- नाटो, सीएटो सेंटो तथा एन्जस जैसे संधिसंगठनों का निर्माण हुआ साथ ही कई द्विपक्षीय संधियां भी की गईं। इधर रूस ने पूर्वी यूरोप के अपने साथी समाजवादी देशों के साथ वारसा संधि संगठन की स्थापना की। जिस सैन्य-गुट निर्माण ने पूर्व में विश्वयुद्धों को जन्म दिया था वही क्रम पुनः मानवता के लिये भयावह खतरा बनकर प्रकट हुआ।

नेहरू ने इन सैन्य संगठनों का तीव्र स्पष्ट एवं सशक्त विरोध किया। इतना ही नहीं, विश्व में घटने वाली प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना के परिदृश्य में चूँकि महाशक्तियों की भूमिका विद्यमान रहती थी इसलिये नेहरू ने जब गुणों के आधार पर अपनी नीति तय करना प्रारम्भ

किया तो भ्रम एव सन्देह की स्थिति दोनों ही शक्ति केन्द्रो (मास्को व वाशिगटन) मे व्याप्त हुई।

अमेरिका ने जब सोवियत साम्यवाद के तीव्र विस्तार को यूरोप एव एशिया मे फैलते हुए देखा तो उसने इसे धर्मयुद्ध का रूप देते हुए इन क्षेत्रो मे साम्यवादी विरोधी गढ बनाना प्रारम्भ कर दिया। अधिकाश अमेरिकी नेताओं को यह अपेक्षा थी कि भारत, जो नेहरु के नेतृत्व मे मानवतावाद और लोकतत्र के प्रति प्रतिबद्ध है, अमेरिका के साथ हो जायगा। चूँकि भारत ने ऐसा नही किया इसलिये उसकी भूमिका के प्रति सन्देह व्याप्त हो गया। जनवरी, 1947 मे ही जब भारत ने स्वतत्रता भी प्राप्त नही की थी तभी सयुक्त राष्ट्र सघ के एक प्रतिनिधि मण्डल म जान फास्टर डलस ने टिप्पणी की थी कि -- 'भारत मे अन्तरिम सरकार के माध्यम से सोवियत सघ अपने साम्यवाद का प्रभाव फैला रहा है।"[5] सयुक्त राज्य मे नेहरु को सोवियत एजेन्ट निरूपित किया गया।"[6] भारत के प्रति अमेरिका का यह दृष्टिकोण निरन्तर बना रहा।

अमेरिका ही नहीं, सोवियत सघ भी भारत की असलग्नता को सदिग्ध दृष्टि से देखता था। स्टालिन ने तो नेहरु को वास्तविक रूप मे स्वतत्र देश का नेता मानने से भी इनकार किया। सोवियत सघ भारत को राजनीतिक एव आर्थिक दृष्टि से पश्चिमी साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद का सारथी मानता रहा। सोवियत समाचार-पत्रो मे नेहरु का नाम तक प्रकाशित नहीं किया जाता था।[7] उन्होंने भारत की राष्ट्र मडलीय सदस्यता की भी गलत व्याख्या की। यहा तक कि भारत की स्वतत्रता एव सत्ता हस्तान्तरण के समाचार को भी सोवियत सघ ने कोई महत्व नही दिया और भारत की प्रथम राजदूत श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित से स्टालिन ने मुलाकात तक नही की। इसी तरह का दृष्टिकोण साम्यवादी चीन का भी रहा। माओ ने तो असलग्नता के विचार को ही मूलत अमान्य कर दिया था।

महाशक्तियो का भारत एव नेहरु के प्रति यह सन्देहपूर्ण दृष्टिकोण स्पष्ट करता है कि भारत सच्चे अर्थो म असलग्न था क्योकि दोनो महाशक्तिया उसे अपनी विरोधी शक्ति के साथ सलग्न मान रही थी। यही भारतीय असलग्नता की वास्तविक प्रामाणिकता भी मानी जा सकती है। सोवियत साम्यवादी समूह के निरन्तर अविश्वास और उपेक्षा के बाद भी और अमेरिका के अपने समूह म भारत का मिलान के निरन्तर प्रयास के प्रति भारत का उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण उसकी सद्धान्तिक निष्ठा को स्पष्ट रूप से स्थापित करता है।

तत्कालीन स्थिति म नेहरु यदि पश्चिमी समूह के साथ अपने को प्रतिबद्ध करते तो यह तात्कालिक लाभ एव हितो की वृद्धि ही करता किन्तु नेहरु ने सम्पूर्ण विवेक एव बुद्धि से द्वितीय महायुद्धोत्तर विश्व का उसके ऐतिहासिक सन्दर्भो मे समझ लिया था।

नेहरु जानते थे कि भारत महाशक्ति नही था किन्तु यह भी जानते थे कि इतना विशाल देश किसी महाशक्ति का उपग्रह नही बन सकता। नेहरु का वैचारिक एव

सैनिक-गुटों से संलग्न न करने का निर्णय भारत द्वारा हाल ही में प्राप्त स्वतंत्रता का प्रतिफल था। नेहरू, प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के प्रति उसके गुण-दोषों के आधार पर विवेचन करने का अधिकार चाहते थे।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध निरन्तर स्वतन्त्रता संघर्ष के बाद भी भारत की राष्ट्र-मंडलीय देशों की सदस्यता का निर्णय नेहरू ने राष्ट्रीय हितों को दृष्टिगत रखते हुए ही किया था। यद्यपि भारत की राष्ट्र मंडल के साथ सम्बद्धता का विरोध भी भारत में प्रकट किया गया था लेकिन नेहरू दूरदर्शी दृष्टिकोण से राष्ट्र मंडल के साथ भारत की सम्बद्धता के पक्ष में थे।

लन्दन में अक्टूबर 1948 में राष्ट्र मंडलीय देशों के प्रधानमंत्री सम्मेलन में भाग लेने के बाद नेहरू को राष्ट्र मंडल में बने रहने की उपयोगिता दिखलाई दी। सम्मेलन से लौटने के पश्चात् 8 नवम्बर, 1948 को भारतीय संविधान सभा में कहा कि -- "भारत ने अन्य देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना की इच्छा प्रकट की है विशेष रूप से राष्ट्र मंडल की सदस्यता के प्रश्न पर हम सभी दृष्टियों से गम्भीरतापूर्वक विचार करना है।"[8]

18 दिसम्बर 1948 को कांग्रेस ने जयपुर अधिवेशन में नेहरू के इस विचार को स्वीकार करते हुए इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि --

पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने और भारत में प्रजातन्त्र स्थापित करने के संदर्भ में हमारे विचार में देश उस स्तर पर पहुँच जायगा जहाँ हम अन्य देशों को स्वतन्त्रता के स्तर पर पाते हैं, यह सम्मानजनक स्थिति इस देश का न्यायोचित हक था। संयुक्त राष्ट्र संघ और राष्ट्र कुल देशों के बीच भारत की वर्तमान स्थिति में निश्चय ही परिवर्तन होगा। ऐसी स्थिति में यह देश उन सभी राष्ट्रों से अपने मधुर संबंध बनाये रखने का प्रयास करेगा जोकि इसकी स्वतन्त्रता में बाधक न बनें। अतः कॉंग्रेस इस विचार का स्वागत करेगी कि उन स्वतंत्र देशों से संबंध स्थापित किये जाय और उनसे सहयोग रखा जाय जो कि सार्वजनिक जनहित और विश्व शान्ति के प्रयासों को आगे बढ़ा रहे हैं।"[9]

इसके बाद संविधान सभा और कॉंग्रेस ने राष्ट्र मंडल की सदस्यता को निरन्तर बनाये रखने के प्रस्ताव मई 1949 में पारित किये।[10]

राष्ट्र मंडल की भारतीय सदस्यता के कई प्रमुख आधार थे उनमें प्रमुख था, गाँधी का प्रभाव। गाँधी के नेतृत्व में भारतीय स्वतन्त्रता का जो अहिंसात्मक आन्दोलन हुआ था उसके परिणाम स्वरूप ब्रिटिश शासकों और भारतीयों के बीच व्यापक पैमाने पर कटुता विकसित नहीं हुई। गाँधीजी ने कहा था कि -- "मैं अंग्रेजों को जानता हूँ एवं वे मुझे जानते हैं। हमारा उनसे भयानक किन्तु मित्रवत संघर्ष हुआ है। यदि हिंसात्मक शैली की लड़ाई से भारत ने आजादी प्राप्त की होती तो रक्तपात की भीषण स्थिति निर्मित होती। भारतीय स्वतंत्रता एवं 1947 के सत्ता हस्तान्तरण पर टिप्पणी करते हुए लार्ड सेम्युअल ने

कहा था कि - "यह शांति की एक संधि है जो बिना युद्ध के सम्पन्न हुई है।"[11] शताब्दियों की पराधीनता के बाद भी स्वतन्त्रता के समय अंग्रेजों और भारतीयों के मध्य सद्भावपूर्ण सम्बन्ध सम्भवत राष्ट्र मंडल की सदस्यता का महत्वपूर्ण कारण था। नेहरू ने इन्हीं भावनाओं को प्रकट करते हुए कहा था कि -- "मैं चाहता हूँ कि विश्व यह देखे कि भारत उनसे भी सहयोग करने के लिये तैयार है जिनसे वह अतीत मे संघर्षरत रहा है।"[12]

1949 मे ब्रिटेन के शासन मे श्रमिक-दल की उपस्थिति भी राष्ट्रमंडल की सदस्यता का तात्कालिक कारण थी। इस दल मे भारत के कई पुराने मित्र ही नहीं थे वरन् भारतीयों के स्वशासन के अधिकार का प्राय वर्षो से इस दल ने समर्थन किया था। सम्भव है, यदि अनुदार दल सरकार इस अवधि मे होती तो भारत राष्ट्र मंडल की सदस्यता स्वीकार नही करता। तत्कालीन ब्रिटिश श्रमिक दल सरकार का आग्रह भी था कि भारत राष्ट्र मंडल का सदस्य बना रहे।

नेहरू यह भी जानते थे कि राष्ट्र कुल में बदलाव आया था तथा यह क्रम निरन्तर जारी था। यह अब अधिक दिनों तक पश्चिमी या एंग्लो सेक्शन क्लब के रुप मे नही रह सकता था। उन्होंने सही अनुभव कर लिया था कि राष्ट्र मंडल के समय साथ ही विकास करेगा और कई एशियन-अफ्रीकन देश इसमे सम्मिलित होंगे तथा इस विकास में भारत की सदस्यता मार्ग प्रशस्त करेगी।[13] और हुआ भी यही।

नेहरु एक उदार अन्तर्राष्ट्रीयवादी थे। वे भारत का "कूपमण्डूक" की तरह नहीं देखना चाहते थे वरन् इस बात के प्रति सचेत थे कि भारत का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल में विशेष योगदान देना चाहिए। राष्ट्र मंडल इस उद्देश्य मे एक सहायक मंच हो सकता था। नेहरू ने कहा था कि --

> "आज दुनिया मे जहा अनेक विघटनकारी तत्त्व काम कर रहे है, ऐसी स्थिति में किसी भी संगठन से नाता तोड़ना खतरे से खाली नही है, अलग-थलग हो जाने के माने हैं अपने विकास पथ पर रोडे अटकाना। इसीलिये बहतर है कि सहकारी संगठनो मे जुड़कर अपनी शक्ति और विकास को कायम रखा जाय। कुछ लोग सोचते है कि राष्ट्रकुल से नाता जोड़ने से हम अपने पड़ोसी एशियाई देशों से दूर हो जायेंगे और विश्व की महाशक्तियो से भी हमारा कोई संबंध नही रहेगा। लेकिन मेरी समझ में राष्ट्रकुल से जुड़ने के बाद यह रास्ता आसान हो जायगा कि हम विश्व की अन्य ताकतो और पड़ोसी देशों के नजदीक आ सके।"[14]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बढाने के अतिरिक्त भी राष्ट्रकुल की उपयोगिताए थी। विभाजन के तत्काल बाद पाकिस्तान राष्ट्रकुल का सदस्य बन गया था। वह इस मंच का प्रयोग

विभाजनोत्तर समस्याओं के लिये अपने पक्ष में कर सकता था। मुख्य रूप से कश्मीर के प्रश्न पर वह समर्थन जुटा सकता था। उस प्रभाव को समाप्त करने के उद्देश्य में भी यह सदस्यता सहायक हो सकती थी।

ब्रिटेन एवं अन्य देशों से विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर सहयोग भारत के लिये उपयोगी था ही। सैन्य तथा प्रशासनिक क्षेत्रों में भारत की प्रारम्भिक वर्षों में ब्रिटेन पर निर्भरता भी भारत को राष्ट्र मंडल का सदस्य बनने के लिये आधार प्रदान कर रही थी।

नेहरू ने उपरोक्त समस्त तर्कों के आधार पर राष्ट्रकुल की उपयोगिता निरुपित की। राष्ट्रकुल को वे केवल स्वतंत्र एवं प्रभुता-सम्पन्न राष्ट्रों का समुदाय ही मानते थे। स्वतंत्रता के पूर्व का ब्रिटिश प्रभुत्व राष्ट्रकुल से समाप्त हो चुका था। राष्ट्रकुल में नेहरू के प्रभावशाली व्यक्तित्व की उपस्थिति ने इस संस्था का स्वरूप ही बदल दिया था। 1957 में कनाडा के उच्चायुक्त ने राष्ट्र मंडल पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था कि -- "यदि राष्ट्रकुल का कोई केन्द्र है तो वह नई दिल्ली है, लन्दन नहीं।"[15]

इस तरह नेहरू युग में भारत ने न केवल राष्ट्र मंडल के स्वरूप को नये आयाम दिए वरन इस समुदाय में नेहरू ने अपनी प्रभावशाली भूमिका भी निभाई।

नेहरू युग की विदेशनीति का एक महत्वपूर्ण पहलू नेहरू की पाकिस्तान-नीति थी। स्वतंत्रता के साथ ही भारत के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण को केवल तत्कालीन परिस्थितियों में राजनीतिक हल के रूप में ही स्वीकार किया था लेकिन दुर्भाग्यवश विभाजन के साथ ही इस उपमहाद्वीप के इन दोनों देशों में विभाजनोत्तर समस्याओं के कारण मतभेद एवं मनभेद की स्थितियां निर्मित हो गईं। सम्पत्ति के बटवारे शरणार्थियों की समस्या तथा नदी-जल विवाद का हल तो समय के साथ खोजा जा सकता था और वह नेहरू के उदार दृष्टिकोण से अपेक्षया अधिक त्याग करते हुए भी खोज लिया गया, किन्तु अक्टूबर 1947 में काश्मीर पर पाक आक्रमण ने दोनों देशों के बीच एक ऐसे विवाद को जन्म दे दिया जिसका हल आज तक नहीं खोजा जा सका है तथा यही काश्मीर भारत-पाक सम्बन्धों के स्थायी सामान्यीकरण की दिशा में आज तक बाधा बना हुआ है। इतना ही नहीं काश्मीर समस्या के कारण भारत के विदेश-सम्बन्ध भी प्रभावित हुए है। नेहरू युग में काश्मीर के प्रश्न पर अमेरिका तथा ब्रिटेन ने पाकिस्तान के दृष्टिकोण का समर्थन किया। चीन ने भी पाक-समर्थक दृष्टिकोण से भारत को क्षति पहुंचाई। सोवियत संघ ही एकमात्र बड़ी शक्ति के रूप में भारत के साथ रहा वह भी पर्याप्त विलम्ब से। यहां यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि स्वतंत्रता अधिनियम 1947 के अन्तर्गत काश्मीर ने जो भौगोलिक रूप से भारत व पाकिस्तान से जुड़ा हुआ है, अपने को दोनों में से किसी भी देश के साथ विलीन न करने का निर्णय लिया था। नेहरू ने स्वयं स्वीकार किया था कि -- "हमने काश्मीर पर भारत में विलीन होने के लिये लेशमात्र भी दबाव नहीं डाला क्योंकि हम काश्मीर की कठिन स्थिति से परिचित हैं। हम सतह पर विलीनीकरण की अपेक्षा वहां के

निवासियों से मधुर सम्बन्ध बनाए रखने के पक्ष में थे।" [16] काश्मीर ने पाकिस्तान से अपने यातायात एव व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे किन्तु शीघ्र ही पाकिस्तान ने काश्मीर पर विलीनीकरण हेतु अप्रत्यक्ष दबाव डालते हुए आवश्यक वस्तुए भेजना बन्द कर दिया। इतना ही नही सितम्बर-अक्टूबर में पाकिस्तानी सीमा से काश्मीर पर कबाइलियो द्वारा हिंसक गतिविधियो एव बाद में सशस्त्र आक्रमण करने का निर्णय भी पाकिस्तान सरकार ने किया।

सितम्बर में समाचार मिले कि उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त पर पाकिस्तान ने कबाइलियों को काश्मीर की सीमा पार करने के लिये इकट्ठा किया और अक्टूबर 47 के प्रारम्भ में घटनाओ ने गम्भीर मोड ले लिया। जम्मू-काशमीर मे पश्चिमी-पजाब से सैनिक टुकडियो ने प्रवेश करते हुए लूटमार आगजनी और हत्याओ का सिलसिला प्रारम्भ करते हुए गाँवों और शहरों मे तबाही की स्थिति पैदा कर दी।[17]

आगे चलकर 24,25 26 अक्टूबर को बडे पैमाने पर पाकिस्तान द्वारा श्रीनगर पर आक्रमण किये गये। "ऐसी स्थिति मे जम्मू-काश्मीर के तत्कालीन महाराजा श्री हरिसिंह एव प्रधानमत्री शेख अब्दुल्लाह ने काश्मीर के भारत मे विलीनीकरण के लिये आग्रह करते हुए देश की सशस्त्र सेनाए भेजकर हस्तक्षेप का आग्रह किया।"[18]

काश्मीर के भारत मे विलीनीकरण के बाद भारत ने अपनी सशस्त्र सेनाए भेजकर काश्मीर घाटी को विध्वस से बचा लिया।

30 सितम्बर, 1948 को नेहरु ने काश्मीर पर पाक आक्रमण की समस्या को सयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद मे पेश किया और 31 दिसम्बर 1948 की अर्धरात्रि मे युद्ध-विराम के लिये नेहरु ने अपनी सहमति प्रदान की। इस बीच काश्मीर के पाक अधिकृत क्षेत्र मे पाकिस्तानी सेनाओ की वापसी के लिये भी नेहरु ने प्रतीक्षा नही की। वास्तव मे नेहरु पाकिस्तान के साथ पूर्ण युद्ध के पक्ष मे नही थे। युद्ध कूटनीति के अनुभव का अभाव भी एक कारण था। वे यह पूर्वानुमान नही लगा सके कि काश्मीर की यह समस्या उपमहाद्वीप मे शीतयुद्ध की स्थिति निर्मित कर देगी।

सयुक्त राष्ट्र सघ की सुरक्षा परिषद मे इस समस्या पर कोई हल नही खोजा जा सका। सयुक्त राष्ट्र भारत-पाकिस्तान आयोग ने दो प्रस्ताव पारित किये साथ ही सर ओवन डिक्सन और डा० फ्रेंक ग्राहम ने मध्यस्थता भी की व अनेक सुझाव दिये किन्तु पाकिस्तान ने कथित आजाद काश्मीर से अपनी सेनाए नही हटाई। नेहरु ने इस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा था कि -- "हम पिछले वर्षो मे समस्या के हल के लिये धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा कर रहे है किन्तु सुरक्षा परिषद ने कभी भी काश्मीर समस्या के सत्य पहलुओं पर विचार नहीं किया है क्योंकि सुरक्षा परिषद ने आधारभूत तथ्यों की उपेक्षा करते हुए समस्या के हल के गलत प्रयास किये है।"[19]

काश्मीर समस्या पर सयुक्त राष्ट्र सघ मे अनेक बार विचार किया गया। सयुक्त

राष्ट्र भारत-पाक आयोग का गठन किया गया, जिसने 1948 में 13 अगस्त को युद्ध-विराम के लिये प्रस्ताव रखा, जिसे दोनों पक्षों ने स्वीकार कर लिया। सुरक्षा परिषद ने एक अमेरिकन नागरिक चेस्टर निमिट्ज को जनमत संग्रह हेतु भेजा, किन्तु कोई हल नहीं निकला। सुरक्षा परिषद ने अपने अध्यक्ष मेकनाटन की एक योजना रखी, यह भी सर्वानुमति प्राप्त नहीं कर सकी। इसी तरह डिक्सन मिशन ने भी प्रयास किये किन्तु समाधान नहीं खोजा जा सका। इन सारे प्रयासों में मूल त्रुटि यही थी कि भारत व पाकिस्तान को एक ही स्तर पर रखते हुए पाकिस्तान को आक्रमणकारी घोषित नहीं किया गया था।

इसके पश्चात् 30 अप्रैल, 1951 को सुरक्षा परिषद ने ग्राहम मिशन को मध्यस्थता हेतु भेजा किन्तु इसी बीच वयस्क मताधिकार के आधार पर काश्मीर के लिये संविधान सभा का निर्वाचन हुआ, जिसने 1952 में काश्मीर का नया संविधान बनाया। जुलाई, 1952 में भारत और काश्मीर सरकार के बीच संवैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इस समझौते से स्थिति बदल गई। जनमत संग्रह स्वयमेव अप्रासंगिक होने लगा। ग्राहम-मिशन ने अपने प्रतिवेदन में जनमत संग्रह के लिये एक रूपरेखा प्रस्तुत की किन्तु इसमें भी पाकिस्तान को आक्रामक घोषित नहीं किया गया और फिर संवैधानिक समझौते के बाद काश्मीर, भारत का अभिन्न अंग बन गया था इसलिये भी ग्राहम-मिशन के प्रस्तावों को भारत ने अस्वीकार कर दिया। ग्राहम के ही इस सुझाव पर कि भारत व पाकिस्तान के मध्य प्रत्यक्ष वार्ताएं ही समस्या का हल खोज सकती है। लन्दन, कराची एवं नई दिल्ली में 1953 में वार्ताएं हुई जिनमें जनमत संग्रह के लिये 1954 में स्वीकृति भी हुई किन्तु 1954 में पाकिस्तान द्वारा अमेरिका से सैन्य सहायता लेने एवं सैन्य-संधि संगठनों की सदस्यता स्वीकार कर लेने के कारण पुनः गतिरोध उत्पन्न हो गया। भारत ने स्पष्ट रूप से अपना मत व्यक्त किया कि काश्मीर के हल के लिये पाकिस्तान सैन्य-साधन जुटा रहा है तथा अमेरिका के पाकिस्तान को शस्त्र देने के निर्णय से समस्या का स्वरूप ही बदल चुका है इसलिये जनमत संग्रह अब अप्रासंगिक हो गया है।

मई, 1955 में नेहरू ने पाकिस्तान के प्रधानमंत्री से अपनी वार्ता के समय प्रथम बार यह प्रस्ताव किया कि 1 जनवरी, 1949 की युद्ध-विराम रेखा को अन्तिम रूप से मान्यता प्रदान करके समस्या का अन्तिम हल खोजा जा सकता है क्योंकि अमेरिका की पाकिस्तान को सैनिक सहायता से काश्मीर में जनमत संग्रह का आधार एवं नींव ही समाप्त हो गई है।[20]

पाकिस्तान द्वारा आंग्ल-अमेरिकी सैनिक गुट में सदस्यता प्राप्त कर लेने के कारण काश्मीर समस्या शीतयुद्ध का अंग बन गई। पाक अधिकृत काश्मीर में अमेरिका को सैन्य सुविधाओं की आवश्यकता थी जिससे वह प्रतिस्पर्धी महाशक्ति पर अंकुश रख सके। इसी

कारण सोवियत संघ ने अब काश्मीर के प्रश्न पर भारत का स्पष्ट समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया। संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद मे सोवियत संघ ने काश्मीर के प्रश्न पर भारत के समर्थन मे निषेधाधिकार का प्रयोग किया। उधर 1955 मे जब सोवियत प्रधानमंत्री बुल्गानिन भारत आए तो उन्होंने कहा कि काश्मीर भारत का उत्तरी भाग है और काश्मीरी भारत के लोगों के ही अंग हैं।[21]

सोवियत साम्यवादी दल के महासचिव ख्रुश्चेव ने तो कठोर शब्दों मे यह मत व्यक्त किया कि--

> "काश्मीर के लोग साम्राज्यवादी शक्तियों का खिलौना नही बनना चाहते है किन्तु कुछ शक्तियाँ काश्मीर के मामले पर पाकिस्तान के समर्थन का बहाना बनाकर यही कर रही हैं। जब साम्राज्यवादी शक्तियों ने भारत का विभाजन करके भारत को दो भागो, भारत और पाकिस्तान को बाट दिया तो हमें बहुत दुख हुआ। काश्मीर का प्रश्न भारतीय गणराज्य का प्रश्न है और इसका काश्मीर के लोगो ने पहले ही निर्णय ले लिया है।"[22]

काश्मीर की संविधान सभा ने भारत के काश्मीर मे विलय का अनुमोदन करते हुए 26 जनवरी, 1957 मे काश्मीर के लिये नया संविधान क्रियान्वित कर दिया तो काश्मीर की समस्या का स्वरूप पूर्णत परिवर्तित हो गया। जनमत संग्रह अब लेशमात्र भी आवश्यक नही रह गया । भारत के गृहमंत्री गोविन्द वल्लभ पन्त ने अपने वक्तव्य मे कहा कि - "काश्मीर के लोगों ने अपनी संविधान सभा द्वारा अपना मत प्रकट कर दिया है इसलिये अब किसी जनमत संग्रह का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता।"[23-1]

जहा 1947 में भारत ने काश्मीर के विलीनीकरण को स्वीकारते हुए अपनी ओर से यह शर्त रखी थी कि स्थितिया सामान्य होने ही जनमत संग्रह करवाया जायगा और इसके साथ ही पाकिस्तान के काश्मीर पर आक्रमण का प्रश्न स्वय भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ मे प्रस्तुत किया था वही बदली हुई परिस्थितियो मे तथा आग्ल-अमरिकी समूह के संयुक्त राष्ट्र पर प्रभाव एव समस्या का हल न हो पाने तथा पाकिस्तान द्वारा उपमहाद्वीप मे शीतयुद्ध को पनाह देने के कारण समस्या का मूल स्वरूप निश्चय ही परिवर्तित हो गया। इन सबके अतिरिक्त भारत ने पाक-अधिकृत काश्मीर के लिये अपनी ओर से शक्ति का प्रयोग न करना उचित समझा तथा जब काश्मीर की संविधानिक सभा ने काश्मीर के भारत मे विलय का अनुमोदन किया तो जनमत संग्रह की अनावश्यक दलील भारत के समक्ष कोई अर्थ नही रखती थी। नेहरू ने 1956 मे बदली हुई स्थिति का इंगित करते हुए कहा था कि -- "जनमत संग्रह का प्रश्न स्पष्ट रूप से इस शर्त के साथ सम्बद्ध था कि पाकिस्तान काश्मीर से अपनी सेनाए हटा लेगा। पिछले 9 वर्षो मे पाकिस्तान यह शर्त पूरी करने मे असमर्थ रहा है। इस बीच काश्मीर का स्वरूप बिल्कुल बदल गया है जिसका मुख्य कारण

पाकिस्तान को अमेरिकी सैन्य सहायता है जिससे उसकी सैन्य शक्ति तेजी से बढ़ गई है। इस सैनिक सहायता से और उसकी सैनिक-संधि की सदस्यता से काश्मीर में जनमत सग्रह का मूल आधार ही नष्ट हो गया है।"[24]

नेहरू के जनमत सग्रह के विचार को अमान्य करने तथा काश्मीर संविधान सभा द्वारा भारत में काश्मीर के विलय के निर्णय की प्रतिक्रिया स्वरूप 1957 में पाकिस्तान ने पुन काश्मीर का प्रश्न सुरक्षा परिषद में रखा। इसमें अमेरिका ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा क्यूबा द्वारा जनमत सग्रह के लिये गुन्नार जारिंग का मनोनीत करते हुए सयुक्त राष्ट्र से सेनाएं भेजने की बात कही गई। यह प्रस्ताव सोवियत वीटो द्वारा रद्द कर दिया गया। फिर सेना का सुझाव हटाते हुए एक और प्रस्ताव पारित किया गया। जारिंग ने पाकिस्तान व भारत की यात्रा की किन्तु उन्हें समस्या बहुत उलझी हुई प्रतीत हुई तथा उनके प्रयास असफल हो गये। जारिंग न "पंच-निर्णय" का सुझाव रखा, जिसे भारत ने अमान्य कर दिया। इसी के साथ सुरक्षा परिषद म भारत के विरुद्ध एक और शिकायत दर्ज हुई, जिसम कई आरोप थे। सुरक्षा परिषद न पुन ग्राहम-मिशन भेजा। ग्राहम ने पुन दोनों देशों को समान स्तर पर रखा तथा पाकिस्तान ने अपनी सेनाएं नहीं हटाई, इसलिये भारत ने इस मिशन के प्रस्तावों को भी अमान्य कर दिया। 1962 म आयरलैण्ड ने पुन पाकिस्तान द्वारा सुरक्षा परिषद में मामला उठाये जाने पर प्रस्ताव रखा कि 13 अगस्त 1948 के अनुसार काश्मीर में जनमत सग्रह की व्यवस्था की जाए तथा ऐसा कोई कार्य न किया जाए जिससे काश्मीर म शांति भग हो। उल्लेखनीय यह है कि पाक-अधिकृत काश्मीर से अपनी सेनाएं हटाए बिना पाकिस्तान जनमत सग्रह की माग करता था इसलिये पुन भारत ने इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया और कहा कि -- "पाकिस्तान ने स्वय 13 अगस्त, 1948 के प्रस्ताव का पालन नहीं किया है और अब चूँकि काश्मीर की संविधान सभा ने भारत में काश्मीर विलय को अन्तिम रूप दे दिया है इसलिये इस जनमत सग्रह की कोई आवश्यकता नहीं है।"[26] आयरलैण्ड का यह प्रस्ताव सोवियत वीटो के कारण पारित नहीं हो सका।

नेहरू युग में पाकिस्तान से भारत के सम्बन्ध काश्मीर के प्रश्न पर पूरी तरह उलझे रहे। काश्मीर की इस समस्या के सन्दर्भ म भारत के मित्र और शत्रुओं का स्पष्ट विश्लेषण किया जा सकता है। यहीं प्रश्न महत्वपूर्ण है कि यदि काश्मीर के प्रश्न का अन्तर्राष्ट्रीयकरण नहीं किया जाता तो क्या भारतीय विदेशनीति निर्माताओं को अपनी ऊर्जा व्यय करने के लिये इतना दीर्घ अन्तराल लगाना पडता ? अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाने वाले नेहरू के लिये तो यह मूलत सम्भव ही नहीं था। पाकिस्तान ने काश्मीर को आधार बना कर न केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत की छवि बिगाडने में सफलता प्राप्त की वरन् स्वय के सैन्य दृष्टि से सक्षम बनाते हुए इस प्रश्न पर पहले अमेरिका, ब्रिटेन और फिर चीन को भारत के विरोध में ला खड़ा किया। अब यह तय है

कि काश्मीर का पाक अधिकृत क्षेत्र (30 हजार वर्गमील भूमि) पाकिस्तान ने हमेशा के लिये हथिया ली है। आगे चलकर होने वाला शिमला समझौता भी इस तथ्य को अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करता है।

नेहरू की चीन-नीति दूरदर्शी यथार्थवाद पर आधारित होते हुए भी पूर्णतः असफल रही। या यह कहा जा सकता है कि चीन-नीति नेहरू की विदेशनीति का सर्वाधिक दुःखद अध्याय था। मैंने दूरदर्शी यथार्थवाद का प्रयोग इसलिये किया कि नेहरू जानते थे चीन एक सशक्त पड़ौसी राष्ट्र है, "आकार" और "जनसंख्या" की दृष्टि से सशक्त होने के अतिरिक्त इसका अभ्युदय सत्ता बन्दूक की नली से निकलती है के सूत्र-वाक्य के आधार पर हुआ और दूसरी ओर भारत की स्वतन्त्रता तक अहिंसात्मक शैली के आन्दोलनों द्वारा प्राप्त हुई थी। इसलिये नेहरू द्वारा चीन के उदय के साथ ही बल्कि उससे बहुत पहले ही चीन के प्रति सखाभाव प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया गया था। लगभग 2 हजार वर्षों से भारत और चीन के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण चले आ रहे थे। भारत ने 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्त की तथा 1 अक्टूबर 1949 को चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। चीन की नई साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान करने वाला भारत दूसरा गैर-साम्यवादी देश था। भारत को आशा थी कि इस मान्यता से भारत व चीन की स्थायी मैत्री को शक्ति प्राप्त होगी तथा एशिया के स्थायित्व और विश्वशांति की स्थापना में योगदान दिया जा सकेगा। चीन के प्रति भारत के निरन्तर मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण का प्रमाण हम निम्न घटनाओं से मिलता है 26

(1) भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन की सदस्यता के लिये 1950 से 1958 तक नौ बार प्रस्ताव रखे।

(2) जून, 1954 में चाउ-एन-लाई ने भारत की तथा अक्टूबर 1954 में नेहरू ने चीन की यात्राएं की।

(3) भारत और चीन के बीच कई सांस्कृतिक प्रतिनिधि मंडलों का आदान-प्रदान हुआ।

(4) 14 अक्टूबर, 1954 को भारत और चीन के मध्य व्यापार समझौता हुआ।

(5) औद्योगिक एवं अन्य प्रदर्शनियों में भाग लिया।

(6) भारत के तकनीकी विशेषज्ञों ने चीन जाकर कृषि की स्थिति का अध्ययन किया।

(7) भारत-चीन मैत्री संघ की स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त चीन के अन्तर्राष्ट्रीय हितों की पूर्ति एवं रक्षा के लिये भी भारत ने महत्त्वपूर्ण प्रयास किये।

भारत ने संयुक्त राष्ट्र की महासभा में उस प्रस्ताव के विरोध में मत दिया जिसमें चीन को कोरिया संकट में आक्रमणकारी निरूपित किया गया था। भारत ने सेन फ्रांसिस्को में 1951 में आयोजित इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया जो जापान के साथ शांति संधि

करने के लिये आयोजित किया गया था। भारत की मान्यता थी कि सुदूरपूर्व के इस महत्वपूर्ण सम्मेलन में चीन को बाहर रखकर उसकी उपेक्षा करना न्यायसंगत नहीं होगा। 1953 में कुद्ववदिया के प्रश्न पर भी संयुक्तराष्ट्र संघ की महासभा में भारत ने चीन के दृष्टिकोण को सम्मिलित करवाने के उद्देश्य से अपना प्रस्ताव रखा।

भारत ने तिब्बत के इस मध्यवर्ती राज्य को चीन के अंग के रूप में स्वीकारने वाला एक समझौता 29 अप्रैल 1954 को किया। चीन ने क्रान्ति के बाद सर्वप्रथम तिब्बत पर अपना नियंत्रण स्थापित करने का कार्य किया। भारत की प्रारंभिक नीति तिब्बत और चीन के बीच शान्तिपूर्ण समझौता की थी जब 25 अक्टूबर 1950 को चीन की सेनाओं ने तिब्बत की स्वतंत्रता के नाम पर सैन्य हस्तक्षेप किया तो भारत ने चीन से मैत्री के मोह में उसे भी सहन कर लिया। केवल प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिये परस्पर आक्रोशपूर्ण पत्र-व्यवहार ही हुआ था। किन्तु जब तिब्बत ने संयुक्त राष्ट्र में चीनी आक्रमण के विरुद्ध सहायता की माग की तथा संयुक्त राष्ट्र महासभा में इस पर विचार हुआ तो भारत ने इस पर आपत्ति करते हुए अपना वही मत दोहराया कि इस समस्या का हल चीन और तिब्बत के बीच परस्पर शांतिपूर्ण बातचीत से खोजा जा सकता है।[27]

यद्यपि भारत यह अनुभव कर रहा था कि तिब्बत के प्रश्न से उसकी सीमा का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है तथा इसलिए नेहरू ने इस अवधि में बार-बार घोषणाएं की थी कि भारत अपनी सीमा पार करने के किसी प्रयास को सहन नहीं करेगा[28] तथा अपना यह मत दोहराया था कि मैकमोहन रेखा तिब्बत के क्षेत्र में भारत और चीन की सुनिश्चित सीमा रेखा है। भारत पर किसी भी प्रकार के आक्रमण का पूर्ण शक्ति के साथ प्रतिरोध किया जाएगा।[29]

भारत की तत्कालीन नीति की व्याख्या करते हुए पणिक्कर ने लिखा है कि--

> "उस समय भारत की नीति इस विचार से शासित हो रही थी कि नये चीन और शेष विश्व में परस्पर समझ एवं निकटता की अत्यन्त आवश्यकता है। भारत शांति के एक ईमानदार दलाल के रूप में कार्य करना चाहता था इसलिये तिब्बत पर चीन के आधिपत्य के बाद भी भारत चीन और पश्चिमी जगत के दशा में निकटता लाने का प्रयत्न करता रहा तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर चीन का साथ दिया।[30]

29 अप्रैल 1954 को तिब्बत के प्रश्न पर सम्पन्न होने वाले भारत-चीन समझौता भारत की चीन के प्रति मैत्री स्थापित करने के असाधारण प्रयासों की ही परिणति था। भारत ने 29 अप्रैल, के इस ऐतिहासिक समझौते के माध्यम से तिब्बत के सन्दर्भ में जो अधिकार स्वतंत्रता के समय ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत को प्राप्त हुए थे वे समस्त अधिकार चीन को सौंपते हुए तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। इस समझौते में दोनों देशों ने सीमा पर व्यापार व्यवसाय और धार्मिक स्थानों की यात्रा की

स्वीकृति दी।[31]

पचशील के पाच सिद्धान्तो का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे प्रयोग इसी समझौते की प्रस्तावना मे किया गया। इसमे कहा गया कि दोनो देशो के परस्पर तथा दृष्टिकोण निम्न सिद्धान्तो पर आधारित रहगे

1 एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता एव सप्रभुता का सम्मान।
2 अनाक्रमण।
3 एक-दूसरे के आन्तरिक मामलो म अहस्तक्षेप।
4 समानता एव पारस्परिक लाभ तथा
5 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।[32]

इसी तारतम्य म और कई महत्वपूर्ण समझौते हुए जिनम भारतीय सेनाए तिब्बत स लौट आई तथा भारतीय सम्पत्ति तथा सेवाए चीन को हस्तान्तरित कर दी गई।[33]

एक माह बाद 29 जून 1954 को नेहरू और चाऊ-एन-लाई ने एक सयुक्त विज्ञप्ति में कहा कि-- "भारत और चीन के बीच मैत्री विश्वशाति म सहायक होगी तथा दोनो देशो के शान्तिपूर्ण विकास के साथ ही एशिया के अन्य देशो के विकास में भी सहायक होगी।[34]

पचशील का यह समझौता भारत-चीन सम्बन्धो के मैत्रीयुग का चरम उत्कर्ष था। नेहरू यथार्थ मे यह चाहते थे कि भारत और चीन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म साथ मिलकर कार्य करना चाहिए।[35] चीन के प्रति नेहरू की उदारनीति का यह सबसे बड़ा प्रमाण था कि उन्होंने फारमोसा पर चीन के प्रभुत्व को उचित बतलाया था।[36] 21 फरवरी, 1955 को भारत के राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद न घोषणा की थी कि भारत सरकार केवल एक ही चीन को स्वीकार करती है जिसका प्रतिनिधित्व पिपुल्स रिपब्लिक की सरकार करती है।[37] पचशील के समझौते स लेकर 1958 तक भारत चीन मैत्री यथावत रही। दोनो देशो के नेताओ ने उपनिवेशवाद सैनिक सगठनो तथा पश्चिमी देशो की एशिया के कई मामलो के प्रति नीति का सार्वजनिक रूप स विरोध किया। चाऊ की 1954 जून की भारत यात्रा एव नेहरू की अक्टूबर, 1954 की चीन यात्रा ने इन सम्बन्धो को और मजबूत बनाया। यद्यपि नेहरू निरन्तर मेकमोहन रेखा को भारत चीन की सीमा रेखा बतलाते रहे किन्तु चीन ने उस पर कभी ध्यान नहीं दिया। चीन की नेहरू यात्रा को चीन के पत्र पीपुल्स डेली ने एशिया के सन्दर्भ मे महत्वपूर्ण घटना निरूपित किया।[38] 1955 मे वाडुग सम्मेलन मे दोनो नेता मिले। चाऊ-एन-लाई की 1956 की दीर्घ पडाव की यात्रा ने इन सम्बन्धों को और मजबूत बनाया। चीन एव भारत की ये मित्रता कई बिन्दुओ पर सहमति के कारण सुदृढ हुई।[39] भारत ने ताईवान एव अन्य द्वीपों को चीन का ही अग

निरूपित किया।[40] भारत के प्रधानमंत्री नेहरू ने अपनी एक पत्रकार परिषद में ताईवान (फारमोसा) पर चीन के दावे को स्वीकार किया।[41] इसी तरह चीन ने गोआ के प्रश्न पर भारत का पूर्ण समर्थन किया। 1956 के गणतंत्र दिवस पर भारतीय राजदूत द्वारा आयोजित एक स्वागत समारोह में चाऊ-एन-लाई ने गोआ पर भारत के दावे को सही घोषित किया।[42] दोनों देशों ने पश्चिमी सैन्य संधि संगठनों की भर्त्सना की।

यह कहा जा सकता है कि यह द्विपक्षीय नैकट्य भारत ही नहीं एक सीमा तक चीन के प्रयत्नों के कारण भी स्थापित हुआ था। नेहरू चीन को विश्व से अलगाव की स्थिति से मुक्त करने के प्रयास कर रहे थे जिसके उत्तर मे चीन अपने सद्भावपूर्ण दृष्टिकोण से भारत को आश्वस्त कर रहा था।

किन्तु तस्वीर का दूसरा पहलू अन्यथा स्वरूप ग्रहण कर रहा था। 1953 मे तथा उसके बाद के वर्षों मे चीन ने नेफा, भूटान एव लद्दाख के क्षेत्रों की भारतीय भूमि को अपने क्षेत्र में दर्शाते हुए नक्शे प्रकाशित किये। चीन द्वारा यह क्रिया प्रतिवर्ष दोहराई जाती रही तथा प्रतिवर्ष और अधिक भारतीय क्षेत्र चीन अपने नक्शे में दर्शाता रहा। भारत द्वारा निरन्तर आपत्ति प्रकट की गई, विरोध-पत्र भेजे गए तथा यह दावा किया गया कि मेकमोहन रेखा ही भारत और चीन के मध्य वास्तविक सीमा रेखा है किन्तु चीन ने 1956 तक कभी इस पर ध्यान नही दिया। दिसम्बर 1956 मे चाउ-एन-लाई-नेहरू वार्ता के अन्त में प्रकाशित विज्ञप्ति मे पहली बार चीन ने भारत से उसक सम्बन्धों का ध्यान रखते हुए मेकमोहन लाइन को सीमा रेखा स्वीकार तो किया किन्तु यह भी टिप्पणी की कि यह रेखा वैधानिक नही थी। एक प्रस्ताव मे कहा गया --

> "श्री चाउ इन लाई मेकमोहन लाइन को सही सीमा स्वीकार नहीं करते थे क्योंकि यह ब्रिटिश शासन द्वारा निर्धारित की गयी थी, फिर भी सीमा निर्धारण के आधार स्वरूप इसे दोस्ताना तरीके से मान लिया था। यह सीमा पड़ौसी देश बर्मा और चीन तथा भारत के मध्य रखांकित थी। इसके स्वीकार करने के समय तिब्बत के अधिकारियो से इसके बारे मे पूछताछ नही की गयी थी यद्यपि इस बारे में चर्चा हो चुकी थी।"[43]

लेकिन जैसा कि स्वय इस प्रस्ताव मे चीन ने यह मत व्यक्त किया था कि मेकमोहन रेखा अवैधानिक थी, शीघ्र बाद ही चीन ने पुन नक्शों मे भारतीय भू-भाग दर्शाने का क्रम जारी रखा। इसी मध्य दोनो देशो द्वारा एक-दूसरे के सैनिकों द्वारा सीमा पार करने के आरोप-प्रत्यारोपों का क्रम भी प्रारम्भ हो गया। इसके बाद भी सतह पर मैत्री का प्रदर्शन दोनों देशों द्वारा जारी रहा। 1957-1958 मे भी कई बिन्दुओं पर असहमति के बाद भी दोनों देशों की मैत्री बनी रही।

मार्च, 1959 के बाद चीन से भारत की मैत्री का युग पराभव की ओर बढने लगा। सतह पर मैत्री तथा सतह के नीचे के मतभेद विपरीत स्थितियो मे पहुँचने लगे अर्थात् मैत्री सतह के नीचे चली गई एव मतभेद सतह पर आ गए।

मार्च, 1959 में तिब्बत मे सघर्ष हुआ तथा दलाईलामा ने भारत में शरण ली। उसी समय दोनो देशों के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न होने लगी, जिसे नेहरू टालना चाहते थे।[44] इसी बीच भारत ने चीन द्वारा सीमा पार करने तथा काश्मीर के लद्दाख क्षेत्र मे कब्जा करने पर भारत[45] ने आपत्ति भेजी। उधर पुन चीन ने और अधिक विशाल भूक्षेत्र अपने नक्शों मे दिखाया। भारत की ओर से प्रेषित की गई आपत्ति पर पुन चीन ने अपना परम्परागत उत्तर दोहराते हुए कहा कि चीन को नक्शे ठीक करने का समय नहीं मिला।

मार्च, 59 के बाद भारत और चीन के मध्य शीतयुद्ध की शुरूआत हो गई। इस शीतयुद्ध का मूल कारण तो सीमा का विवाद ही था। दोनो देशों का दृष्टिकोण सीमा के सन्दर्भ मे ठीक विपरीत था। भारत मेकमोहन रेखा पर बल देता था और चीन उसे मूलत अस्वीकार करते हुए यह प्रतिक्रिया व्यक्त करता था कि दोनो देशो के बीच कभी सीमा निर्धारित ही नही की गई।[46]

मार्च, 1959 में चीन अधिकृत तिब्बत मे विद्रोह हुआ। 9 मार्च, को ल्हासा मे तिब्बत की स्वतत्रता की घोषणा करते हुए चीन-तिब्बत के मध्य सम्पन्न हुए सत्रह-सूत्रीय समझौते को अवैध एव रद्द करार दिया गया तथा दलाईलामा के नये शासन को अध्यक्ष घोषित किया। चीन ने तत्काल ही उक्त विद्रोह को कुचल दिया। दलाईलामा ने अपने साथियो सहित भारत में प्रवेश किया। भारत ने उन्हें राजनीतिक शरण दी।

इस घटना के तुरन्त बाद चीन ने नेफा, लद्दाख क्षेत्र में लाग्जू पर नियत्रण स्थापित कर लिया और भारत द्वारा इन घटनाओ का ध्यानाकर्षण कराए जाने पर 8 सितम्बर, 59 को चाउ-एन-लाई ने नेहरू का पत्र लिखते हुए मेकमोहन रेखा को पूर्णत अस्वीकार कर दिया एव भारत की 40 हजार वर्गमील भूमि पर दावा किया। इस पत्र मे चीनी प्रधानमत्री ने लिखा कि चीन की सरकार कथित मेकमोहन रेखा का पूर्णत अस्वीकार कर दिया एव भारत की 40 हजार वर्गमील भूमि पर दावा किया। इस पत्र मे चीनी प्रधानमत्री ने लिखा कि चीन की सरकार कथित मेकमोहन रेखा को मान्यता देने को तैयार नही है। इस सीमा पर जो 40 हजार वर्गमील क्षेत्र भारत ने अपना मान रखा है वह वास्तव मे चीन का भाग है। भारत और चीन के बीच अनौपचारिक रूप से कभी सीमा निर्धारित नही हुई। इसके बाद भी चीनी सेनाओ ने परम्परागत सीमा अथवा मेकमोहन रेखा को कभी पार नही किया। भारत ने लोग्जू पर अवैध रूप से कब्जा कर रखा है तथा तिब्बत के शस्त्र विद्रोही डाकुओ को शरण देने के लिये तिब्बत पर आक्रमण किया है।[47]

इसके बाद स्थितिया निरन्तर बिगडती चली गई। नेहरू-चाउ वार्ता भी हुई लेकिन हल नहीं निकला। 59 से 62 के मध्य समूची सीमा पर कई बार सैनिक झडपे हुई। चीन

निरन्तर विभिन्न क्षेत्रों का आक्रमण कर अधिकार स्थापित करता रहा। 1961 में यह सर्वाधिक हुआ। परिणाम स्वरूप दोनों देशों की बीच तनाव बढ़ता गया। इस बीच यात्राओं एवं वार्ताओं का भी दौर चला लेकिन निरर्थक रहा।

एक और चीन भारत सरकार विवादों का शांतिपूर्ण हल खोजने के लिये प्रयत्नशील थी दूसरी ओर चीन लगातार सैनिक गतिविधियों का विस्तार करते हुए युद्ध की ओर बढ़ रहा था। और अन्ततः 20 अक्टूबर, 1962 को चीन ने भारत की उत्तरी सीमा पर पूर्व और पश्चिम दोनों और सशक्त आक्रमण कर दिया। पंचशील के समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले एक मित्र देश का यह आक्रमण भारत के लिये असाधारण घटना थी। विश्वशांति की स्थापना के लिये आजीवन प्रयत्नशील रहने वाले नेहरू के देश पर यह आक्रमण निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीयता के मानदण्डों का सरासर उल्लंघन था।

भारत के रक्षामंत्री श्री मेनन ने घोषणा की कि हम चीनी आक्रमण के विरुद्ध लड़ाई जारी रखेंगे और आत्म-समर्पण के आधार पर उनसे कोई बातचीत नहीं करेंगे।[48] नेहरू ने भी कहा कि हम शत्रु के आक्रमण के समक्ष अपना सर नहीं झुका सकते चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो।[49]

यह युद्ध 21 नवम्बर, 1962 तक चला। इस एक माह में चीन ने लद्दाख में 2500 वर्गमील क्षेत्र अपने अधिकार मे कर लिया। इसके अतिरिक्त 12 हजार वर्गमील क्षेत्र पहले से ही चीन के कब्जे में था। नेफा की ओर भी चीन ने 20 हजार वर्गमील क्षेत्र अपने अधिकार मे ले लिया। एवं 21 नवम्बर, 62 को एकपक्षीय युद्धविराम की घोषणा कर दी।[50]

भारत चीन से इस युद्ध मे पराजित हुआ। नेहरू की चीन नीति पूर्णत असफल हुई। भारत चीन युद्ध भारत के लिये दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी। विश्व के समस्त शांतिप्रिय राष्ट्रों को भी यह देखकर आश्चर्य हुआ कि विश्वशांति में दृढ आस्था रखने वाले भारत पर चीन ने अचानक ही युद्ध थोप दिया।[51]

चीन ने 21 नवम्बर, 1962 को घोषणा की कि उसी रात्रि को चीनी 'चीनी सीमा रक्षक' गोली चलाना बंद कर देंगे। और 21 नवम्बर की रात्रि से ही चीन की एकतरफा युद्धविराम की घोषणा प्रभावशील हो गई। इस युद्ध के एक माह मे चीन ने लद्दाख में भारत की 12 हजार वर्गमील भूमि पर अपना कब्जा कर लिया तथा पूर्वी क्षेत्र में 20 हजार वर्गमील भूमि को अपने नियंत्रण में ले लिया जबकि इस क्षेत्र में उसने 32 हजार वर्गमील भूमि पर अपना दावा किया था। इस तरह 'पंचशील' के समझौते की पूर्णत उपेक्षा कर चीन ने भारत की 'सप्रभुता' और 'प्रादेशिक अखण्डता' पर इतना बर्बर आक्रमण करते हुए भारत के विशाल भू-भाग को अपने नियंत्रण में लेते हुए युद्ध मे भारत को अपमानजनक पराजय दी। यह सही है कि चीन के आक्रमण का प्रमुख कारण चीन की विस्तारवादी आकांक्षाएं ही था लेकिन यही एकमात्र कारण था, यह सही नहीं माना जा सकता।

नेमेन्को ने चीनी आक्रमण के कारणों के सन्दर्भ में भारतीय इतिहासकार सच्चिदानन्द मूर्ति के विश्लेषण को अधिक सत्य माना है। जिनके अनुसार चीनी आक्रमण के कई कारण थे। ये हैं --

1 चीन का सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में कतई विश्वास नहीं था।
2 उनका विचार था कि सीमा का प्रश्न तथा क्षेत्रीय विवाद केवल शक्ति-प्रयोग से ही हल किये जा सकते हैं।
3 चीन अपनी जनता का ध्यान आतंरिक संकट एवं तनावों से हटाना चाहता था।
4 वे चीन की शक्ति का प्रभाव अन्य देशों पर स्थापित करना चाहते थे।
5 उन्हें एशिया का नेतृत्व प्राप्त करने की आशा थी।
6 उन्होंने अनुमान लगाया था कि भारत में साम्यवादी सरकार पर नियंत्रण कर लेंगे तथा वर्तमान सरकार का पतन हो जाएगा।
7 उन्हें आशा थी कि भारत असंलग्न है इसलिए पश्चिम से कोई सहायता नहीं करेगा तथा रूस समाजवादी एकता की खातिर चीन का विवश होकर समर्थन करेगा।[52]

यहां हम युद्ध के कारणों तथा परिणामों का विस्तृत विवेचन नहीं करेंगे। इस युद्ध में अमेरिका तथा ब्रिटेन ने भारत की सहायता की। विश्व के अधिकांश देशों ने चीनी कार्यवाही की निंदा की। सोवियत संघ युद्ध के प्रारम्भ में तो चीन का कूटनीतिक समर्थन करता रहा किन्तु बाद में उसने तत्काल युद्ध समाप्त करने की आवश्यकता अपने वक्तव्यों के माध्यम से व्यक्त करते हुए युद्ध के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया।

इस युद्ध में भारत की पराजय से नेहरु को भारी आघात लगा। भारत में दक्षिणपंथी दलों ने भारतीय असंलग्नता की नीति पर तीव्र प्रहार किये तथा पश्चिमी सैन्य गुटों से जुड़ जाने के लिये राष्ट्रीय स्तर पर प्रदर्शन आदि के माध्यम से दबाव डाला। कई क्षेत्रों में यह विचार किया कि भारतीय विदेशनीति में व्यापक परिवर्तन होगा तथा नेहरु सरकार की असंलग्नता की तीखी आलोचना के बाद भी नेहरु अप्रभावित रहे।[53] असंलग्नता के प्रति अपनी आस्थाओं को उन्होंने संकट की इस घड़ी में भी नहीं भुलाया। प्रोफेसर विमल प्रसाद ने लिखा है --

> "चीन के हमले के बाद तटस्थ नीति की खरी आलोचना की गयी थी किन्तु पं. नेहरु इस आलोचना से प्रभावित न हुए थे। उन्होंने यह जरुर स्वीकार किया था कि हम भारतवासी अपने ही कल्पित दिवास्वप्न में खो गये थे किन्तु तटस्थता की नीति का त्याग करने की बात उन्होंने नहीं सोची थी। उनके लिए यह नीति आस्था का एक अंग सा बन गयी थी। उनके विचार में क्षणिक विफलता से त्रस्त होकर इस नीति को बदला नहीं जा सकता है।'[54]

इस प्रकार इस भयावह त्रासदी के बाद भी भारत ने गुटनिरपेक्षता के प्रति अपने विश्वास को कम नहीं किया। जहां तक परिवर्तन का प्रश्न था, पहले की अपेक्षा देश की सुरक्षा आवश्यकताओं पर नेहरू युग में ही अधिक ध्यान केन्द्रित किया जाने लगा। भारत की विदेशनीति एवं रक्षानीति का प्रमुख उद्देश्य अब चीन व पाकिस्तान के विरुद्ध पूर्ण सुरक्षा की तैयारी हो गया। इन दोनों नीतियों पर पूर्व में कभी एकसाथ विचार नहीं किया गया था जो अब किया जाने लगा। इस प्रकार नेहरू युग के अन्तिम दिनों में जहां गुट निरपेक्षता की नीति निरन्तर बनी रही वहीं नई सुरक्षा चेतना ने भारत की विदेशनीति को अधिकतम व्यवहारिक रूप देना प्रारम्भ कर दिया और सैद्धान्तिक उड़ानों से धीरे-धीरे यह नीति व्यवहार की धरती पर उतरती चली गई।

नेहरू ने विश्वशांति के आदर्शों के प्रति अपनी असाधारण आस्था के कारण ही अपने युग के अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के समय प्रभावशाली भूमिका निभाई थी। कोरियाई संकट, स्वेज पर ब्रिटेन और फ्रान्स के इजराइल के साथ मिलकर किये गए आक्रमण, क्यूबा की समस्या आदि घटनाओं में नेहरू ने विश्वशांति को अक्षुण्ण रखने में कोई कसर बाकी नहीं रखी थी। अहिंसक आन्दोलन से स्वतंत्र होने वाले भारत के इस प्रथम प्रधानमंत्री का सैन्य शक्ति के प्रयोग एवं विस्तार के प्रति तीव्र विरोध था। इसलिये अपनी विश्वशांति के प्रति प्रतिबद्धता ने नेहरू को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभावी एवं ठोस भूमिका के लिये प्रेरित किया था किन्तु पहले पाकिस्तान और फिर चीन के कटु अनुभवों ने नेहरू के अंतिम दिनों में नेहरू को स्वप्नलोक से धरातल पर ला खड़ा किया था किन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी थी।

(2) शास्त्री युग (1964 – 1966)

नेहरू के विराट एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व के बाद देश का नेतृत्व जब आम आदमी के प्रतीक लाल बहादुर शास्त्री ने सम्भाला तब अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय परिदृश्य पर कई गम्भीर चुनौतियां उनके सामने थीं। 1962 में हुई भारत की अपमानजनक पराजय ने भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पर तो निस्सन्देह विपरीत प्रभाव डाला ही था नेहरू के निधन ने राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी शून्य निर्मित कर दिया था।

1962 के युद्ध में चीन के विरुद्ध भारत को पश्चिमी जगत विशेष कर अमेरिका से जो सहायता मिली थी उससे सोवियत संघ भारत के प्रति गम्भीर होने को विवश हुआ था। सोवियत आशंका यह विकसित हो रही थी कि कहीं भारत पश्चिम के प्रभाव क्षेत्र में न चला जाए। उधर चीन-सोवियत मतभेदों ने भी सोवियत संघ की भारत-नीति में परिवर्तन की आवश्यकता निर्मित की। बेलग्रेड सम्मेलन के बाद मलेशिया के प्रश्न को लेकर इंडोनेशिया-चीन और पाकिस्तान के मध्य एक ऐसी धुरी का निर्माण हो चुका था जो

भारतीय हितों के विरुद्ध संगठित हो रही थी। यद्यपि चीन इस धुरी का प्रयोग अमेरिका तथा सोवियत संघ दोनों के विरुद्ध करना चाहता था किन्तु पाकिस्तान की चीन की निकटता में वृद्धि भारत के लिये चिन्ता का ही विषय थी। दोनों देशों की भारत से शत्रुता ने इन्हें मित्र बनाया था इसके बाद भी कि पाकिस्तान सीटो व सेंटो का सदस्य था।

कुल मिलाकर शास्त्री के समक्ष बहुत कठिन चुनौतियां थी -- चीनी आक्रमण के बाद असंलग्नता की नीति के प्रति भारत की आस्था कम हो जाएगी यह सोचकर दोनों ही महाशक्तियां भारत को अपने प्रभावक्षेत्र में लेने के लिये प्रयत्नशील थी और शास्त्री के नेतृत्व के सन्दर्भ में इन्हें यह कार्य अपेक्षाकृत सरल लग रहा था। दूसरी ओर 1962 के ही युद्ध ने चीन-पाक दौत्य सम्बन्धों को हित समानता के कारण भारत के विरुद्ध मजबूत बना दिया था। शास्त्री का विश्व मंच पर कई गम्भीर चुनौतियां का सामना करना था।

अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य की गम्भीर चुनौतियां के साथ ही राष्ट्रीय या आन्तरिक परिवेश भी शास्त्री के लिये असुविधाएं तथा कठिनतम स्थितियां ही निर्मित कर रहा था।

राष्ट्रीय सन्दर्भों में जो समस्याएं जवाहरलाल नेहरू के विराट व्यक्तित्व के समक्ष प्रकट नहीं हो सकी, उन सभी समस्याओं का सामना शास्त्री को ही करना पड़ा।

यद्यपि शास्त्री सर्वानुमति से प्रधानमंत्री के पद पर पहुँचे थे किन्तु दल एवं सरकार के सन्दर्भ में वे चारों ओर से घिरे हुए थे। नेहरू के व्यक्तित्व का प्रभाव हटते ही राष्ट्रपति मन्त्रीमण्डल के सदस्य, दल के अध्यक्ष, प्रान्तीय मुख्यमंत्री सभी अपनी संवैधानिक राजनैतिक शक्तियों को प्राप्त करने के लिये व्यग्र दिखाई देने लगे। उधर प्रत्येक राजनीतिज्ञ चाहे वह सत्तापक्ष का हो या विपक्ष का, संचार माध्यमों से जुड़े हुए समीक्षक पत्रकार या जिन्हें भी अवसर मिलता था प्रत्यक्ष या प्रेस के माध्यम से शास्त्रीजी को यह समझाने का प्रयत्न करते दिखाई देते थे कि उन्हें सरकार कैसे चलाना चाहिए ?

इन राजनीतिक कठिनाईयों के अतिरिक्त राष्ट्रीय परिवेश पर और भी कई भीषण संकट अचानक उभर कर सामने आए। उनके समक्ष बिगड़ती हुई आर्थिक स्थितियां, बढ़ती हुई मुद्रा-स्फीति, मूल्यवृद्धि तथा खाद्यान्न-संकट के कारण जन्म लेने वाली विध्वंसक प्रवृत्तियां विकसित हो रही थीं। 1965 के आरम्भिक वर्षों में हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रयुक्त करना प्रारम्भ होना था तो दक्षिण भारत में उपद्रव और दंगे भी शास्त्रीजी के सामने चुनौती बनकर प्रस्तुत हुए। राष्ट्रीय एकता के कमजोर सूत्रों पर चारों ओर से दबाव पड़ रहे थे।

शास्त्रीजी के समक्ष प्रस्तुत इन कठिनाईयों को प्रोफेसर माइकल ब्रीचर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है --

"9 जून सन 1964 को जब श्री लाल बहादुर शास्त्री देश के प्रधान मंत्री बने, तब देश की आर्थिक स्थिति त्रास समान हो चुकी थी। कृषि उद्योग की गतिहीनता, मुद्रा कोष में गिरावट, औद्योगिक विकास में गिरावट और बढ़ती हुई बेकारी के

साथ-साथ कीमत आसमान मे चढ़ती जा रही थी, शहरो में खाद्यान्न का टोटा बढ रहा था। देश असंख्य भूखे लोगो की चुनौती का सामना कर रहा था। उस समय की स्थिति अपशकुन कारक थी यद्यपि प. नेहरू की शान्तिमय और कुशल नीतियों की विरासत उन्हे प्राप्त हुई थी।[55]

इन परिस्थितियो मे शास्त्री ने विदेशनीति के सूत्र अपने हाथ मे सभाले। शास्त्री ने 11 जून, 1964 को देश के नाम अपने पहले प्रसारण मे विदेशनीति के प्रति अपनी आस्थाएं व्यक्त करते हुए कहा था कि--"विदेशनीति के क्षेत्र में हम सभी देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे चाहे उनकी विचारधारा अथवा राजनीतिक प्रणाली कुछ भी हो। विश्व समस्याओ के सन्दर्भ मे अन्य देशों से हमारे सम्बन्धों का आधार गुट-निरपेक्षता ही रहेगी। हम अपने पड़ौसी देशो से मजबूत सम्बन्धों की स्थापना के लिये विशेष रूप से प्रयास करेंगे।"[56]

शास्त्री के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि उनकी विदेशनीति-दृष्टि यथार्थवाद की ओर झुकी हुई थी इसलिये गुट-निरपेक्षता के आदर्श पर अपनी आस्था व्यक्त करते हुए शास्त्री ने भारत की विश्व राजनीति की तत्कालीन समस्याओं के प्रति विशेष रुचि न दिखाकर अपने पड़ौसी देशों से बेहतर सम्बन्धो की आवश्यकता को प्राथमिकता दी। नेहरू के युग मे भारत की विदेशनीति विश्व-समस्याओ के प्रति इतनी अधिक सक्रिय रही थी कि पड़ौसी देशों को विशेष महत्व नहीं दिया जा सका था यही कारण था कि चीन के आक्रमण के समय सभी पड़ोसी मौन रहे। शास्त्री की कोई अन्तर्राष्ट्रीय आकांक्षाएं नही थीं। उनका लक्ष्य देश के हितों की रक्षा करना था। 1962 की पराजय के बाद शास्त्री ने देखा था कि विजेता राष्ट्र का सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है इसलिये उन्होंने विदेशनीति मे खोए हुए सम्मान को पुन प्राप्त करने के लिये पड़ोसी देशों से मैत्री पर विशेष बल दिया। शास्त्री ने अपने विदेशमंत्री स्वर्णसिंह को अपने कई पड़ोसी देशो की यात्राओ पर भेजा, इस सन्देश के साथ कि भारत अपने पड़ोसियो से विशेष मैत्री सम्बन्धो के लिये कृत-सकल्प है।

शास्त्री युग की विदेशनीति निस्सन्देह यथार्थवादी रुझान लिए हुए थी। "यथार्थवाद पर उसका जोर वास्तव मे यही मायने रखता है कि उन मामलो मे अधिक रुचि दिखाई जाए जो भारत के हितो से सीधे जुड़ते है या उसकी क्षेत्रीय अखण्डता से सम्बन्धित है।"[57]

अब हम शास्त्री युग की विभिन्न घटनाओ के सन्दर्भ मे उनकी विदेशनीति का विश्लेषण करेंगे।

शास्त्री के प्रधानमंत्री बनने के बाद अक्टूबर 1964 मे असंलग्न राष्ट्रो का द्वितीय सम्मेलन कैरो (काहिरा) मे हुआ। शास्त्री ने इस सम्मेलन मे यद्यपि तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के प्रति भारतीय नीति को स्पष्ट किया फिर भी चूँकि वे यथार्थवादी

थे इसलिये उन्होंने भारत के हितो के लिये गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो से सहयोग की अपील की। यह सहयोग उन्होंने मुख्यत चीन व पाकिस्तान से भारत के विवादो के हल के लिये मागा था। नि शस्त्रीकरण पर बोलते हुए शास्त्री ने सम्मेलन से आग्रह किया कि चीन से अपील की जाए कि वह आणविक दौड मे न पडे।

शास्त्री ने कहा कि -- "यह चिन्ता का विषय है कि सभी शक्तियों ने आणविक परीक्षण पर रोक लगाने की सधि को स्वीकार नही किया है। तटस्थता नीति का समर्थन करने वाले सभी देश इस बात का आग्रह करते हैं कि विश्व के सभी देश इस सधि को स्वीकार करें और उन देशों पर नैतिक दबाव डालें जो इस आशिक सधि को स्वीकार करने से इकार कर रहे है।"[58]

इसी सामान्य वक्तव्य के साथ शास्त्री ने सम्मेलन से विशेष रूप से चीन से आग्रह करने के लिये कहा कि वह आणविक परीक्षणों की ओर न जाए। शास्त्री ने इस सम्मेलन से आग्रह किया कि विवादों के हल के लिये शक्ति-प्रयोग की प्रवृत्ति पर अकुश लगाया जाए तथा बातचीत के माध्यम से विवाद हल करने के प्रयास किये जाए। उनका इशारा चीन से सीमा-विवाद एव पाकिस्तान के साथ काश्मीर विवाद की ओर था।

1962 की चीनी विजय से अधिकाश गुट-निरपेक्ष राष्ट्र इतने अधिक आतकित थे कि शास्त्री द्वारा प्रस्तुत सुझावों को सम्मेलन ने यथावत् स्वीकार नहीं किया। इडोनेशिया के नेतृत्व में चीन समर्थक एशियाई-अफ्रीकी देशों ने ऐसे किसी प्रस्ताव के लिए झिझक दिखाई, जो चीन के विरोध में हो।

फिर भी शास्त्री ने इस सम्मेलन में पर्याप्त सफलताए अर्जित की। उनके द्वारा असलग्न आन्दोलन के लिए प्रस्तुत की गई रूपरेखा को लगभग यथावत् स्वीकार कर लिया गया।

"जहाँ तक भारत स्वय की विदेश नीति के बारे मे समर्थन की बात करता है उसने सम्मेलन का समर्थन सीमा विवाद के लिये सामान्य रूप से समाप्त कर लिया है किन्तु उसकी अन्तिम घोषणा राष्ट्रीय सीमाओ की सुरक्षा और पवित्रता को मान्यता प्रदान करती है।"[59] चीन के अणु-परीक्षण के सन्दर्भ में शास्त्री को यह घोषणा करनी पडी कि भारत शीघ्र ही अणुबम बना सकता है।[60]

इस बीच 1963 में चीन और पाकिस्तान एक-दूसरे के निकट आ चुके थे। चीन की निकटता का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पाकिस्तान पर था। इसलिये पाकिस्तान ने पहले कच्छ रन का विवाद उठाते हुए 10 अप्रैल, 1965 को पाकिस्तानी सेनाए कच्छ पर आक्रमण हेतु भेज दी।[61] तथा इस क्षेत्र की एक चौकी पर कब्जा कर लिया। 29 अप्रैल 65 को अन्य दो चौकियों पर कब्जा कर लिया।[62] चूँकि यह दलदल का क्षेत्र था इसलिये भारत ने यह कल्पना नहीं की थी कि पाकिस्तान यहा भी आक्रमण कर देगा, इसलिये यहाँ भारतीय सैनिक भी तैनात नहीं थे। भारत ने तुरन्त अपनी सेनाए भेजकर आक्रमण को रोक दिया

तथा पाकिस्तानी सेनाओं को खदेड़ दिया। जब इस घटना पर विश्व का ध्यान आकर्षित हुआ तो इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री विल्सन ने मध्यस्थता हेतु प्रस्ताव रखा, जिसे दोनों पक्षों ने मान लिया व 30 जून, 1965 को युद्ध-विराम हो गया। दोनों पक्षों ने यह स्वीकार किया कि वे (1) 1 जनवरी, 1965 क पूर्व की स्थिति कायम रखेंगे तथा (2) कच्छ रन विवाद के स्थायी हल के लिये एक न्यायाधिकरण गठित किया जायगा, जिसके अन्तिम निर्णय को दोनों पक्ष स्वीकार करेंगे।

न्यायाधिकरण का गठन जुलाई, 1965 में हुआ इसमें भारत की ओर से युगोस्लाविया, पाकिस्तान की ओर से ईरान तथा दोनों पक्षों की सहमति से स्वीडन सदस्य थे। तीन वर्ष बाद न्यायाधिकरण ने अपने निर्णय में विवादग्रस्त क्षेत्र का 90 प्रतिशत भाग भारत के अधीन माना तथा 10 प्रतिशत पर पाकिस्तान का अधिकार माना।

इस तरह शास्त्री ने विवाद को अन्तर्राष्ट्रीय मध्यस्थता को सौंप कर विवादों को शान्तिपूर्ण हल करने की अपनी आस्था दोहराई। लेकिन कच्छ आक्रमण जैसे केवल पूर्वाभ्यास ही था। यह विवाद थमा ही था कि पाकिस्तान ने अगस्त, 1965 में काश्मीर में पहले घुसपैठिये भेजकर तथा बाद में 1 सितम्बर, 1965 को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पार करते हुए पूरी शक्ति के साथ भारत पर आक्रमण कर दिया।

पाकिस्तान ने आक्रमण से पूर्व जहा चीन से मैत्री स्थापित कर ली थी, पाकिस्तान को युद्ध के पूर्व ही चीन से आश्वासन मिल गया था कि यदि पाकिस्तान और भारत में युद्ध होता है तो चीन पाकिस्तान को सैनिक व नैतिक समर्थन देगा,[63] वहीं पश्चिमी देशों से हथियार लेते हुए भी वह सोवियत संघ से भी अपने सम्बन्ध सुधार रहा था जिससे यदि भारत-पाक युद्ध हो तो सोवियत संघ तटस्थ बना रहे। 1962 में पराजित तथा कच्छ रन में अन्तत शांति के प्रति आस्था व्यक्त करने वाले भारत पर विजय उसे अपेक्षाकृत आसान दिखाई दे रही थी, उसे यह विश्वास भी था कि यदि स्थितियां उसके पक्ष में नहीं रहेंगी तो चीन उसकी सहायता हेतु चला आएगा।

अगस्त में पाकिस्तान द्वारा भेजे गए घुसपैठियों को जब भारतीय सेनाओं द्वारा खदेड़ दिया गया तथा पाक द्वारा हथियाई गई चौकियां छीन ली तब पाकिस्तान ने 1 सितम्बर, 1965 को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पार करते हुए सशस्त्र आक्रमण कर दिया।[64] काश्मीर में उसकी चूँकि घुसपैठिये भेजने की योजना असफल हो गई थी इसलिये पाकिस्तान के सामने इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प ही नहीं था।[65] पाकिस्तान के इस आक्रमण का भारत ने सम्पूर्ण शक्ति के साथ उत्तर दिया। भारतीय सेनाएं निरन्तर पाकिस्तानी क्षेत्र में बढ़ती गई तो चीन ने 17 सितम्बर 65 को भारत को धमकी दी कि भारत तीन दिन के अन्दर चीन-सिक्किम सीमा से अपना साज-सामान हटा ले जो उसने चीन पर चढ़ाई करने के लिये जमा किया है।[66] चीन ने भारत को आक्रामक घोषित करते हुए यह धमकी दी। भारत ने इसके उत्तर में कहा कि ये आक्षेप बिल्कुल निराधार है अत भारत

इन्हें अस्वीकार करने के लिये विवश है।[67] चीन ने तीन दिन बाद पुन अपनी चेतावनी भेजी।[68]

चीन की इस चेतावनी से महाशक्तियो को चिन्ता हुई। दोनो ने ही अलग-अलग व सयुक्त रूप में इस तीसरी शक्ति को भारतीय उपमहाद्वीप के इस युद्ध से पृथक रहने के लिये कहा। सोवियत सघ व अमेरिका ने सुरक्षा परिषद के एक प्रस्ताव के माध्यम से कहा कि चीन को इस युद्ध से पृथक रहना होगा।[69] इस पर चीन की प्रतिक्रिया थी कि -- "सोवियत सघ व अमेरिका भारत को प्रश्रय दे रहे हैं तथा वे भारत के प्रतिक्रियावादियों का समर्थन कर रहे हैं। भारत के प्रतिक्रियावादी विश्वशाति भग कर रहे हैं जिसकी ओर किसी का ध्यान नही है जबकि पाकिस्तान और चीन न्यायसगत तथा तर्कसगत रास्ते पर है।"[70]

भारत ने चीन की धमकियों का अर्थ समझ लिया था। इसलिये शास्त्री ने बिना दबाव मे आए चीन को उसकी धमकियों के उत्तर दिये। इस युद्ध में दक्षिण-एशिया मे चीन की स्थिति उतनी प्रभावशाली नही रही जितनी कि सोवियत सघ की।[71]

भारत पर 1962 के आक्रमण और सितम्बर 1965 मे चीन द्वारा भारत को दी गई धमकियों का लक्ष्य भारत को उसकी असलग्नता की नीति से दूर करना तथा पश्चिम की ओर धकेलना था जो पूरा नही हुआ। यह चीनी मामलो के बहुत से विद्यार्थी मानते हैं।[72]

22 सितम्बर, 1965 को सुरक्षा परिषद ने नीदरलैण्ड के एक प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जिसमे दोनो देशों से युद्धविराम करने की अपील की गई थी तथा कहा गया था कि दोनों पक्ष 5 अगस्त के पूर्व की स्थिति में लौट जाए।[73] दोनों देशों ने युद्धविराम का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। लेकिन 5 अगस्त के पूर्व की स्थिति मे लौटने के लिय कोई व्यवस्था सुरक्षा परिषद ने न करते हुए इसे महाशक्तियों के राजनय पर छोड दिया।

इस युद्ध मे भारत की सैन्य-विजय से भारत का 1962 की पराजय के कारण खोया हुआ मनोबल कुछ हद तक ऊचा हुआ। मुख्य रूप से इसलिये कि इस युद्ध में जहाँ चीन निरन्तर मानसिक दबाव डालने का प्रयत्न करता रहा और पश्चिम ने भारत की सैनिक सहायता रोक दी थी।

युद्ध विराम के बाद सोवियत सघ व दोनो देशो राष्ट्राध्यक्षो को 21 नवम्बर 65 को एक पत्र लिखकर ताशकद वार्ता हेतु आमत्रित किया।[74] उल्लेखनीय है कि सोवियत सघ इस युद्ध के पूर्व से ही दोना देशों के मध्य पूर्णत तटस्थ रहने का प्रयत्न कर रहा था। 24 अगस्त, 65 को प्रावदा मे प्रकाशित टिप्पणी से इस तटस्थता की नीति की पुष्टि होती है।

> "सोवियत सघ और पाकिस्तान के बीच घनिष्ठता का सामान्य रूप से अभिप्राय यह है कि एशिया और समस्त विश्व मे शान्ति की स्थापना हो जाय। हम चाहेंगे कि पाकिस्तान और सोवियत सघ के बीच उतना ही प्रगाढ सबध रहे जैसा कि हमारी भारत जैसे देश के साथ परम्परा गत मैत्री स्थापित है। इस मैत्री का सीधा प्रभाव

एशिया के वातावरण पर पड़ेगा और भारत और पाकिस्तान के बीच सामान्य संबंध स्थापित होंगे।"[75]

अपनी इसी नीति के अनुरूप सोवियत संघ ने कच्छ विवाद में भी तटस्थता अपनाई थी। इसी भूमिका के कारण अन्तत सोवियत संघ को दक्षिण एशिया के इन दो परम्परागत शत्रुओं के बीच मध्यस्थता करने का अवसर मिला। सोवियत संघ सम्भवत यह विचार विकसित कर रहा था कि यदि उसने भारत का निरन्तर पक्ष लिया तो दक्षिण एशिया में पाकिस्तान के माध्यम से अमरिका तथा चीन निरन्तर प्रभाव वृद्धि करते जाएंगे। यद्यपि मई, 1965 की शास्त्री की सोवियत यात्रा के समय सोवियत प्रधानमंत्री कोसीगिन ने कहा था कि जब सोवियत संघ एक तीसरे देश से सम्बन्धों को सुधारने का प्रयत्न करता है तो यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा भारत-सोवियत मैत्री की कीमत पर किया जाए।[76]

किन्तु चीन द्वारा भारत-पाक युद्ध के समय निभाई गई भूमिका के कारण सोवियत *संघ व अमेरिका की नीतियां इस युद्ध के सन्दर्भ में लगभग समान थी। ताशकन्द वार्ता के* लिये अमेरिका ने भी सोवियत संघ को सहयोग दिया था। ताशकन्द वार्ता 4 जनवरी, 1966 से प्रारम्भ हुई। अय्यूब ने कोसीगिन से व्यक्तिगत चर्चा मे इस बात पर बल दिया कि काशमीर के प्रश्न पर बल दिया जाए जबकि शास्त्री स्पष्ट रूप से कह चुके थे कि ताशकन्द वार्ता में काश्मीर के प्रश्न पर कोई चर्चा नही होगी।[77]

सोवियत नेताओ ने दोनों राष्ट्रों के नेताओ से अनुरोध किया कि वे ताशकन्द मे आधारभूत प्रश्नों पर वादविवाद कर कटुता उत्पन्न न करें।[78] कोसीगिन ने कहा कि -- *"जरूरत इस बात की है कि हम ऐसी रूपरेखा बनाये जिससे कि ऐसा कोई रास्ता निकल* सके जिसमें आपसी विश्वास का वातावरण बन सके, आपसी समझदारी बढ़े और साथ ही साथ वे मसले हल हो सकें जो कि आम तौर से सामान्य रिश्तों मे रोड़े अटकाते है।"[79]

सोवियत संघ के लिये इस वार्ता की सफलता असंदिग्ध रूप से उसकी प्रतिष्ठा के साथ जुड़ी हुई थी। वार्ता के दौर में दोनो पक्षों मे कई बार मतभेद उभरे और लगता रहा कि वार्ता असफल हो जाएगी। किन्तु समझौता होने के अन्तिम दिन 14 घण्टों तक कोसीगिन के अथक परिश्रम से अन्तत वार्ता सम्पन्न हुई। 10 जनवरी, 1966 को ताशकन्द घोषणा की गई जिसकी मुख्य व्यवस्थाएं निम्नानुसार थी [80]

इस समझौते में दोनो पक्षों ने शातिपूर्ण साधनो मे समस्याओं के समाधान पर अपनी सहमति प्रकट की। 5 अगस्त 65 के पूर्व की स्थिति मे लौटने के सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव पर इस समझौते के माध्यम से एक बार पुन पुष्टि की गई। एक-दूसरे के आन्तरिक मामलो मे अहस्तक्षेप का संकल्प भी किया गया तथा एक-दूसरे के विरुद्ध ऐसे प्रचार को हतोत्साहित करने का निश्चय किया, जिससे सम्बन्धों पर विपरीत प्रभाव पड़ता

तथा मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के विकास मे सहयोगी प्रचार का आवश्यक माना गया। 1961 के वियना सम्मेलन के राजनयिक अन्त सम्बन्धो के तहत दोनो देश पुनः अपने उच्चायुक्तों की अदला-बदली करते हुए राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करेंगे। यह संकल्प भी इसी घोषणा मे किया गया। इसी तरह आर्थिक सांस्कृतिक एवं संचार सम्बन्धो की पुनर्स्थापना का भी संकल्प किया गया। युद्धोत्तर समस्याएं सुलझाने के उद्देश्य से युद्धबंदियो की अदला-बदली, शरणार्थियो की समस्या आदि का भी उल्लेख इस समझौते मे किया गया। सम्बन्धो को अधिक मधुर बनाने के लिये संयुक्त संस्थाओं के गठन का भी निश्चय किया गया। इस समझौते मे ताशकन्द भावना का जन्म हुआ ऐसा कुछ समीक्षक मानते है। मुख्यत समझौते का प्रारम्भ जिन वाक्यो के साथ हुआ था उनमे यह प्रतिध्वनि निकलती है--

> "भारत के प्रधानमंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति अपने इस निश्चय की घोषणा करते हैं कि वे दोनो देशों मे परस्पर सामान्य और शान्तिपूर्ण रिश्ते बनाये रखेंगे और दोनो ही परस्पर देशों की जनता के बीच समझदारी और दोस्ताना के ताल्लुकात बढ़ाने का मौका देंगे। वे इस बात को बहुत जरूरी समझते है कि भारतवर्ष और पाकिस्तान की साठ करोड़ आबादी के हित मे ये उद्देश्य बहुत महत्त्व रखते है।"[81]

यह सम्भव है कि इस घोषणा के प्रावधानो मे ताशकन्द भावना का आभास होता हो किन्तु समझौते के कुछ समय बाद ही जिस तरह दोनो देशो ने इस घोषणा के प्रावधानों की उपेक्षा प्रारम्भ करते हुए उनका खुल्लमखुल्ला उल्लंघन प्रारम्भ किया उससे यह सुन्दर टिप्पणी कि ताशकन्द घोषणा मे ताशकन्द भावना का जन्म हुआ स्वत ही अप्रासंगिक हो गई।[82]

इस घोषणा पर होने वाली प्रतिक्रियाओ पर अनावश्यक विस्तार मे न जाकर यदि हम शास्त्री की वैदेशिक नीति के सन्दर्भ मे पहले युद्ध और फिर शांति के इस ऐतिहासिक घटनाक्रम की समीक्षा करेंगे तो अधिक प्रासंगिक होगा।

शास्त्री की विदेशनीति के प्रारम्भिक पृष्ठों मे हम कह चुके हैं कि शास्त्री यथार्थवादी थे किन्तु यह भी सही है कि उनके मन मे आदर्शों के प्रति अनासक्ति भी नही थी। "युद्ध" को जिस वैज्ञानिक शैली मे भारत ने लड़ा उसे शास्त्रीजी का यथार्थवाद ही कहेंगे। फिर ताशकन्द मे समझौते की टेबल पर युद्ध मे मिली हुई सफलताओ को पुन पाकिस्तान को सौंप देना उनके आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्व और उसका परिणाम ही था। क्या भारत संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव की उपेक्षा करने की स्थिति मे उस समय था ? क्या हम यह बर्दाश्त कर सकते थे कि समझौते वार्ता के आयोजक सोवियत संघ के उन प्रयासो पर हम पानी फेर दे, जो उसने समझौते के लिये किये थे ? यह हम नहीं भूल सकते थे कि

महाशक्तियों की राजनीति में जब भारत सकट में आया, सोवियत सहायता व मैत्री सदैव भारत के साथ थी। फिर चीन के पाकिस्तान को सहयोग की सम्भावनाओं की स्थिति बनी हुई थी। अमेरिकी सैन्य-सगठनों से पाकिस्तान जुडा हुआ था ही, इतना ही नहीं युद्ध पूर्व के कुछ दिनों में सोवियत सघ ने अपनी भारतीय उपमहाद्वीपीय की परम्परागत नीति को भी परिवर्तित कर दिया था। और फिर पाकिस्तान ने जिन लक्ष्यों के साथ युद्ध किया था तथा वह जिन आशाओं के साथ ताशकन्द वार्ता के लिये आया था वे तो मूलत चर्चा की विषय सूची में ही सम्मिलित नहीं हुई।

यह भी उल्लेखनीय है कि भारत विश्वशाति के आदर्शों के प्रति प्रारम्भ से समर्पित रहा था तथा स्वय शास्त्रीजी ने कैरो के असलग्न सम्मेलन में परस्पर बातचीत के माध्यम से विवादों के शातिपूर्ण हल पर बल दिया था तथा वे प्रारम्भ से ही विदेशनीति के सन्दर्भ में पडौसी राष्ट्रों से बेहतर सम्बन्धो पर बल दे रहे थे।

कुल मिलाकर शास्त्री पर 1965-66 की युद्ध और शाति की इन घटनाओं पर आदर्श और यथार्थ दोनो का ही दबाव था। मेरी तो यह मान्यता है कि इसी द्वन्द्व की चरम परिणति समझौते के तत्काल बाद उनकी हृदयगति रुकने के रूप में हुई।

किन्तु शास्त्री ने यह स्थापित कर दिया कि भारत योद्धा होते हुए भी या विजेता होते हुए भी विश्वशाति का प्राणप्राण से अक्षुण्ण रखना चाहेगा। जहा तक ताशकद समझौते के बाद में असफल हो जाने का प्रश्न है वह तो इसी तथ्य से जुडा हुआ है कि यह समझौता दोनो पक्षों ने अधूरे मन से किया था। यह सही है कि इस समझौते से तत्कालीन सकट समाप्त करने में सहायता मिली।

शास्त्री ने अल्पकाल में अपनी घोषित नीति के अनुकूल पाकिस्तान के अतिरिक्त भी अन्य पडौसी देशों से बेहतर सम्बन्धों की स्थापना के प्रयास किये। 21 अक्टूबर, 1964 को श्रीलका की प्रधानमत्री श्रीमती भडारनायके के साथ प्रवासियो की समस्या के हल हेतु हस्ताक्षर सम्पन्न हुए।[83] इसी तरह नेपाल, बर्मा, भूटान आदि पडौसी देशों की शास्त्रीजी ने यात्राएं कीं। इन देशों के राष्ट्राध्यक्ष भी भारत आए। इन सभी यात्राओं का मुख उद्देश्य पडौसी देशो से दौत्य सम्बन्धो को प्रधानता देना था।

अन्त मे यह सही है कि शास्त्री का कार्यकाल चूकि बहुत कम रहा इसलिये उनकी विदेशनीति का प्रत्येक पहलू अध्ययन का विषय नहीं हो सकता किन्तु असलग्न राष्ट्रों में उनकी भूमिका, पाकिस्तान तथा चीन के प्रति उनकी यथार्थवादी नीति तथा पडोसी राज्यो से बेहतर सम्बन्धो की स्थापना के प्रयास उनकी विदेशनीति के प्रभावशाली पक्ष रहे। भारतीय विदेशनीति के मूलभूत सिद्धान्तो के प्रति समर्पित रहते हुए उन्होने सीमित क्षेत्र में भारतीय भूमिका सचालित की।

(3) श्रीमती गांधी युग (1966 – 1970)

शास्त्री के बाद श्रीमती गाधी भारत की प्रधानमत्री बनी। श्रीमती गाधी की विदेशनीति को हम इस अध्ययन मे तीन भागो में विभाजित करेगे। उनके प्रथम ग्यारह वर्षो के कार्यकाल को भी हमने विदेशनीति क्रियान्वयन की दृष्टि से दो भागो मे बाटा हैं। पहले भाग मे हम 1966 से 1970 तक की विदेशनीति की समीक्षा करेगे, यह हमने इसलिये किया है कि 1969-70 तक श्रीमती गाधी राजनीतिक स्थिरता और शक्ति की खोज मे लगी तथा इस दौर मे विशेष महत्वपूर्ण घटनाए नही घटी और जो घटी थी उनमे भारत की बहुत प्रभावशाली भूमिका नही रही। दूसरे भाग में हम विदेशनीति के क्रियान्वयन के उन वर्षो की समीक्षा करेगे जब भारतीय विदेशनीति ने सफलताओ के कीर्तिमान बनाए। यह भाग मुख्यत 1971 व उसके बाद की घटनाओं पर आधारित है। मार्च 1977 से दिसम्बर 1980 तक की अवधि मे केन्द्र मे पहले जनता सरकार व फिर कुछ माह के लिये कार्यवाहक सरकार रही। जनवरी 1980 मे पुन श्रीमती गाधी सत्तारुढ हुई और विदेशनीति के सूत्रो का अपने हाथो में सभाला। इस तीसरे भाग के लिये हमने पृथक से एक अध्याय रखा है।

यहा हम 1971 के पूर्व के वर्षो मे श्रीमती गाधी द्वारा सचालित विदेशनीति की चर्चा करेगे।

शास्त्री के उत्तराधिकारी के रुप मे जब श्रीमती गाधी प्रधानमत्री पद पर 24 जनवरी, 1966 का मनोनीत हुई तब केन्द्र मे काग्रेस की स्थिति सुदृढ नही थी। स्वय श्रीमती गाधी तो और भी अधिक कमजोर स्थिति म थी। श्रीमती गाधी के समक्ष इस अवधि में कई चुनौतिया थीं।

"श्रीमती गाधी की अल्पमत सरकार इस बात के लिए बहुत ही सतर्क रही थी कि वे उन विरोधी दलो को नाराज न करें जिनका समर्थन उन्हें सरकार बनाने मे प्राप्त हुआ है, वे उन सासदों को भी व्यक्तिश अथवा सामूहिक रुप मे अपनी पार्टी के सदस्यों को भी ना खुश नही रखना चाहती थी। वे अपनी विदेश तथा गृह नीति मे सभी को सतुष्ट करने की कोशिश की थी।"[84]

इस चरण में श्रीमती गाधी राष्ट्रीय राजनीति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करती रही। इस बीच उन्होने विदेशनीति को सचालित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने का प्रयास किया।

प्रधानमत्री बनने के बाद श्रीमती गाधी ने स्पष्ट घोषणा की थी कि -- "भारत अपनी विदेशनीति के सन्दर्भ में अपने पूर्ववर्ती प्रधानमत्रियो का अनुसरण करता रहेगा। भारत असलग्नता की नीति पर चलता रहेगा।"[85]

श्रीमती गांधी ने प्रारम्भ में महाशक्तियों की राजनीति को समझने का प्रयत्न किया।

उल्लेखनीय है कि सोवियत संघ से भारत की पारस्परिक मैत्री होने के बाद भी 1965-1968 के मध्य की अवधि में सोवियत संघ व पाकिस्तान के बीच सम्बन्धों की स्थापना से भारत की परेशानी बढ़ रही थी। सोवियत संघ की पाकिस्तान के राष्ट्रपति द्वारा की गई निरन्तर यात्राओं का परिणाम यह निकला था कि सोवियत संघ ने इस अवधि में काश्मीर के सन्दर्भ में भारत को समर्थन देना बन्द कर दिया। पाकिस्तान से उसके आर्थिक और व्यापारिक समझौते हुए तथा जुलाई, 1968 में तो सोवियत संघ ने पाकिस्तान को सैन्य सहायता देने का निर्णय भी लिया।[86]

श्रीमती गांधी ने इन सब तथ्यों से परिचित होते हुए भी सोवियत संघ के प्रति भारतीय मैत्री की नीति को अपने इस प्रारम्भिक चरण में बनाए रखा।

प्रधानमंत्री बनने के बाद 1966 जुलाई (12 - 16) में श्रीमती गांधी ने सोवियत संघ की यात्रा की। इस यात्रा में श्रीमती गांधी ने कहा कि -- "भारत और सोवियत संघ की मित्रता अपरिवर्तनीय है।"[87] 1967 में भी श्रीमती गांधी ने सोवियत क्रान्ति की वर्षगांठ के समारोहों में भाग लिया। उल्लेखनीय है कि इन समारोहों में जो दो गैरसाम्यवादी देश आमंत्रित थे उनमें एक भारत भी था।

जनवरी, 1968 में सोवियत प्रधानमंत्री कोसीगिन की भारत यात्रा के अवसर पर श्रीमती गांधी ने कहा कि--

> "भारत और सोवियत संघ के बीच बढ़ती हुई मैत्री अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का श्रेष्ठ उदाहरण है। इससे परस्पर लाभ हुए हैं तथा इसने स्वतंत्रता व शांति की स्थापना में मदद की है।"[88]

जुलाई, 1968 में जब सोवियत संघ द्वारा पाकिस्तान को सैन्य सहायता का निर्णय लिया गया तो इसकी भारतीय संसद में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। कांग्रेस संसदीय दल के सचिव ने यह मत व्यक्त किया कि -- "सोवियत निर्णय से यह बात प्रमाणित होती है कि रूस पाकिस्तान के साथ मैत्री को अधिक महत्वपूर्ण समझता है क्योंकि उसकी स्थिति अधिक सामरिक महत्व की है।"[89] कुछ लोगों ने यहां तक कह दिया कि सोवियत निर्णय को संतुलित करने के लिये चीन के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने चाहिए।" [90] किन्तु श्रीमती गांधी ने इस पर कोई उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। श्रीमती गांधी ने अपनी चिन्ता व्यक्त करने के लिये सोवियत प्रधानमंत्री को पत्र लिखा तथा संसद में कहा कि -- "भारत सोवियत संघ के निर्णय से खुश नहीं है। फिर भी इससे भारत की विदेशनीति में कोई परिवर्तन नहीं होगा।"[92]

20 अगस्त, 1968 को सोवियत संघ व उसके मित्र राष्ट्रों की सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण का कारण साम्यवादी चेक नेताओं

द्वारा कुछ प्रजातांत्रिक सुधारो की घोषणा थी। सोवियत सघ व साथियो के चेकोस्लोवाकिया पर इस खुल्लमखुल्ला आक्रमण की सर्वत्र निन्दा हुई। श्रीमती गाधी ने ससद के दोनो सदनो के समक्ष कहा कि--

"राष्ट्रो के शातिपूर्ण एव बाहय हस्तक्षेप से मुक्त रहने के अधिकार का सिद्धान्त या धर्म के आधार पर छीना नही जा सकता। भारत के सोवियत सघ, पोलैण्ड, हगरी तथा बुल्गारिया से घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु हम चेकोस्लोवाकिया की घटनाओ पर व्यथा अथवा गहन दु ख व्यक्त किये बिना नही रह सकते।"[92] श्रीमती गाधी ने यह घोषणा की कि -- "भारत सयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत चेकोस्लोवाकिया के अधिकारों का समर्थन करेगा। हम चेकोस्लोवाकिया के नताओ की सुरक्षा उस देश की प्रभुसत्ता व अखण्डता के बारे मे चिन्तित है। हमे इस विषय पर भी चिन्ता है कि वहा नियत्रण करने वाली विदेशी सेनाए कैसे निकलें।"[93]

यद्यपि 22 अगस्त 68 को जब इस विषय पर सोवियत सघ आदि की निन्दा के लिये सुरक्षा परिषद मे मतदान हुआ तो भारत अनुपस्थित रहा। भारत का तर्क था कि निन्दा करने से स्थिति और गम्भीर बन जाएगी।[94] इस मतदान मे भारत की भूमिका का वर्णन स्टेन आर्थर ने इस प्रकार किया है--

"सात राष्ट्रों की सुरक्षा परिषद द्वारा 22 अगस्त को रखे गये निदा प्रस्ताव का भारत ने समर्थन नही किया था। 'यह निंदा प्रस्ताव सोवियत सघ तथा इसके समर्थको के हस्तक्षेप के प्रति था। सुरक्षा परिषद मे भारतीय सदस्य की आपत्ति निदा शब्द पर थी इसीलिए उसने प्रस्ताव पर मतदान का बहिष्कार किया था। भारतीय सदस्य का अनुरोध था कि इस प्रस्ताव के हर पैराग्राफ पर अलग-अलग मत लिया जाना चाहिए। भारतीय सदस्य ने इस प्रस्ताव के हर पैराग्राफ का समर्थन किया था किन्तु आपत्ति उसे निदा शब्द पर ही थी।"[95]

श्रीमती गाधी ने विपक्ष द्वारा मतदान मे भाग नही लेने पर की गई आलोचनाओं का उत्तर देते हुए कहा कि उत्तेजनात्मक भाषा के प्रयोग से कुछ हासिल नही होगा। भारत की इच्छा चेकोस्लोवाकिया से विदेशी सेनाओं की वापसी, वैधानिक सरकार की स्थापना, जनता की प्रभुसत्ता लौटाने की थी।[96] हमने अपने विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त किये है। सरकार को राजनीतिक वास्तविकताओ को भी तो समझना होता है।[97]

सोवियत सघ से सम्बन्धो पर एक दम-विपरीत प्रभाव नही पडे सम्भवत इसी मानसिकता से भारत ने मतदान मे भाग नहीं लिया। (उल्लेखनीय है कि पाकिस्तान ने भी मतदान में भाग नहीं लिया था।)

इस सन्दर्भ मे भी भारतीय प्रधानमत्री की बहुत आलोचना विपक्ष तथा पत्रकारो द्वारा की गई। इसी अवधि में सोवियत सघ निरन्तर अपने शासकीय मानचित्रो मे लद्दाख व नेफा के कुछ भाग को चीन की सीमा मे दिखाता रहा। इस पर भारत की ओर से निरन्तर विरोधपत्र भेजे गए। उत्तर में सोवियत सघ नक्शे ठीक करने का आश्वासन देता रहा।

1969 में सोवियत सघ व चीन के बीच उक्सुरी नदी पर सघर्ष हुआ तो भारत ने सोवियत सघ का पक्ष लिया।[99] इस तरह इस अवधि मे सोवियत-पाकिस्तान सम्बन्धो की निकटता के बाद भी भारत-सोवियत सघ के प्रति अपनी मैत्री की नीति पर चलता रहा।

अमेरिका के प्रति श्रीमती गाधी के कार्यकाल का प्रारम्भ अमेरिका के सन्दर्भ मे आशाजनक था क्योंकि राष्ट्रपति जॉनसन के निमत्रण पर श्रीमती गाधी ने 28 मार्च, 1966 को अमेरिका की यात्रा की। श्रीमती गाधी ने इस यात्रा के अवसर पर दिए गए एक भोज में कहा कि--

"भारत में महान परिवर्तन हो रहे हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका ने हमे निर्धनता, भूख, निरक्षरता तथा बीमारी के विरुद्ध मूल्यवान सहायता दी है। हम इस मूल्यवान कार्य के लिये आपके आभारी हैं परन्तु हम यह भी जानते हैं कि हमारा समाज केवल हमारे प्रयासों पर ही निर्भर रह सकता है। हम आत्म- निर्भरता के लिये दृढ प्रतिज्ञ हैं।"[100]

श्रीमती गाधी ने राजनीतिक पद्धतियों की समानता का जिक्र करते हुए कहा कि--

"यदि भारत स्थिर, सगठित और लोकतत्रात्मक रहता है तो इससे एक महान उद्देश्य की प्राप्ति होगी, यदि भारत अस्थिर रहता है तो वह असफल हो जाता है तो यह लोकतत्रात्मक पद्धति की असफलता होगी। यह उन बहुत से आदर्शों की असफलता होगी जो हम दोनों देशों को प्रिय है।[101]

श्रीमती गाधी की इस यात्रा के बाद के एक-दो वर्षो मे भारत अमेरिका सम्बन्धो के बीच के भ्रम व भ्रान्तियाँ कुछ हद तक दूर हुई। जॉनसन ने पहले तो पर्याप्त सहायता भारत को की किन्तु सहायता की राजनीति का उद्देश्य चूकि दबाव डालना था तथा उसमे सफलता न मिलने पर यह सहायता कम होती गई। 1968 में जो सहायता स्वीकृत की गई वह विगत 20 वर्षों में सबसे कम थी।

निक्सन के सत्तारूढ होने के बाद निक्सन ने भारत की यात्रा की तथा एशियाई सामूहिक सुरक्षा के ब्रेजनेव के सिद्धान्त की जब निक्सन ने चर्चा की तो श्रीमती गाधी ने कहा कि भारत किसी सैनिक गठबन्धन का सदस्य नहीं होगा।[102] इसके बाद भी सदैव की तरह अमेरिका और भारत एक-दूसरे से दूर ही रह तथा बाद के वर्षो मे निरन्तर दूर

होते चले गये।

वियतनाम समस्या, आणविक प्रतिरोध संधि, मध्यपूर्व का सकट तथा काश्मीर का प्रश्न इन मतभेदो के आधारभूत कारण थे।[103]

श्रीमती गाधी ने वियतनाम के सम्बन्ध में अमेरिका की आलोचना करते हुए कहा था कि -- "वियतनाम की जनता अपनी समस्याओं को बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के स्वय हल कर सकती है। उन्होने विदेशी शक्तियो से आग्रह किया कि उन्हें वियतनाम से हट जाना चाहिए।"[104]

1970 मे श्रीमती गाधी सयुक्त राष्ट्र के अधिवेशन मे भाग लेने गई, जहाँ उन्होंने अमेरिकी राष्ट्रपति द्वारा दिए गए भोज के निमत्रण को अस्वीकार कर दिया। यह निक्सन प्रशासन द्वारा पाकिस्तान को सैन्य सहायता पुन प्रारम्भ करने के प्रति विरोध प्रकट करने के लिये किया गया और इसके बाद के वर्षों में भारत-अमेरिकी सम्बन्धों में निरन्तर तनाव विकसित होता गया।

चीन के साथ इस अवधि मे भारत के तनावपूर्ण सम्बन्धों की यथास्थिति बनी रही। सीमा पर विषैले प्रचार की कूटनीति, छुटपुट हरकतें, 1968 मे नागालैण्ड के विद्रोहियों को प्रशिक्षण आदि घटनाओ पर श्रीमती गाधी की सरकार विरोध प्रकट करती रही। यद्यपि श्रीमती गाधी ने प्रधानमत्री बनने के बाद कहा था कि भारत, चीन के साथ बातचीत करने को तैयार है यदि सामान्य स्थितिया उत्पन्न हो।[105] उसके बाद विदेशमत्री सरदार स्वर्णसिंह ने लोकसभा मे अपने एक वक्तव्य मे जानकारी दी कि "चीन ने भारत से सम्बन्ध सुधारने की इच्छा व्यक्त की है।"[106] लेकिन इस दिशा मे इस अवधि में कोई प्रगति नहीं हुई।

श्रीमती गाधी ने इस चरण मे पाकिस्तान के सम्बन्धों में कोई पहल नही की क्योंकि पाकिस्तान ताशकन्द भावना का निरन्तर उल्लघन कर रहा था। पाकिस्तान के प्रयासों से जब मोरक्को के नगर रबात में हुए मुस्लिम सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि-मडल को वापस भेज दिया गया तो भारत में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। श्रीमती गाधी ने मोरक्को तथा जोर्डन से राजदूतों को वापस बुलवा लिया।

इसके अतिरिक्त श्रीमती गाधी ने यात्राओ के राजनय के माध्यम से श्रीलका, भूटान, अफगानिस्तान, बर्मा, नेपाल आदि पड़ौसी देशों से सम्बन्ध सुधारने के प्रयास किये। स्वय अथवा भारत सरकार की ओर से राष्ट्रपति तथा मत्रियो को भेजकर इन देशों का विश्वास जीतने का प्रयत्न किया। 1967 के अरब-इजराइल युद्ध मे श्रीमती गाधी ने अरब राष्ट्रों का दृढतापूर्वक समर्थन किया --

"श्रीमती इदिरा गाधी के नेतृत्व में भारत ने अरबों पर इजराइल के आक्रमण का दृढता से विरोध किया था और इस आक्रमण की निंदा की थी। इसने सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में यह माग की थी कि दोनों लडाकू देश तुरन्त युद्ध बद कर दे और 5 जून 1967

की स्थिति में वापस चले जाए। 10 जून 1967 को सुरक्षा परिषद की पुनः बैठक हुई थी जिसमें सोवियत संघ के प्रतिनिधि ने मांग की थी कि इजराइल को आक्रमणकारी करार किया जाए और इस दाग के लिये उस पर समुचित कार्यवाही की जाय। इस प्रस्ताव का विरोध ब्रिटेन और अमेरिका ने किया था किन्तु भारतीय प्रतिनिधि ने सोवियत सुझाव का समर्थन करते हुए इजराइल की निंदा की थी।"[107]

पश्चिम एशिया के इस संकट पर श्रीमती गांधी ने वही नीति अपनाई जो पूर्ववर्ती प्रधानमंत्रियों द्वारा अपनाई गई थी। श्रीमती गांधी की इस नीति से अमेरिका भारत के प्रति अमैत्रीपूर्ण होता चला गया।

कैरो सम्मेलन के 6 वर्ष बाद 1970 में जाम्बिया की राजधानी लुसाका में गुट-निरपेक्ष देशों का तीसरा सम्मेलन सम्पन्न हुआ। यह अब तक का सबसे बड़ा सम्मेलन था तथा इस सम्मेलन में कई महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार हुआ। मुख्य बात यह थी कि इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों को पूर्ण सहयोग देते हुए पारित किया गया।*

"गुटनिरपेक्ष देशों के सम्मेलन में प्रथम बार एक विशिष्ट प्रस्ताव रखा गया था, यह प्रस्ताव रंगभेद नीति पुर्तगाली उपनिवेशवाद, जिम्बाब्वे, नि‌मिबिया, इण्डोचाइना और मध्य-पूर्व की समस्याओं के प्रति था। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्य प्रस्ताव का यह अनुसरण था। इस सम्मेलन का प्रमुख उद्देश्य था कि गुटनिरपेक्ष देश और अन्य देशों से अनुरोध किया जाए कि वे दक्षिण अफ्रीका, रोडेशिया और पुर्तगाल का बहिष्कार करें और इन के दमन से पीड़ित आन्दोलन को आर्थिक सहायता दें।"[108]

इस सम्मेलन में भारत की भूमिका अत्यन्त प्रभावशाली रही। भारतीय विदेशमंत्री स्वर्णसिंह राजनीतिक समिति के अध्यक्ष थे। राजनीतिक समिति के प्रत्येक निर्णय पर सीधा प्रभाव भारत का था। श्रीमती गांधी ने इस अवसर पर गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों से कहा

> "आज के युग में एकता का अस्तित्व महत्वपूर्ण है, हमने सामरिक शक्तियों की गुटबंदी से अलग रहकर अनुभव कर लिया है। गुटनिरपेक्ष देश शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आन्दोलन में एकता के सूत्र में बंधकर अपनी बुद्धिमानी का परिचय दे सकते है और शक्ति संतुलन का परिचय दे सकते है। हम लोगों को एक होकर सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की बात सोचना चाहिए। गुटनिरपेक्ष राष्ट्र एक ऐसे आन्दोलन के संरक्षक बने जो भविष्य के विश्व का निर्माण करने जा रहा है और विश्व मानवता के जीवन को बेहतर बनाना चाहता है।"[109]

भारत के विदेशमंत्री स्वर्णसिंह ने इस सम्मेलन में कहा कि

"गुट निरपेक्षता का स्थायी महत्त्व है क्योंकि इसका उदय, इन राष्ट्रों की स्वतंत्रता की रक्षा के संकल्प से हुआ है। इनका ध्येय अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को सुदृढ बनाने का

है। अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश मे सामाजिक और आर्थिक सम्पन्नता के विकास के लिये इन देशों की सक्रियता से प्रयास का लक्ष्य भी है। गुटनिर्पेक्ष देशो के सगठन ने सैनिक ध्रुवीकरण के खतरो से तथा साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से दूर रहकर आज अपनी स्वतन्त्रता की ही रक्षा नही की है बल्कि विश्व शान्ति को भी बढावा दिया है।"[110]

प्रधानमत्री श्रीमती गाधी तथा विदेशमत्री सरदार स्वर्णसिंह ने अपने भाषणों मे गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो मे विश्वशाति व विकास के लिये प्रभावशाली भूमिका निभाने की अपील की।

इस सम्मेलन की समाप्ति पर पत्रकारो को सम्बोधित करते हुए श्रीमती गाधी ने कहा कि--

"इस सम्मेलन मे गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो मे सहयोग की जो भावना देखी गई है उसका पूरा लाभ उठाया जाना चाहिए।"[111] सम्मेलन मे हिन्द महासागर को शातिक्षेत्र घोषित करने का प्रस्ताव सर्वानुमति से पारित किया गया।

इस तरह हम देखते है कि श्रीमती गाधी ने 1966 से 1970 तक के अपने इस चरण मे यथार्थ के आधार पर भारतीय विदेशनीति को सचालित करने का प्रयास प्रारम्भ किया जो आगे चलकर राष्ट्रीय हितों की पूर्ति एव वृद्धि मे सहायक हुआ।

सन्दर्भ सूची

1 नेशनल हेराल्ड, नई दिल्ली -- 2 जुलाई, 1946
2 नेहरु, जे० -- इडियाज फॉरेन पालिसी, नई दिल्ली, पृष्ठ 2
3 नेहरु, जे० -- स्पीचेज, इडियाज फॉरेन पालिसी, नई दिल्ली पृष्ठ 3।
4 -वही-
5 हेराल्ड ट्रिब्यून, न्यूयार्क -- 3 जनवरी 18 1947।
6 अप्पादोराय -- एसेज इन पोलिटिक्स एण्ड इन्टरनेशनल रिलेशन्स दिल्ली 1969, पृष्ठ 149
7 मेनन, के०पी०एस० -- इडिया एण्ड द सोवियत युनियन, पृष्ठ 139।
8 नेहरु, जे० -- स्पीचेज, वाल्यूम - 1, पृष्ठ 38-39।
9 राजकुमार, एन०वी० -- (सम्पादित) द बैकग्राउण्ड ऑफ इडियाज फॉरेन पालिसी

नई दिल्ली, 1952, पृष्ठ 96।
10 सी०ए०डी०, मई-जून, 1949, खण्ड - 8, पृष्ठ 72।
11 उद्धृत -- कैम्पबेल एण्ड जॉनसन, मिशन विथ माउण्ट बेटन, लन्दन, 1949, पृष्ठ 353।
12 जे०, नेहरु -- स्पीचज, वाल्यूम - I, पृष्ठ 284।
13 -वही- वाल्यूम - 11, पृष्ठ 314-316।
14 नेहरु, जे. -- स्पीचेज भाग। पृ 281-282
15 उद्धृत -- एस्काट, रीड -- नेहरूज इंडिया, इंडिया क्वार्टरली, अप्रैल-जून, 1965, पृष्ठ 185।
16 नेहरु, जे० -- इंडियाज फॉरेन पालिसी, पृष्ठ 443।
17 -वही- पृष्ठ 444।
18 नहरु, जे० -- इंडियाज फॉरेन पालिसी, पृष्ठ 144।
19 उद्धृत -- गुप्ता, सिसिर -- इंडियाज रिलेशन्स विथ पाकिस्तान (1954-57) पृष्ठ 5।
20 नेसनकी यूरी -- जवाहरलाल नेहरु एण्ड इंडियाज फॉरेन पालिसी, 1977, पृष्ठ 168।
21 द हिन्दुस्तान टाइम्स, 11 दिसम्बर, 1955।
22 नैयर, कुलदीप -- डिस्टेन्ट नैबर्स, 1972, पृष्ठ 82।
23 द टाइम्स ऑफ इंडिया, 6 जुलाई, 1955।
24 -वही- 2 अप्रैल, 1956।
25 द टाइम्स ऑफ इंडिया 21 जून, 1962।
26 7 अक्टूबर, 1950, 14 नवम्बर, 1951, 25 अक्टूबर, 1952, 28 सितम्बर, 1953, 21 सितम्बर, 1954, 20 सितम्बर, 1955, 10 नवम्बर, 1956, 13 सितम्बर, 1957 व 14 जुलाई, 1958 - उद्धृत -- अप्पादोराय, ए० -- चाइनीज एग्रेशन एण्ड इंडिया, इन्टरनेशनल स्टडीज, वाल्यूम -- 5, जुलाई-अक्टूबर, 1963, पृष्ठ 4।
27 जनरल असेम्बली आफिशयल रिकार्ड, सेवन्टी थर्ड मीटिंग, पृष्ठ 19।
28 लोकसभा डिबेट्स, पार्ट-1 (5), 1950, कालम - 155।
29 नार्मन, कजिन्स -- टाक्स विथ नेहरु, लन्दन, 1951, पृष्ठ 55।
30 पणिक्कर, के० एम० -- दि टू चाइनाज, एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, 1955 पृष्ठ 102-103।
31 अप्पादोराय, ए० -- चाइनीज एग्रेशन एण्ड इंडिया, इन्टरनेशनल स्टडीज, वाल्यूम-5, न०-12, 1963, पृष्ठ 5।

32 नेहरु, जे० -- इंडियाज फॉरेन पालिसी, पृष्ठ 303-304।
33 अप्पादोराय, ए० -- पूर्वोक्त -- पृष्ठ 5।
34 टाइम्स ऑफ इंडिया -- 30 जून, 1954।
35 एशियन रेकार्डर -- 1956, पृष्ठ 1182 - 5।
36 चक्रवर्ती, पी० सी० -- इंडियाज चाइना रिलेशन्स (कलकत्ता), प्रथम संस्करण, 1961, पृष्ठ 69।
37 टाइम्स ऑफ इंडिया -- 22 फरवरी, 1955।
38 दि हिन्दू (सम्पादकीय), -- 19 अक्टूबर 1954।
39 कुमार महेन्द्र -- सिनो इंडियन रिलेशन्स, इन्टरनेशनल स्टडीज, वाल्यूम - 5 पृष्ठ
40 एशियन रेकार्डर, नई दिल्ली -- 22-28 अक्टूबर, 1955, पृष्ठ 473।
41 टाइम्स ऑफ इंडिया -- 9 अक्टूबर, 1958।
42 एशियन रेकार्डर -- 1 (28 जनवरी-फरवरी 1956) पृष्ठ 646।
43 व्हाइट पेपर्स - । न 14, पृष्ठ 49-50।
44 डोनल्वेन, एम० डी० एव ग्रीव एम० जे० -- इन्टरनेशनल डिस्प्यूटस केस हिस्ट्री 1945-1970 लन्दन, युगप पब्लिकेशन, पृष्ठ 159।
45 व्हाइट पेपर्स -- 1, नं० - 14, पृष्ठ 32।
46 भारत के प्रधान मंत्री का चीन के प्रधानमंत्री का पत्र 23 जनवरी 1959 व्हाइट पेपर - 1, नं० - 14 पृष्ठ 52।
47 चीन के प्रधानमंत्री का नेहरु का पत्र श्वेतपत्र - 11, 27-33।
48 टाइम्स ऑफ इंडिया -- 21 अक्टूबर, 1962।
49 -वही- 23 अक्टूबर, 1962।
50 -वही- 22 नवम्बर, 1962।
51 लार्ज, नीतो -- इंडिया फेस टु फेस विद चाइना हिस्टारिकल बेकग्राउण्ड ऑफ बार्डर डिस्प्यूट, 1963, वेग प्रिन्टर्स, सिंगापुर, पृष्ठ 11।
52 मूर्ति, के० एम० -- उद्धृत -- नेसेनको, यूरी -- जवाहरलाल नेहरु एण्ड इंडियाज फॉरेन पालिसी स्टर्लिंग, नई दिल्ली, पृष्ठ 288।
53 प्रावदा -- 5 नवम्बर, 1962, उद्धृत -- नेसेनको -- वही -- पृष्ठ 289।
54 प्रमाद विमल - एन आवर व्यू, स्पेशल इश्यू आन इंडियाज फॉरेन पॉलसी इण्टर नेशनल स्टडीज वाल्यूम 17 नम्बर 34 जुलाई-दिसम्बर 1978 पृष्ठ 181।
55 सक्सेशन इन इंडिया ए स्टडी इन डिसीजन माइकल मेकिंग ब्रीचर लंदन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1966 पृष्ठ 143।
56 पब्लिकेशन डिवीजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फार्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग, स्पीचेज ऑफ

प्राइम-मिनिस्टर लाल बहादुर शास्त्री, नई दिल्ली, 1965 पृष्ठ 5।
57 लेवी वर्नर, ईस्टर्न वर्ल्ड लन्दन, सितम्बर-अक्टूबर 1966, उद्धृत - मिश्रा, के० पी० (सम्पादित) भारत की विदेशनीति, मैकमिलन नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ 174।
58 फॉरेन एफेयर्स रिकार्ड - वाल्यूम 10 - नवम्बर 10 पृष्ठ 246।
59 सिंह, एल० पी० - इंडियाज फॉरेन पॉलिसी यू पी एच न्यू देहली 1980 पृ0 50
60 ईस्टर्न इकानामिस्ट अक्टूबर 16, 1964।
61 टाइम्स ऑफ इंडिया 11 अप्रैल, 1965।
62 -वही- 30 अप्रैल, 1965।
63 द चायना क्वार्टरली अक्टूबर-दिसम्बर, 1955, पृष्ठ 172।
64 टाइम्स ऑफ इंडिया नई दिल्ली, सितम्बर 2, 1965।
65 मेजर जौहरी - द इन्डो-पाक कफ्लिक्ट ऑफ 1965, पृष्ठ 108।
66 पीकिंग रिव्यू - 24 सितम्बर, 1965 -- एव श्वेतपत्र भारत सरकार, न० - 12, 16 सितम्बर, 65 -- चीन द्वारा पीकिंग स्थित भारतीय राजदूत को नोट, पृष्ठ 10।
67 श्वेतपत्र - 12, 8 सितम्बर, 65, पीकिंग स्थित दूतावास को चीनी विदेश मत्रालय को इस आशय का नोट, पृष्ठ 36।
68 टाइम्स ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 20 सितम्बर, 1965।
69 सिंह, एल० पी० -- इंडियाज फॉरेन पालिसी (शास्त्री) यू० पी० एच०, न्यू देहली, 1980, पृष्ठ 95।
70 पीकिंग रिव्यू - 39, 24 सितम्बर, 1965, पृष्ठ 13-14।
71 सेनगुप्ता, -- द फॉरम ऑफ एशिया न्यूयार्क, 1970, पृष्ठ 220-223।
72 अफ्रो-एशियन एण्ड वर्ल्ड अफेयर्स, स्प्रिंग, 1965, पृष्ठ 345।
73 टाइम्स ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, सितम्बर 23, 1982।
74 टाइम्स ऑफ इंडिया नई दिल्ली 22 नवम्बर, 1985।
75 करन्ट डाइजेस्ट ऑफ द सोवियत प्रेस भाग सत्रह, न. 34 सितम्बर 15, 1965 पृष्ठ 15-16
76 प्रावदा (मास्को) मई 10, 1965।
77 टाइम्स ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, जनवरी 5, 1966।
78 हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, जनवरी 5, 1966।
79 इंडिया, एक्सटर्नल पब्लिसिटी डिवीजन, ताशकन्द डिक्लेरेशन, न्यू देहली, 1966, पृ० 6-9"
80 ताशकन्द घोषणा, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार एव टाइम्स ऑफ इंडिया, 11 जनवरी, 1966।

81 ताशकद डिक्लेरेशन, पब्लिकेशन डिवीजन गवर्नमेंट ऑफ इडिया न्यू देहली 1966 पृ 1।
82 सिह, एल पी , इडियाज फॉरेन पॉलिसी यू पी एच नई दिल्ली 1980 पृ 103।
83 टाइम्स ऑफ इडिया, नई दिल्ली, 30 अक्टूबर 82 1964।
84 बन्धोपध्याय जे - दि मेकिग ऑफ इडियाज फॉरेन पॉलिसी, एलाइड, 1970 पृ० 264
85 टाइम्स ऑफ इडिया, नई दिल्ली, -- 25 जनवरी, 1966।
86 अयूब, मोहम्मद -- सोवियत आर्म्स-एड टू पाकिस्तान इकनमिक एण्ड-पोलिटिकल वीकली, अक्टूबर 19, 1968।
87 डाक्यूमेन्ट -- इन्दिरा गाँधीज स्पीच एट द मास्को बैंक्वेट 15 जुलाई 1966।
88 फॉरेन अफेयर्स रेकार्ड वाल्यूम - 16 न०, 1 जनवरी 1968 पृष्ठ 8।
89 नेशनल हेराल्ड - 10 जुलाई, 1968।
90 टाइम्स ऑफ इडिया (बम्बई) - 10 जुलाई 1968।
91 -वही-
92 द टाइम्स ऑफ इडिया - 22 अगस्त, 1968।
93 -वही-
94 टाइम्स ऑफ इडिया - 24 अगस्त, 1968।
95 स्टेन, आर्थर इण्डिया एड द सोवियत यूनियन, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस 1969, पृष्ठ 268।
96 चेक क्राइसिस, इण्डियन एड फॉरेन रिव्यू, सितम्बर 1968 पृष्ठ 5।
97 न्यूयार्क टाइम्स 27 अगस्त 1968।
99 टाइम्स ऑफ इडिया, नई दिल्ली, 3 मार्च, 1969।
100 द हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 28, 1966।
101 -वही-
102 टाइम्स ऑफ इडिया, 1 अगस्त, 1969।
103 ट्रिब्यून, अम्बाला, 6 अगस्त, 1968।
104 द हिन्दू, 19 फरवरी 70।
105 टाइम्स ऑफ इडिया, 17 फरवरी, 1966।
106 -वही- 27 अगस्त, 1970।
107 "पत, हर गोविंद - इडियाज फॉरेन पालिसी पचशील प्रकाशन जयपुर 1971 पृ० 82।"
108 "जयपाल ऋखी -- नान एलाइन्मेंट, ओरिजिन्स ग्रोथ एण्ड पोटेंशियल फार वर्ल्ड

पीस, एलाइड,न्यू देहली पृ० 91"।

109 "मिसेज इदिरा गाँधीज स्पीच - दि अन फिनिश्ड रेवोल्यूशन कोटेड - गुप्ता - एम० आर० - फिलॉसफी ऑफ नान एलाइनमेंट, सेक्यूलर डिमोक्रेसी, अगस्त 76 पृ० 89"।

110 मिसेज इदिरा गाँधीज स्पीच, दि अनफिनिस्ड रेवेल्यूशन। उद्धृत गुप्ता, एस आर पृष्ठ 89।

111 द टाइम्स ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 12 नवम्बर 1970।

अध्याय - 3

1971 : भारतीय विदेशनिति की नई व्याख्या का वर्ष

बंगलादेश का मुक्ति सग्राम : भारतीय चिन्ता

चीन-अमेरिका-पाक धुरी

भारत-सोवियत मैत्री संधि : विदेशनीति की नई व्याख्या

भारत-पाक युद्ध एव बगलादेश की स्वतत्रता

भारत-पाक युद्ध और सयुक्त राष्ट्र

1971 भारतीय विदेशनीति की नई व्याख्या का वर्ष

1971 – अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिये एक ऐतिहासिक वर्ष था। वहीं वर्ष भारतीय उपमहाद्वीप के लिये भी ऐतिहासिक घटनाओं से भरा हुआ वर्ष था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विश्वयुद्धोत्तर यथास्थिति में जहां इस वर्ष परिवर्तन हुए वहीं 1947 में ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासकों द्वारा किये गए भारत विभाजन के अप्राकृतिक एवं गलत आधार का समापन हुआ। विश्व राजनीति में अचानक महत्वपूर्ण मोड़ आया तथा चीन एवं अमरिका की दीर्घ शत्रुता अचानक मैत्री में बदल गई। चीन-अमरिकी मैत्री का आरम्भ विश्वयुद्ध के बाद की युगान्तरकारी घटना थी। दूसरी ओर दो राष्ट्रों के सिद्धान्त पर जन्मे पाकिस्तान का विभाजन और फिर बंगलादेश का जन्म भी क्रान्तिकारी घटना थी। विश्व-राजनीति के परिवर्तनों तथा भारतीय उपमहाद्वीप के इन परिवर्तनों में अन्तःसम्बद्धता विद्यमान थी। इस परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत एक प्रभावी शक्ति के रूप में उभर कर आया। बंगलादेश के उदय के लिये परिस्थितियों ने भारत-पाक युद्ध को जन्म दिया। यह युद्ध केवल भारत-पाक के बीच लड़ा गया किन्तु पहली बार महाशक्तियाँ इस युद्ध में सक्रिय रहीं। युद्ध में भारत की निर्णायात्मक एवं ऐतिहासिक विजय में उसके राजनय एवं युद्ध राजनय ने ऐतिहासिक सफलताएं अर्जित की। विश्वराजनीति तथा भारतीय उपमहाद्वीप के इन परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में भारत की विदेशनीति को और अधिक लचीला व यथार्थवादी रूप प्रदान किया जिससे भारत एक प्रभावी देश के रूप में उभरा।

हम अगले पृष्ठों में उन घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन करेंगे जो 1971 में अस्तित्व में आई तथा जिनके फलस्वरूप भारतीय विदेशनीति को नये आयाम दिए गए। उसके सिद्धान्तों की नई व्याख्याएं की गई। यहां हम 1971 के सन्दर्भ में भारतीय विदेशनीति की सफलता पर की गई एक टिप्पणी का उल्लेख करना समीचीन समझते हैं जो हमारे उपरोक्त विश्लेषण की पुष्टि ही करती है

बंगलादेश की आजादी वास्तव में भारत का दूसरी बार आजाद होना माना जायेगा। भारत गत पच्चीस वर्ष पहले आजाद हुआ था किन्तु बांगलादेश की आजादी ने उसे यह अनुभव कराया था कि वह फिर से आजाद हुआ है। मुक्ति के पश्चात् भारत के प्रति देश-विदेश में मान्यता थी कि एक देश शापित और पीड़ित छोटे-बड़े देशों से सताया हुआ कमजोर देश दासता की बेड़ियों से दूर है भारत उस समय स्वयं में भी इतना सशक्त महसूस नहीं कर पा रहा था किन्तु बांगला देश की सफलता से भारत को स्वयं के गौरव का अनुभव हुआ है और दूसरे देशों ने उसके बड़प्पन और शक्ति का एहसास किया है। बांगला देश की विजय ने इस देश का आत्मविश्वास जागा है और उसे भरोसा है कि वह हर संकट का सामना सफलतापूर्वक कर सकता है।"[1]

अब हम उन घटनाओ का क्रमश वर्णन एव विश्लेषण करेंगे जिनमें भारतीय विदेशनीति ने नया स्वरूप प्राप्त किया।

(1) बगलादेश का मुक्ति सग्राम:भारत की चिन्ता

1947 मे जब ब्रिटिश उपनिवेशवादियो ने भारत को स्वतत्रता दी थी तब 'फूट डालो और राज करो' की अपनी नीति का अन्तिम परिणति के रूप मे स्वतत्रता के साथ ही भारत को दो देशों और तीन भागो म विभाजित कर दिया था। दो भागो म एक राष्ट्र के रूप मे पाकिस्तान का निर्माण स्वय में अवैज्ञानिक और अस्वाभाविक था। पाकिस्तान के पूर्वी और पश्चिमी भाग के बीच म भारत का 1200 मील तक का भू-भाग फैला हुआ था। इस विभाजन का आधार दो राष्ट्रो का सिद्धान्त था जिसका प्रतिपादन जिन्ना ने किया था। जिन्ना यह मानते थे कि हिन्दू और मुसलमान केवल दो धर्म, जाति या सम्प्रदाय ही नही दो अलग-अलग राष्ट्रीयताए है। अत वे दोनो एक साथ नही रह सकते। और चूंकि इस्लाम के अनुयायियो का बड़ा भाग एक और पश्चिम म तो दूसरी ओर पूर्वी बगाल मे फैला हुआ था इसलिये विभाजन क लिय व्यग्र लीगी नताओ न दो भागो मे अपने एक देश को स्वीकार कर लिया। सयोग यह था कि एक इस्लाम की समानता के अतिरिक्त उन दोनों भागो मे किसी तरह की समानता नही थी। भाषा, संस्कृति, सभ्यता तथा वैचारिक आधारो पर दोनो भाग पृथक् व्यक्तित्व लिये हुए थे। इस तरह यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि पाकिस्तान का जन्म ही मृत्यु क बीज लिये हुए हुआ था। भारतीय नेताओं ने दो राष्ट्रो के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नही किया और अन्तत 1971 की घटनाओ ने भारतीय मान्यता को सही सिद्ध कर दिखाया। पूर्वी बगाल के लोगो ने भी इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया।[2]

जिन असमानताओ की चर्चा मैने की है उनके अतिरिक्त 1947 से 1970 तक के वर्षो मे पश्चिमी पाकिस्तान म राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण तथा पूरब का उसके सहज राजनीतिक अधिकारो स वचित करना पूर्वी बगालियो क असतोष को निरन्तर बढाता रहा -- भीषण आर्थिक शोषण वह भी देश क एक भाग द्वारा दूसरे भाग का इस असतोष को और उर्जा देता रहा और अन्तत तत्कालीन कारण के रूप मे 1970 के चुनावो मे शेख मुजीब के अवामीलीग को मिली ऐतिहासिक सफलता क बाद भी पाकिस्तान की सैन्य तानाशाही द्वारा सत्ता क हस्तान्तरण के स्थान पर हिसक दमन चक्र ने पाकिस्तान के विभाजन और उपमहाद्वीप म एक स्वतत्र राष्ट्र के उदय के सारे रास्ते आसान कर दिये।

उपरोक्त विश्लेषण के सन्दर्भ मे प्रसिद्ध भारतीय विचारक एव स्वतत्रता सेनानी मौलाना आजाद द्वारा की गई इस टिप्पणी को यहा प्रस्तुत करना उचित होगा कि -- "जिन्ना और उसके साथी इस अहसास के लिये भी तैयार न थे कि भूगोल भी उनके

विरुद्ध था ये दो क्षेत्र (पश्चिमी पाकिस्तान व पूर्वी पाकिस्तान) मे कोई भौतिक सम्पर्क नही था। प्रत्येक दृष्टि से एक धर्म के अतिरिक्त इन दोनो क्षेत्रों के लोग एक-दूसरे से भिन्न थे। यह जनता के साथ बहुत बडे विश्वासघातों मे से एक था कि उसे धार्मिक भावना के आधार पर एक रखा जा सकता है, भले ही वे भौगोलिक, आर्थिक, भाषायी व सास्कृतिक दृष्टि से एकदम भिन्न हो, किसी को आशा नही करनी चाहिए थी कि पूर्वी तथा *पश्चिमी पाकिस्तान अपनी सारी भिन्नताओ के बाद भी एक राष्ट्र के रूप मे रह सकेगा।*[3] पाकिस्तान-निर्माण के 12 वर्ष बाद प्रकाशित आजाद की इस आत्मकथा का निष्कर्ष अन्तिम रूप मे सही सिद्ध हुआ।

1947-1970 तक के बीच जिन भाषाई, सास्कृतिक राजनीतिक एव आर्थिक कारणों से पूर्वी पाकिस्तान मे असन्तोष तेजी से विकसित होता रहा उनका विश्लेषण करना यहा हमारी सीमाओं के कारण सम्भव नही होगा किन्तु यह तय है कि इन वर्षों में पाक-शासकों ने पूर्वी पाकिस्तान का जो शोषण इन सभी मोर्चो पर किया वह ब्रिटिश उपनिवेशवादियो तथा साम्राज्यवादियो के शोषण को भुला देने के लिये पर्याप्त थी। शेख मुजीब ने कहा था कि -- "200 वर्षों तक उपनिवेशवादी ब्रिटिश शासन भी लोगो का इस सीमा तक शोषण नही कर सका, जितना चुनौती रहित शोषण देश के इस भाग (पूर्वी *बगाल) का निहित स्वार्थो वाले पश्चिमी पाकिस्तान ने पिछले 23 वर्षो मे किया है।"*[4]

10 मार्च, 1969 को अवामी लीग के नेता शेख मुजीब ने एक वक्तव्य मे कहा था कि

> "विदेशी सहायता का 80 प्रतिशत पश्चिमी पाकिस्तान पर ही खर्च किया जाता था। इसके साथ ही विदेशी मुद्रा विनिमय से होने वाली आमदनी भी वहीं खर्च होती थी। ऐसी स्थिति मे पश्चिमी पाकिस्तान बीस वर्षो मे 3109 करोड रुपये का आयात कर चुका था उसकी निर्यात की आमदनी केवल 1337 करोड रुपये ही हुई थी, जब कि पूर्वी पाकिस्तान इस अवधि मे आयात 1210 करोड रुपये का हुआ था और निर्यात की आमदनी 1650 करोड रुपये हुई थी।"[5]

9 मार्च, 1971 को एक पत्रकार वार्ता मे मुजीब ने और आश्चर्यजनक तथ्य दिया। उन्होंने कहा कि

> "20 वर्षो मे पूर्वी बगाल ने राजस्व व्यय का पाँचवा भाग यानी लगभग 1500 करोड रुपया खर्च किया था जबकि पश्चिमी पाकिस्तान पर यह व्यय 5000 करोड रुपया हुआ था। इसी अवधि मे विकास कार्यों मे भी पूर्वी बगाल पर पाकिस्तान ने केवल 3000 करोड रुपये ही खर्च किये थे (जो कि कुल खर्च का एक तिहाई हिस्सा ही था) पश्चिमी पाकिस्तान पर जब कि 6000 करोड रुपया खर्च किया गया था।"[6]

इस तरह हम देखते हैं कि पश्चिमी पाकिस्तान द्वारा पूर्वी पाकिस्तान की आर्थिक क्षेत्रों में उपेक्षा व शोषण की चौंका देने वाली स्थितियां थीं।

आर्थिक शोषण के अतिरिक्त प्रशासनिक एवं राजनीतिक स्तर पर भी पश्चिम ने पूर्व की इन वर्षों में निरन्तर उपेक्षा की। भाषा के प्रश्न पर भी बंगालियों के पश्चिम के शासकों से निरन्तर मतभेद बने रहे।

कुल मिलाकर असन्तोष बहुआयामी कारणों से निरन्तर विकसित होता रहा और इस असन्तोष का सशक्त प्रतिनिधित्व किया शेख मुजीब की अवामी लीग ने।

अवामी लीग के नेता शेख मुजीब ने पश्चिम पाकिस्तान के शासकों द्वारा पूर्वी पाकिस्तान के विरुद्ध किए गए निरन्तर शोषण के विरुद्ध बंगाल के असन्तोष को व्यक्त करते हुए अपनी 6 सूत्रीय योजना निम्नानुसार प्रस्तुत की:[7]

1 वयस्क मताधिकार के आधार पर ससदात्मक,संघीय सरकार की स्थापना।
2 संघीय सरकार के पास केवल विदेश एवं रक्षा सम्बन्धी मामले रहें।
3 दोनों भागों के लिये (पूर्वी व पश्चिमी पाकिस्तान) पृथक मुद्रा प्रणाली हो। इस विषय में पूर्वी पाकिस्तान से पश्चिमी पाकिस्तान की ओर पूँजी-प्रवाह को रोकने के लिये प्रभावी सवैधानिक कदम उठाए जाए।
4 करारोपण एवं राजस्व सचय का कार्य इकाईयां करें यह शक्ति संघीय सरकार के पास न हो।
5 विदेशी विनिमय एवं व्यापार की पृथक्-पृथक् व्यवस्था हो जिसका नियंत्रण दोनों भागों की सरकारें करें।
6 प्रभावी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये संघीय इकाईयों को सैनिक व अर्द्ध-सैनिक शक्ति का नियंत्रण एवं सचालन करने का अधिकार हो।

शेख मुजीब के इस 6 सूत्रीय कार्यक्रम के कारण वे बंगाल के लोगों की भावनाओं के प्रवक्ता एवं प्रभावशाली नेता के रूप में उभरे।

पाकिस्तान के शासक याह्या खां ने 7 सितम्बर, 70 से 17 जनवरी, 71 के बीच पाकिस्तान की राष्ट्रीय संसद के लिये आम-चुनाव करवाए। इस तथ्य से सभी सहमत हुए कि ये चुनाव स्वतंत्र और निष्पक्ष हुए। एक व्यक्ति एक मत के सार्वभौमिक मताधिकार के आधार पर पहली बार पाकिस्तान में आम चुनाव हुए जो जनमत संग्रह से कम नहीं थे।[8]

इन चुनावों के समय शेख मुजीब के संकल्प को इन वक्तव्यों से समझा जा सकता है-- "आगामी निर्वाचन ने हमें आने वाली पीढ़ी को उस शोषण व अन्याय से बचाने का अवसर प्रदान किया है जिसके शिकार बंगाली पिछले 24 वर्षों से अर्थात् स्वतंत्रता के प्रारम्भ से ही रहे हैं।"[9] मुजीब ने घोषणा की कि यदि "उनके 6 सूत्रीय कार्यक्रम को देश

के भावी सविधान मे स्वीकार नही किया गया तथा बगाल क स्त्रोतों को उसे नहीं लौटाया गया तो वे जन-आन्दोलन करेंगे।"[10]

इन निर्वाचनो में पूर्वी पाकिस्तान के प्रमुख दल अवामी लीग व पश्चिम पाकिस्तान के प्रमुख दल पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी के बीच सीधा सघर्ष हुआ। इस आम-निर्वाचन के नतीजे शेख मुजीब की अवामी लीग के पक्ष में गए।

राष्ट्रीय सभा की 313 स्थानो मे से अवामी लीग को 167 तथा पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी को 88 स्थानों पर सफलता मिली। शेष स्थानो पर निर्दलीय तथा अन्य छोटे दलों को सफलता मिली। पश्चिमी पाकिस्तान में पी०पी०पी० को सफलता मिली लेकिन पूर्वी पाकिस्तान मे मुजीब के दल ने 310 में से 298 स्थानों पर सफलता प्राप्त कर असाधारण जन-समर्थन हासिल किया।[11]

इस तरह शेख मुजीब तथा उनका दल राष्ट्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकार के लिये असाधारण बहुमत से निर्वाचित हुए। निर्वाचन के परिणामों के अनुसार शेख मुजीब को सत्ता सौंपना चाहिए थी लेकिन पीपुल्स पार्टी के नेता भुट्टो की राजनीति ने यह नहीं होने दिया। भुट्टो ने अपने एक वक्तव्य मे अपनी मशा जाहिर करते हुए कहा कि--"उनकी पार्टी के सहयोग के बिना न तो सविधान बनाया जा सकता है न ही केन्द्र में सरकार चलाई जा सकती है।"[12]

याह्या खान ने 13 फरवरी को घोषणा की -- राष्ट्रीय असेम्बली का अधिवेशन 3 मार्च, 71 को होगा तो 2 दिन बाद भुट्टो ने इस अधिवेशन के बहिष्कार की घोषणा की तथा कहा कि उनके कार्यकर्ता अन्य दलों के प्रतिनिधियों को भी इस अधिवेशन मे जाने से रोकेंगे।[13] किन्तु 5 अन्य दलो के 28 सदस्यों ने भुट्टो की अपील को अस्वीकार करते हुए अधिवेशन में सम्मिलित होने की घोषणा की। 28 फरवरी को भुट्टो ने अधिवेशन स्थगित करने की माग करते हुए उनके दल तथा अवामी लीग के बीच वार्ता हेतु प्रस्ताव रखा।[14]

याह्या खा ने भुट्टो की माग स्वीकार करते हुए 1 मार्च 1971 को पूर्वी पाकिस्तान के लिये नागरिक गवर्नर के स्थान पर जनरल टिक्का खा को सैनिक गवर्नर एव मार्शल ला प्रशासक के पद पर नियुक्त कर दिया।

सैनिक सरकार के इस कदम की जो भुट्टो के दबाव में लिया गया था, पूर्वी पाकिस्तान मे जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई और इसी के साथ अवामी लीग द्वारा अहिंसक प्रतिरोध प्रारम्भ किया गया जो आगे चलकर क्रान्ति के रूप मे परिवर्तित हो गया। याह्या खा द्वारा 25 मार्च, 71 को राष्ट्रीय अधिवेशन के सन्दर्भ में बातचीत करने का निर्णय लिया गया किन्तु वार्ता भग करते हुए याह्या खा की सरकार ने टिक्का खा के नेतृत्व पूर्वी पाकिस्तान के निहत्थे लोगो पर दमन-चक्र शुरु कर दिया जो बगलादेश की स्वाधीनता तक जारी रहा। 26 मार्च, 1971 को शेख मुजीब के नेतृत्व में स्वतत्र बगलादेश की घोषणा

गुप्त रेडियो से की गई।[15]

सैनिक शासकों ने अपना दमन-चक्र प्रारम्भ कर दिया।

"बगलादेश की स्वतन्त्रता की घोषणा के पश्चात् पश्चिम पाकिस्तान का दमन चक्र जारी हुआ था। इस स्वतन्त्रता को कुचलने के लिये सारी फौज पश्चिम पाकिस्तान से भेजी गयी थी, जिसने मार्शल लॉ के आधीन सारे देश मे बर्बरतापूर्ण अत्याचार शुरू कर दिया था। पूर्वी बगाल के नागरिक असहाय होकर गोलियो से भूने जाने लगे, आगजनी, लूटपाट और बलात्कारों के हादसे जुल्म की सीमा तक पहुँच गये थे।"[16]

इसके बाद घटनाक्रम तेजी से घूमा। पूर्वी पाकिस्तान में मार्शल लॉ प्रशासन के विरुद्ध मुक्तिवाहिनी के द्वारा स्वतत्र बगलादेश के लिये सैन्य-सघर्ष प्रारम्भ हो गया। लाखों शरणार्थी भारत की सीमाओं से जीवन रक्षा हेतु प्रतिदिन आते रहे। 17 अप्रैल, 71 को बगलादेश में "स्वतत्र सप्रभुता सम्पन्न गणतत्र" की घोषणा की गई। इसके नेताओं ने विश्व की सरकारों से मान्यता प्रदान करने की अपील की।

भारतीय उपमहाद्वीप में होने वाले इस मुक्ति सघर्ष के परिणाम स्वरूप लगभग एक करोड शरणार्थी भारत आए। भारत की पूर्वी सीमा पर स्थिति बहुत नाजुक थी। शरणार्थियों की बाढ - भारत पर पश्चिमी पाकिस्तान द्वारा किया गया जनाकिकीय आक्रमण था।[18] भारत के प्रवक्ता ने सयुक्त राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय कानून की समिति में कहा कि "पूर्वी पाकिस्तान से लगातार असख्य शरणार्थियो की बाढ ने भारत पर रक्तहीन आक्रमण के लिये बाध्य किया। एक रक्तहीन युद्ध की बेजोड मिसाल है।"[19]

सुरक्षा परिषद में भारत के प्रतिनिधि ने कहा

"यदि किसी अन्य देश के प्रति आक्रमण का अभिप्राय यह हो कि अतिक्रमित, देश की सामाजिक सरचना भार ग्रस्त हो जाय, उसका आर्थिक व्यवस्था की चौपट जाय, शरणार्थियों की हिफाजत के लिए देश के स्कूलो और अस्पतालों में व्यवस्था करनी पड़े सारा प्रशासन ही अपने काम से उखड़कर इसमें लग जाय तो इसे घोषित युद्ध से अधिक और क्या कहा जा सकता है।"[20]

श्रीमती गाँधी ने कहा कि--

"पूर्वी बगाल से टिड्डीदल की तरह घुस आये शरणार्थियो इतना सामाजिक और आर्थिक बोझ भारत पर डाल दिया था कि इस देश की स्थिति डावाडोल होते रह गयी थी।"[21]

बगलादेश के इस स्वतत्रता सग्राम का सीधा प्रभाव भारत पर पड रहा था। शरणार्थियों की बाढ भारत पर अप्रत्यक्ष आक्रमण ही था। इसके अतिरिक्त भारत की सुरक्षा एव अखण्डता को भी खतरा था। अत यह प्रश्न पाकिस्तान का आन्तरिक प्रश्न ही नहीं रह गया था। जिस तरह से बगलादेश में नर-सहार हो रहा था वह एक पडौसी राष्ट्र

होने के नाते मानवीय दृष्टि से भी भारत के लिये चिन्ता का विषय था। इसके अतिरिक्त भी भारत की चिन्ता के कई कारण थे।

यद्यपि यह सही था कि पूर्वी बगाल पाकिस्तान का ही भाग था लेकिन यह बहुत पुरानी बात नही थी कि वह हमारा एक अग भी था तथा पूर्वी बगाल के लोग सास्कृतिक दृष्टि से पश्चिमी बगाल मे बहुत निकट थे, इसलिये उनकी पीडा अन्य देशों की अपेक्षा हमें अधिक अनुभव हो रही थी।

दूसरा, अपने स्वतत्रता सग्राम के दिनो से ही भारत स्वतत्रता के लिये किये गए प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रबल समर्थन देता रहा था चाहे वे विश्व मे कहीं भी हुए हों। बगलादेश का जन-आन्दोलन भी इस शताब्दी का महानतम क्रान्तिकारी स्वतत्रता आन्दोलन था। यह न विद्रोह था न गृहयुद्ध, न असतुष्टों का असगठित आन्दोलन था, यह तो बगलादेश की जनता द्वारा आत्म-निर्णय के अधिकार हेतु की गई स्वतत्रता का राष्ट्रीय सघर्ष था। इसलिये घोषित नीति के अनुरूप भारत का इस सग्राम के प्रति सहानुभूति थी।

तीसरा, बगलादेश में धर्म-निरपेक्षता एव लोकतत्र के लिये सघर्ष हो रहा था, जो भारत के राष्ट्रीय आदर्शों के अनुकूल था। यदि आन्दोलन असफल होता तो 1 करोड शरणार्थियों का पुन बगाल लौटना सभव नहीं हो पाता।

तथा यदि पाकिस्तान इस आन्दोलन को कुचलने मे सफल हो जाता तो भारत के दोनों ओर अधिनायकवादी सैनिक सरकारें होतीं जो भारत के लिये गम्भीर समस्या खडी करतीं।

उधर यह भय भी था कि महाशक्तियों की राजनीति कही इस क्षेत्र को वियतनाम जैसी समस्या का रूप न दे दे।

फिर भी भारत ने धैर्य रखते हुए प्रारम्भ में विश्व जनमत जगाने का प्रयत्न किया। स्वय श्रीमती गाँधी ने अमेरिका तथा यूरोप के प्रमुख देशों की यात्रा की तथा इन देशो के राष्ट्र नेताओ से अपील की कि पाकिस्तान के सैनिक शासकों पर दबाव डालकर समस्या का राजनीतिक समाधान खोजा जाए तथा नरसहार को रोका जाए। श्रीमती गाँधी ने अपने विदेशमत्री तथा जयप्रकाश नारायण को इसी उद्देश्य से भेजा किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। विश्व जनमत जरूर बना, सरकारें शरणार्थियों के लिये सहायता भी करती रहीं किन्तु समस्या के शातिपूर्ण हल के लिये किसी ने कोई प्रयास नही किये। 15 नवम्बर, 71 को श्रीमती गाँधी ने ससद में कहा कि -

> "हमें अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के भरोसे नही रहना चाहिए और जिन देशों की यात्रा मैंने की है न मैं उनसे उम्मीद करती हूँ कि वे हमारी समस्याओं को हल कर सकेंगे। इसका हल हमें स्वय निकालना होगा और स्वय को ही इसकी जिम्मेदारी उठानी होगी।"[22]

उसका कारण महाशक्तियों की राजनीति का अन्यत्र सर्मीकरणों में व्याप्त होना था। ये समीकरण भी कुछ ऐसे बन कि भारतीय उपमहाद्वीप की इस समस्या के सन्दर्भ में और भी कई खतरे दिखाई देन लगे।

एशिया में शक्ति सन्तुलन की राजनीति ने अचानक नया स्वरूप लिया जो इस समस्या पर प्रभाव डाल सकता था।

आगामी पृष्ठों में हम इन परिवर्तनों का तथा उनके इस समस्या पर होने वाले प्रभावों का संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

(2) चीन-अमेरिकी-पाक धुरी

द्वितीय महायुद्ध के बाद की विश्व राजनीति के मंच पर पूंजीवाद बनाम साम्यवाद का ध्रुवीकरण अमेरिका और सोवियत संघ के रूप में सक्रिय रहा। अमेरिका ने साम्यवाद का भय दिखाकर अथवा साम्यवाद के प्रभाव को रोकने के लिए नाटो, सीएटो, सेन्टो, एन्जस आदि सैन्य संधि संगठन गठित किये। प्रत्युत्त में रूस का वारसा संधि संगठन अस्तित्व में आया।

1949 की साम्यवादी चीनी क्रान्ति को अमेरिका द्वारा इसी आधार पर मान्यता नहीं मिली और तीन दशकों तक चीन से निर्वासित च्यांग काइ शेक का ताइवान सुरक्षा परिषद में वीटो की शक्ति का उपयोग करता रहा। जनवादी चीन को, जिसकी आबादी 44 करोड़ उदय के समय थी, अमेरिकी वीटो के कारण संयुक्त राष्ट्र से बाहर रहना पड़ा। चीन के साथ कोरिया व फिर वियतनाम में अमेरिकी-चीन तनाव लम्बे अर्से तक विद्यमान रखा। यहां तक कि 1962 के चीनी आक्रमण के समय बिना शर्त सहायता अमेरिका द्वारा भारत को प्राप्त हुई। महज इसलिये कि यह एक साम्यवादी देश का गैर-साम्यवादी देश पर आक्रमण था।

उधर चीन, सोवियत संघ से महज इसलिये दूर होता चला गया कि अमेरिका से संवाद कर उसने साम्यवाद की मूल भावनाओं का नष्ट किया है तथा इसी कारण चीन, सोवियत संघ पर संशोधनवादी होने का आरोप लगाया तथा 1969 तक आते-आते उस्सुरी नदी पर अपने साम्यवादी भाई से रक्तपात करने से नहीं चूका। 1971 का वर्ष इन दो परम्परागत शत्रुओं के बीच अचानक मैत्री के आरम्भ का वर्ष था। 1971 में चीन और अमेरिका के बीच तीन दशकों तक विद्यमान दीवार अचानक ढहने लगी। वह भी ऐसे समय जब भारतीय उपमहाद्वीप मे बगलादेश में पाकिस्तान के विरुद्ध स्वतंत्रता के लिये संघर्ष हो रहा था।

जैसा कि मैं पूर्व में कह चुका हूँ कि विश्व राजनीति की इन दो प्रभावी शक्तियों के मध्य स्थापित **होने वाले इन संबंधों का भारतीय उपमहाद्वीप की क्रान्ति से अन्तर्सम्बन्ध था।**

इस अन्त सम्बद्धता का कारण "पाकिस्तान" के प्रति अमरिका व चीन की अतिरिक्त आसक्ति था। पाकिस्तान अमेरिका के सीटो और सेंटो जैसे संधि संगठनों का सदस्य तो था ही 1962 के भारत-चीन युद्ध के बाद चीन तथा पाकिस्तान निरन्तर निकट आते चले गये थे। यह पाकिस्तान की ही क्षमता थी कि उसने अमेरिका का भी अपने स्थायी रक्षक के रूप मे (सीटो व सेंटो के माध्यम से) चुन रखा था तथा 1963 मे चीन का कुछ सुविधाए देकर भारत के विरुद्ध सहायता के लिये वचन भी ले लिया था।

1965 के युद्ध मे तो चीन की सहायता धमकिया तक सीमित रही क्योकि अमरिका, चीन को हस्तक्षेप न करने की चेतावनी दे चुका था किन्तु 1971 के संकट मे स्थितियो मे बदलाव आया और चीन तथा अमेरिका का संवाद स्थापित हुआ। इस संवाद के लिये दोनो शक्तिया अपने कनिष्ठ मित्र के प्रति कृतज्ञ थी क्योंकि अमेरिका-चीन रिश्तो मे मध्यस्थ की भूमिका पाकिस्तान की थी। इस मध्यस्थता का उपयोग निक्सन के विदेश सचिव डा० हेनरी किसिन्जर ने किया। जुलाई, 1971 मे भारत को यह जानकारी मिली कि किसिन्जर चीन यात्रा कर राष्ट्रपति निक्सन की चीन यात्रा का कार्यक्रम तय कर रहे है, इसमे पाकिस्तान की मध्यस्थता रहेगी।

पाकिस्तान, चीनी प्रधानमंत्री चाउ एन लाई एव किसिन्जर की चर्चा करने मे निक्सन की पीकिंग यात्रा की योजना को अन्तिम रूप दे रहा है। भारत के लिये यह चिन्तनीय विषय था। इस यात्रा से चीन-अमेरिका-पाक धुरी बन रही थी। इसी बीच अमेरिकी विदेश सचिव ने अमेरिका मे भारत के राजदूत श्री एल०के० झा से कहा कि अगर चीन, भारत पर आक्रमण करेगा तो अमेरिका भारत की कोई सहायता करने में असमर्थ रहेगा।[23]

डा० हेनरी किसीन्जर ने व्हाइट हाउस इयर्स मे भारत-पाक युद्ध मे अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को की गई सहायता को इसी आधार पर तर्क-सम्मत ठहराया है कि पाकिस्तान ने अमेरिका व चीन के सम्बन्धो के सामान्यीकरण मे सहायता की थी।[24]

यह बहुत अजीब स्पष्टीकरण था। सच तो यह है कि सोवियत संघ व भारत के विरुद्ध अपने प्रभाव को स्थापित करने के लिये चीन स्वयं भी अमेरिका से संवाद हेतु मानसिकता बना रहा था।

चीनी नेता माओत्से तुग तथा चाउ एन लाई स्वय भी निक्सन व किसिंजर से बातचीत के लिये उत्सुक थे तथा निश्चित रूप से वाशिंगटन के पास कई अन्य प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष माध्यम थे जिसके द्वारा पीकिंग तक पहुँचा जा सकता था।[25] सच तो यह है कि निक्सन को असलगनता तथा श्रीमती गाँधी के व्यक्तितत्व दोनो से ही चिढ थी। श्रीमती गाँधी द्वारा वियतनाम, पश्चिम एशिया तथा नि शस्त्रीकरण एव हिन्द महासागर आदि समस्याओं पर व्यक्त किये गये स्पष्ट एव निर्भीक विचार निक्सन को परेशानी पैदा करते थे। दूसरी ओर निक्सन, चीनी-सोवियत दरार का लाभ उठाकर अमेरिका को विश्व की

सर्वाधिक प्रभावी शक्ति बनाना चाहते थे। इस उद्देश्य के लिये उन्होंने स्वतंत्रता, समानता व बन्धुत्व के आदर्शों पर स्थित अमेरिका का समर्थन सैनिक तानाशाह को दिया ।

"अमेरिकी विदेशमंत्री किसिंगर और राष्ट्रपति निक्सन की चीन को हर तरह से खुश रखने की नीति में, बंगलादेश को दबाने के लिये पाकिस्तान का समर्थन अदूरदर्शितापूर्ण था। बंगला देश की न्यायपूर्ण और यथार्थ मुक्तिभावना को कुचलने में साथ देना असंगत ही था।"[26]

इस तरह किसिंजर की पीकिंग यात्रा पाकिस्तान के माध्यम से सम्पन्न हुई और घोषणा हुई कि मई, 1972 में राष्ट्रपति निक्सन चीन की सद्भावना यात्रा पर जाएंगे।[27]

इसी के साथ पुरस्कार के रूप में पाकिस्तान को चीन तथा अमेरिका से भारी पैमाने पर शस्त्र तथा आर्थिक सहायता की निरन्तर घोषणाएं होने लगी तथा इस सहायता को पाकिस्तान दोनों हाथों से बटोरने लगा। अपने 1965 के अनुभव के विपरीत पाकिस्तान को यह विश्वास हो गया कि चीन इस बार केवल धमकी तक सीमित नहीं रहेगा वरन् वह संकट में सहायता देगा। इस अवसर पर अमेरिका के सहयोग की भी उसे सहज अपेक्षा थी।

इधर भारत के लिये भी यह अत्यन्त चिन्तनीय विषय था एक तरफ उसकी पूर्वी सीमा पर तनाव था ही तथा शरणार्थियों का बोझ निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था दूसरी ओर पाकिस्तान की पीठ पर सवार अमेरिका की चीन से निकटता, इस आशंका को जन्म देने लगी कि यदि सम्भावित युद्ध में दोनों सक्रिय हुए तो न केवल बंगलादेश की आजादी का आन्दोलन कुचल दिया जायेगा वरन् पाकिस्तान भारत से काश्मीर की चाहत में युद्ध घोषित न कर दे। इस तरह चीन-अमेरिकी-पाक धुरी के निर्माण ने भारत की चिन्ताओं में वृद्धि की।

उधर सोवियत संघ के लिये भी चीन-अमेरिकी संवाद परेशानी का कारण बना। अमेरिका के पाकिस्तान व चीन के माध्यम से सोवियत संघ के विरुद्ध षड्यंत्रों की आशंकाएं सोवियत नेताओं को हुई। चीन से 1969 की सोवियत झड़प अभी बहुत पुरानी घटना नहीं थी। नव-साम्राज्यवादी अमेरिका पुनः दंगल का लाभ उठाने की राजनीति में सक्रिय था।

"बड़ा आश्चर्यजनक है कि अमेरिका पचास और साठ की दशक में चीन से इतना विरोध रखता था कि संयुक्त राष्ट्र संघ में उसके प्रवेश का विरोध करता था, वही सत्तर की दशक में उससे हाथ मिला बैठा, अमेरिका, चीन और रूस के आपसी तनाव का फायदा उठा कर दोनों को ही कमजोर करने के प्रयास में लगा है क्योंकि इस क्षेत्र के किसी भी देश से उसका लगाव नही है।"[28]

किन्तु प्रत्येक क्रिया की समान और विपरीत प्रतिक्रिया होती है। चीन-अमेरिका-पाक धुरी यदि क्रिया थी तो उसकी प्रतिक्रिया भी शीघ्र ही हुई जिसकी चर्चा आगामी पृष्ठों में करेंगे।

(3) भारत-सोवियत मैत्री संधि, विदेशनीति की नई व्याख्या

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि चीन-अमेरिका-पाकिस्तान धुरी का निर्माण ऐसे समय मे हुआ जब भारतीय उपमहाद्वीप के एक भाग मे दमन-चक्र चल रहा था जिसका सीधा प्रभाव भारत के हितो पर पड रहा था। इस धुरी के निर्माण से नई दिल्ली व मास्को दोनों को अपने-अपने कारणों से सतर्क होना पडा और क्रिया की समान और विपरीत प्रतिक्रिया के रूप मे भारत और सोवियत संघ के विदेशमंत्रियों ने 9 अगस्त, 1971 को 20 वर्ष की शांति मैत्री और सहयोग की एक संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। यह भारतीय विदेशनीति के अब तक के इतिहास मे सर्वाधिक नवीन घटना थी।

यहा यह विश्लेषण समीचीन होगा कि भारत और सोवियत संघ संधि की स्थिति तक किस तरह पहुँचे।

भारत की स्वतत्रता के बाद सोवियत संघ ने प्रारम्भ में भारत की असंलग्नता के प्रति कोई विशेष अनुकूल रुचि नही दिखाई थी, वैसे भी अपनी लोह आवरण नीति के कारण स्टालिन ने विश्व राजनीति से सोवियत संघ को अलग कर रखा था। स्टालिन के बाद जब ख्रुश्चेव बुल्गानिन का नेतृत्व सोवियत संघ को मिला तब सोवियत-भारत निकटता का प्रारम्भ हुआ। काश्मीर के प्रश्न पर और फिर गोआ के प्रश्न पर भारत के पक्ष मे संयुक्त राष्ट्र मे सोवियत संघ ने वीटो प्रयुक्त किया। इसी अवधि के बीच जब भारत की यात्रा पर 1955 मे ख्रुश्चेव बुल्गानिन आए तो मैत्री की दिशा मे यह यात्रा मील का पत्थर सिद्ध हुई। जब सोवियत नेताओ ने अपने मित्र नेहरू से अपने समस्त वैज्ञानिक आर्थिक अनुभव भारत के साथ बाटने' की तपरता दिखाई तथा,रोटी का आखरी टुकडा भी साथ मिलकर खाने' की बात कही। इसी यात्रा मे ख्रुश्चेव ने नेहरू से कहा था कि -- "जब कभी भी आपको हमारी सहायता की आवश्यकता पडे, काश्मीर की चोटियों से खडे होकर आवाज दे दीजियेगा, हम चले आएगे।"

इन दिनों मे नेहरू गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के माध्यम से तीसरी दुनिया के प्रवक्ता व विचारक के रूप मे विश्व राजनीति की ऊचाईयो पर थे। नेहरू का समाजवाद के प्रति रुझान सोवियत संघ को भारत के निकट लाया था।

1962 के चीन आक्रमण के समय सोवियत संघ म "साम्यवादी भाई" और गैर-साम्यवादी मित्र के बीच चुनाव करना था। सोवियत संघ इस दौर मे लगभग तटस्थ रहा। प्रारम्भ मे उसका झुकाव चीन की ओर था किन्तु बाद मे सोवियत संघ के प्रभाव के कारण ही चीन ने इकतरफा युद्ध विराम किया।

इसके बाद के वर्षों में सोवियत संघ भारत के सन्दर्भ मे उदासीन होता चला गया। 1965 से 1968 तक तो सोवियत संघ ने भारत व पाकिस्तान के मध्य तटस्थ भूमिका निभाना प्रारम्भ किया। कई कारणों से जिनकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है, सोवियत संघ

भारत के उतना निकट नहीं रहा जितना नेहरुयुग मे था। इस अवधि मे पाक-सोवियत मैत्री की स्थापना के प्रयास हुए। पाकिस्तान को सफलता मिली। ताशकद समझौते से लेकर सोवियत सघ द्वारा पाकिस्तान को हथियारों की लदान तक ये सम्बन्ध बहुत मधुर रहे, लेकिन 1970-71 की भारतीय उपमहाद्वीप की घटनाओ तथा किसिन्जर-निक्सन द्वारा चीन-सोवियत दरार का लाभ उठाने के प्रयासो के रुप मे जब अचानक अमेरिकी-चीन तनाव शैथिल्य का परिदृश्य विश्व राजनीति के मच पर प्रकट हुआ तथा दूसरे सूत्रधार के रुप मे पाकिस्तान की भूमिका रही और अन्तत जब पिंडी-पीकिंग-टन का त्रिगुट तैयार हुआ तो सोवियत सघ ने अपने समक्ष अपनी भारतीय उपमहाद्वीपीय नीति के सन्दर्भ में प्रश्नचिन्ह अनुभव किये।

इधर यह भी उल्लेखनीय है कि श्रीमती गाँधी द्वारा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर जो दृष्टिकोण अपनाया गया था उससे अमेरिका जो 1962 के अपवाद को छोडकर सामान्यत भारत से दूर ही रहा था और दूर होता चला गया था। फिर पाकिस्तान को निरन्तर हथियारों की पूर्ति पर श्रीमती गाँधी की उग्र प्रतिक्रिया भारत-अमेरिकी खिचाव का कारण बनी। अमेरिका से दूर होने के कारण तथा 1962 व 1965 के भारत के कडवे अनुभवों के कारण श्रीमती गाँधी विदेशनीति के सिद्धान्तों के प्रति पूरी तरह व्यवहारिक हो गई थी और वैसे भी उनका विश्वास शक्ति की राजनीति सचालित करने मे ही अधिक रहा है, इसलिये उन्होने राष्ट्रीय हितों को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हुए विदेशनीति को तदनुसार ढाला उनकी सोवियत नीति की भारत मे प्रखर आलोचना होती रही। सोवियत सघ द्वारा पाकिस्तान को हथियार प्रदान करने की नीति पर भारत मे तो यहाँ तक कहा गया कि हमें चीन व पाकिस्तान से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए व सोवियत सघ विश्वसनीय नहीं हो सकता। फिर भी श्रीमती गाँधी ने बहुत सयत दृष्टिकोण अपनाते हुए इतना ही कहा कि -- "भारत सोवियत सघ के इस निर्णय से खुश नही है।" साथ ही यह भी दृढतापूर्वक कहा कि सोवियत सघ के प्रति भारत की नीति में कोई परिवर्तन नही होगा।

चेकोस्लोवाकिया के सकट के समय श्रीमती गाँधी को सोवियत सघ की निन्दा न करने के लिये बहुत तीव्र आलोचना हुई। उनके एक मत्री - अशोक मेहता ने मत्रीपद से त्यागपत्र तक दे डाला किन्तु उस सन्दर्भ मे भी श्रीमती गाँधी ने इस तथ्य से परिचित होने के बाद भी कि उसी अवधि में सोवियत सघ - पाक मैत्री भी तेजी से विकसित हो रही थी, सयत दृष्टिकोण ही श्रीमती गाँधी ने इस बार भी अपनाया। फिर वियतनाम व पश्चिम एशिया के प्रश्न पर भारत की नीति सोवियत सघ के अनुकूल ही थी। इसी बीच 1969 में चीन-सोवियत सघर्ष में भी श्रीमती गाँधी ने सोवियत सघ का ही समर्थन किया। कुल मिलाकर इस पूरी अवधि में श्रीमती गाँधी ने सोवियत सघ को मित्र परखने का लगातार अवसर दिया।

और 1971 में जब चीन-अमेरिकी दौत्य सम्बन्धों की स्थापना हुई तो सोवियत सघ

को भी मित्र की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव होने लगी। साम्यवादी पूर्वी यूरोपीय देशों के अतिरिक्त सोवियत संघ के साथ कोई प्रभावी विश्वसनीय मित्र नहीं था। भौगोलिक कारणों से सोवियत संघ के पास भारत से मैत्री को स्थायित्व प्रदान करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। भारत और सोवियत संघ के मध्य स्थित चीन दोनों ही देशों से अपनी शत्रुतापूर्ण नीति का अनुसरण करते हुए, इनसे अधिक तीव्र शत्रु से मैत्री के लिये व्यग्र हो उठा। चीन का यह प्रयास जहाँ भारत के लिये खतरनाक था वहीं सोवियत संघ के लिये भी उतना ही चुनौतीपूर्ण था। फिर पाकिस्तान के प्रति सोवियत संघ को चीन अमरिका मैत्री में उसकी भूमिका के कारण मोहभंग करना पड़ा। उल्लेखनीय है कि पाकिस्तान को सोवियत संघ इस आशा से सहायता कर रहा था कि वह अमेरिका चीन के प्रभाव से दूर रखा जा सके किन्तु सोवियत संघ के ये प्रयास मूलतः असफल रहे।

उधर पाकिस्तान के पूर्वी भाग में चल रही क्रान्ति की सफलता भी अब सोवियत संघ के लिये अपरिहार्य अनुभव होने लगी। सोवियत संघ व भारत दोनों का यह आशंका हो गई थी कि जिस तरह पाकिस्तान की सैन्य सरकार को जन-क्रान्ति को कुचलने के लिये अमेरिका व चीन नैतिक राजनैतिक व सैनिक समर्थन बड़े पैमाने पर दे रहे हैं उससे उपमहाद्वीप अमेरिका तथा चीन की राजनैतिक आकांक्षाओं से घिर कर रह जायगा।

इन स्थितियों में बहुत अप्रत्याशित तरीके से उधर जब पाकिस्तान के सौजन्य से अमेरिका के राष्ट्रपति की मई 72 में पीकिंग यात्रा की घोषणा हुई और इधर उसकी प्रतिक्रिया के रूप में 9 अगस्त, 71 को सोवियत विदेशमंत्री आन्द्रे ग्रोमिको व भारत के विदेशमंत्री सरदार स्वर्ण सिंह ने 20 वर्ष की शांति मैत्री और सहयोग की भारत-सोवियत संधि पर हस्ताक्षर कर समूचे विश्व को अचम्भित कर दिया।

अब हम भारत-सोवियत संधि के प्रारूप को प्रस्तुत करते हुए उसकी समीक्षा करेंगे।

शांति, मैत्री और सहयोग की संधि

दोनों के बीच वर्तमान सच्ची मित्रता के सम्बन्धों को सुदृढ़ और सुविस्तृत करने की इच्छा रखते हुए, इस विश्वास से कि मित्रता और सहयोग के अधिक विकास से दोनों राज्यों के मौलिक राष्ट्रीय हित तथा एशिया और सारे संसार में सुदीर्घ शांति का पोषण मिलता है,

विश्व शांति और सुरक्षा की दृढ़ता को संवर्धित करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने के सतत् प्रयास एवं उपनिवेशवाद के अवशेषों को पूर्णतया एवं अन्तिम रूप से समाप्त करने के निश्चय से

विभिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक प्रणालियों वाले राज्यों के बीच शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और सहयोग के सिद्धान्तों में अटूट विश्वास रखते हुए

इस पूर्ण विश्वास के साथ कि संसार की वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं संघर्ष द्वारा नहीं बल्कि मात्र सहयोग द्वारा सुलझाई जा सकती हैं,

सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर के उद्देश्यों और सिद्धान्तो को मानकर चलते रहने के सकल्प की पुन पुष्टि करते हुए,

एक ओर भारत गणतत्र और दूसरी ओर सोवियत समाजवादी गणतत्र सघ ने वर्तमान सधि करने का निश्चय किया है जिसके लिये निम्नाकित पूर्णाधिकारी नियुक्त हैं

भारत गणतत्र की ओर से

सरदार स्वर्णसिह

विदेशमत्री

सोवियत समाजवादी गणतत्र सघ की ओर से

श्री अ० अ० ग्रोमिको

विदेशमत्री

जिन्होने अपने प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत किये हैं और जिनको शुद्ध और सही माना गया है, वे निम्न प्रकार से सहमत हुए

अनुच्छेद एक

महान सविदाकारी पक्ष निष्ठापूर्वक घोषणा करते हैं कि दोनो देश और उनकी जनता के बीच स्थायी शाति और मित्रता बनी रहगी। प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्ष की स्वतत्रता, प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय अखण्डता का सम्मान करेगा तथा दूसरो के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप नही करेगा। महान सविदाकारी पक्ष की सच्ची मित्रता, अच्छी प्रतिवेशिता और व्यापक सहयोग के वर्तमान सम्बन्धों को उपरोक्त सिद्धान्तो तथा समानता एव पारस्परिक लाभ के आधार पर विकसित और सुदृढ करते रहगे।

अनुच्छेद दो

प्रत्येक सम्भव प्रकार से दोनो की जनता के लिये स्थायी शान्ति और सुरक्षा को सुनिश्चित करने के योगदान की इच्छा से प्रेरित होकर महान सविदाकारी पक्ष अपने इस सकल्प की घोषणा करते है कि वे एशिया और समूचे ससार मे शाति बनाए रखने, उसे दृढ करने, शस्त्र होड को रोकने तथा प्रभावकारी अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण के अधीन सामान्य एव सम्पूर्ण नि शस्त्रीकरण के लिये, जिनमे आणविक एव परम्परागत दोनो अस्त्र-शस्त्र शामिल है, सतत् प्रयास करते रहगे।

अनुच्छेद तीन

समस्त राष्ट्र और सभी देशो की जनता की समानता के चाहे उनका कोई धर्म या जाति हो, उच्च आदर्श के प्रति अपनी निष्ठा से प्रेरित होकर महान सविदाकारी पक्ष

उपनिवेशवाद और जातिवाद के सभी रूपों की निन्दा करते है और उन्हें पूर्णतया लुप्त कर देने के प्रयास के संकल्प में पुन आस्था प्रकट करते हैं।

इन उद्देश्यो की प्राप्ति तथा उपनिवेशवाद एव जातिवाद के विरुद्ध सघर्ष करने वाले सभी देशों की जनता की उचित आकाक्षाओं का समर्थन करने के लिये महान सविदाकारी पक्ष दूसरे राज्यों के साथ सहयोग करेंगे।

अनुच्छेद चार

भारत गणतत्र, सोवियत समाजवादी गणतत्र सघ की शान्तिप्रिय नीति का सम्मान करता है जिसका उद्देश्य सभी राष्ट्रों के साथ मित्रता और सहयोग का सुदृढ करना है।

सोवियत समाजवादी गणतत्र सघ, भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति का सम्मान करता है और इसमें पुन आस्था प्रकट करता है कि विश्वशाति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा को बनाए रखने तथा ससार मे तनाव कम करने मे इस नीति का महत्वपूर्ण स्थान है।

अनुच्छेद पॉच

विश्वशाति एव सुरक्षा का सुनिश्चित करने मे गहरी अभिरुचि रखते हुए तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पारस्परिक सहयोग का बड़ी महत्ता देते हुए महान सविदाकारी पक्ष दोनों राज्यों के हितो को प्रभावित करने वाली मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में प्रमुख राजनेताओं के बीच गोष्ठी और विचारों के आदान-प्रदान दोनों सरकारों के विशेष दूतो तथा सरकारी प्रतिनिधि मडलों की यात्रा एव राजनयिक माध्यमों के द्वारा बराबर सम्पर्क बनाए रखेंगे।

अनुच्छेद छः

दोनों के बीच आर्थिक, वैज्ञानिक एव तकनीकी सहयोग को पूर्ण महत्ता देते हुए महान सविदाकारी पक्ष परस्पर लाभकारी एव व्यापक सहयोग का इन क्षेत्रों में बराबर सुदृढ एव विस्तृत करते रहेंगे तथा 26 दिसम्बर, 1970 के भारत-सोवियत व्यापार समझौते के अन्तर्गत निकटस्थ देशों के साथ उल्लिखित विशेष व्यवस्था एव समझौतों के अध्यधीन समानता, पारस्परिक लाभ तथा अति अनुगृहित राष्ट्र के प्रति व्यवहार के आधार पर व्यापार परिवहन और सचार का विस्तार करेंगे।

अनुच्छेद सात

महान सविदाकारी पक्ष विज्ञान, कला, साहित्य, शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, प्रेस, रेडियो, टेलिविजन, सिनेमा, पर्यटन और खेल के क्षेत्रों में आपसी सम्बन्ध एव सम्पर्क को और अधिक विकसित करेंगे।

अनुच्छेद आठ

दोनों देशों के बीच विद्यमान परम्परागत मित्रता के अनुसार महान संविदाकारी पक्ष का प्रत्येक पक्ष निष्ठापूर्वक घोषित करता है कि वह किसी भी ऐसे सैनिक गठबन्धन में, जो दूसरे पक्ष के विरुद्ध हो, न सम्मिलित होगा और न भाग लेगा।

प्रत्येक महान संविदाकारी पक्ष वचनबद्ध है कि वह दूसरे पक्ष पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं करेगा तथा अपने क्षेत्र में किसी प्रकार के ऐसे कार्य नहीं होने देगा जिससे दूसरे पक्ष को सैनिक क्षति की आशंका हो।

अनुच्छेद नौ

प्रत्येक महान संविदाकारी पक्ष वचनबद्ध है कि वह किसी तीसरे पक्ष को, जो महान संविदाकारी पक्ष के विरुद्ध शस्त्र-संघर्ष में लगा हो किसी प्रकार की सहायता नहीं देगा। दोनों में से किसी पक्ष पर आक्रमण होने या आक्रमण का खतरा उपस्थित होने पर महान संविदाकारी पक्ष शीघ्र परस्पर विचार-विमर्श करेगा ताकि ऐसे खतरे का समाप्त किया जाए तथा दोनों देशों की शान्ति और सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिये समुचित प्रभावकारी कदम उठाए जाए।

अनुच्छेद दस

प्रत्येक महान संविदाकारी पक्ष निष्ठापूर्वक घोषित करता है कि वह किसी भी एक या एक से अधिक राज्यों के साथ कोई भी गुप्त या प्रकट दायित्व अपने ऊपर नहीं लेगा जो इस संधि के प्रतिकूल हो। महान संविदाकारी पक्ष का प्रत्येक पक्ष यह भी घोषित करता है कि उसका किसी राज्य या राज्यों के साथ न कोई ऐसा वर्तमान दायित्व है और न भविष्य मे कोई ऐसा दायित्व लेगा जिससे दूसरे पक्ष को किसी प्रकार की सैनिक हानि हो सकती हो।

अनुच्छेद ग्यारह

यह संधि बीस वर्षों की अवधि के लिये की गई है और यदि महान संविदाकारी पक्षों मे से एक पक्ष संधि समाप्त होने से बारह महीने पूर्व दूसरे पक्ष को सूचना देकर संधि को समाप्त करने की इच्छा घोषित न करे तो प्रत्येक पाँच वर्ष की अवधि के बाद स्वत इसकी अवधि बढ़ जाएगी। यह संधि अनुसमर्थन के अधीन होगी और अनुसमर्थन के दस्तावेज के आदान-प्रदान के दिन से लागू होगी। दस्तावेजों का यह आदान-प्रदान संधि पर हस्ताक्षर हो जाने के लिये महीने के भीतर मास्को में होगा।

अनुच्छेद बारह
महान सविदाकारी पक्ष के बीच इस सधि के किसी एक या एकाधिक अनुच्छेद की व्याख्या मे किसी प्रकार का अन्तर उत्पन्न होने पर शातिपूर्ण उपायो पारस्परिक सम्मान और सूझबूझ द्वारा द्विपक्षीय ढग स निपटाया जायगा।

उपरोक्त पूर्णाधिकारियो ने वर्तमान सधि पर हिन्दी रूसी और अग्रजी म हस्ताक्षर कर दिए हैं, इन पर उन्होने अपनी मोहर लगा दी है और इस सधि क सभी पाठ समान रूप से प्राधिकृत हैं।

आज नई दिल्ली म ईसवी सन् 1971 के अगस्त मास क नवें दिन तदनुसार शक सम्वत् 1893 के श्रावण मास के अठारहवे दिन यह सधि सम्पन्न हुई।[29]

उक्त प्रारूप के साथ भारत और सोवियत सघ की सधि पर हस्ताक्षर हुए। यहा हम इस सधि की व्यवस्थाओ की समीक्षा करेंगे।

यह सही है कि यह सधि शातिपूर्ण सह-अस्तित्व एव विश्वशाति क सिद्धान्तो मे दो देशो की आस्था की घोषणा करती हे। दोनो देशो क विदेशमत्रियो ने अपने सयुक्त वक्तव्य मे कहा था कि -- "यह सधि सोवियत सघ व भारत क बीच अनेक वर्षो से स्थापित सच्ची मित्रता, आदर आपसी विश्वास और अन्य अनेक प्रकार क रिश्ते सबन्धो का तर्क सम्मत परिणाम है जो समय की कसौटी पर खरे उतर ह।"[30]

इस सधि के प्रारम्भ मे दिये गये वक्तव्य तथा सधि के प्रथम तीन अनुच्छेद मे शातिपूर्ण सह-अस्तित्व तथा पचशील के सिद्धान्तो पर निष्ठा व्यक्त करते हे तथा विश्वशाति की स्थापना के लिये दोनो देशो द्वारा किये जाने वाले प्रयासो उपनिवेशवाद तथा जातिवाद के अवशेषों को समाप्त करने के लिये अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करते हैं।

सधि का चौथा अनुच्छेद अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसमे जहा भारत ने सोवियत की शातिप्रिय नीति के प्रति सम्मान प्रकट किया है वही सोवियत सघ ने भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया है। इस तरह भारत ने इस सधि के माध्यम से गुट-निरपेक्षता की नीति के प्रति सोवियत सघ का पूर्ण समर्थन लेकर सधि के बाद भी अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे स्वतन्त्र नीति के अनुसरण करने के अपने अधिकार को सुरक्षित रखा है।

श्रीमती गाँधी ने इस सन्दर्भ म एक वक्तव्य मे कहा था कि

> "यह सधि बगलादेश की समस्या म अपने देश क स्वतत्र निर्णय मे कोई रुकावट न डालेगी। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जो भी समस्याएँ इस बीच उपस्थित होगी, हम अपने देश के राष्ट्रीय हित को प्राथमिकता देत हुए ही तय करगे। लकिन हमे अन्य देशों से परामर्श कर लेना चाहिए, यह जरूरी नही हे कि किसी का सुझाव माने ही किन्तु भारत शासन हमेशा अपने स्वतत्र विचार का अपने देश के

लिए में प्रयोग करेगा"[31]

श्रीमती गाँधी ने दृढ़तापूर्वक कहा कि--

"किसी भी संधि का यह शक्ति प्राप्त नहीं है कि वह हमारे निर्णय को प्रभावित कर सके। हम ऐसी कि शर्त को कभी स्वीकृति नहीं देंगे।"[32]

इस तरह संधि के चौथे अनुच्छेद में अपनी असंलग्नता की नीति को अक्षुण्ण रखते हुए भारत ने इस संधि पर हस्ताक्षर किये।

इसी तरह संधि के पाँचवे अनुच्छेद में विभिन्न विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति दोनों पक्ष विश्वशांति और सुरक्षा के उपायों पर परस्पर चर्चा के माध्यम से अपनी भूमिका निश्चित करने के लिये कृत-संकल्प हों।

संधि का छठा एवं सातवां अनुच्छेद दोनों देशों में विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर सहयोग के लिये अपनी सहमति प्रकट करता है। ये क्षेत्र आर्थिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, तकनीकी, सामाजिक आदि हैं।

संधि के तीन अनुच्छेद अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं जिनकी भाषा से यह आभास तो नहीं होता है कि ये अनुच्छेद सैन्य सुरक्षा संधि के उपबन्धों के सदृश्य हैं किन्तु ऐसा लगता है कि दोनों पक्षों ने अद्यापित तरीके से अव्यक्त परस्पर समझ विकसित करते हुए कुछ इस तरह की व्यवस्था इन अनुच्छेदों में की है कि दोनों देशों के विरुद्ध किसी तीसरे देश का अहस्तक्षेप के लिये चेतावनी का अहसास हो। यहां प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी के ही एक वक्तव्य को प्रस्तुत करना समीचीन होगा -- "जिन देशों में भारत के प्रति द्वेष-दृष्टि है, वे इस संधि के अनुच्छेद क्र. 9 को सावधानी से बार-बार अवलोकन करें। इसने भारत को अधिक सशक्त बना दिया है।"[32]

इसी की पुष्टि करते हुए एक पत्र ने अपने सम्पादकीय में लिखा था

"अप्रत्यक्ष रूप से सोवियत संघ ने भी भारत से विरोध रखने वाले पड़ोसी देश चीन और पाकिस्तान को सावधान किया था कि भविष्य में उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि भारत-सोवियत शान्ति समझौता उन सभी निहितार्थों को स्पष्ट है जिनमें शान्ति को खतरा पैदा हो सकता है। दूसरी बात यह है कि संधि हस्ताक्षर के पूर्व तक सोवियत शस्त्र उन देशों को भी दिये गये थे जो कि भारत विरोधी थे। किन्तु शान्ति संधि के पश्चात् हम सोवियत संघ को ऐसे देशों को शस्त्र प्रदाय के लिये मना कर सकते हैं। यह संधि भारत के लिये सोवियत सहायता का आश्वासन है और उन देशों के लिए चेतावनी है जो कि भारत के विरुद्ध समर-व्यूह रच रहे हैं।"[34]

संधि के अनुच्छेद आठ में एक-दूसरे के विरुद्ध किसी सैन्य-गठबन्धन में सम्मिलित न होने की बात कही गई है। साथ ही एक-दूसरे पर अनाक्रमण के सन्दर्भ में भी वचनबद्धता प्रकट की है।

संधि का नौवां अनुच्छेद और अधिक महत्वपूर्ण है जिसमें स्पष्टता दिखाई देती है। इसमें कहा गया है कि दोनों में से कोई भी पक्ष किसी ऐसे तीसरे पक्ष को जो संविदाकारी पक्ष के विरुद्ध संघर्ष में लगा हो, किसी प्रकार की सहायता नहीं देगा। इसमें भी अधिक महत्वपूर्ण वाक्य वह है जिसमें कहा गया है कि -- दोनों में से किसी भी पक्ष पर आक्रमण होने या आक्रमण का खतरा उपस्थित होने पर महान संविदाकारी पक्ष शीघ्र ही परस्पर विचार-विमर्श करेंगे ताकि ऐसे खतरे को समाप्त किया जाय तथा दोनों देशों की शांति और सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिये समुचित प्रभावकारी कदम उठाए जाए।"

यह सही है कि इस प्रावधान में यह व्यवस्था नहीं है कि दोनों पक्ष किसी तीसरे आक्रामक के विरुद्ध संयुक्त सैन्य- शक्ति से उत्तर देंगे। जैसा कि सुरक्षा व सैन्य संगठनों के प्रावधानों में होता है। क्योंकि भारतीय विदेशनीति के मूल सिद्धान्तों में सैन्य संधि संगठन, से पृथक् रहने की नीति सम्मिलित है, किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि विचार-विमर्श के बाद प्रभावकारी कदम सैन्य हस्तक्षेप ही हो तो क्या स्थिति बनेगी ? जैसा कि बाद में भारत-पाक युद्ध के समय हुआ। जब बंगाल की खाड़ी में अमरिका का सातवां जहाजी बेड़ा पहुँचा था तो तत्काल सोवियत संघ का तृतीय बेड़ा इस पर निगरानी रखने के उद्देश्य से उसके पीछे पहुँच गया था। अब प्रश्न है कि यदि सातवां बेड़ा सक्रिय रहता तो सोवियत संघ खामोश रह सकता था ?

संधि के नौवें अनुच्छेद के क्रियान्वयन में ही सोवियत बेड़ा तुरन्त सातवें बेड़े के साथ ही चला आया था।

इस तरह यह सिद्धान्त सही होने के बाद भी कि संधि के इस अनुच्छेद से यह संधि सैन्य सुरक्षा संधि नहीं हो सकती किन्तु अन्तर्निहित भावनाएं अघोषित रूप में इसके लिये मार्ग प्रशस्त करती हैं।

इसी प्रकार दसवां अनुच्छेद भी युद्ध के समय की भूमिका से ही सम्बद्ध है। अन्तिम दो उपबन्ध संधि की अवधि तथा संधि के किसी अनुच्छेद के सन्दर्भ में होने वाले भ्रम को दूर करने के लिये उपाय निर्धारित करते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि भारत-सोवियत संधि जो शांति मैत्री व सहयोग की भावनाओं पर आधारित थी एक युगान्तरकारी घटना के रूप में भारतीय विदेशनीति के सन्दर्भ में घटित हुई।

इस संधि से भारतीय विदेशनीति के आधारभूत सिद्धान्त गुटनिरपेक्षता को और अधिक व्यवहारिक बनाया गया। बाद में होने वाली घटनाओं पर इस संधि का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है।

इस संधि के बाद चीन 1965 की तरह भारत-पाक युद्ध में चेतावनी देने की स्थिति में नहीं रहा। इसके बाद भी कि चीन के तत्कालीन कार्यवाहक विदेशमंत्री ची फग फी ने भारत-पाक युद्ध प्रारम्भ होने के 25 दिन पूर्व पाकिस्तान को आश्वस्त करते हुए कहा था कि -- "हमारे पाकिस्तानी मित्र इसके लिये आश्वस्त रहे कि यदि पाकिस्तान पर बाहरी आक्रमण होता है तो चीनी सरकार व जनता एक स्वर से पाकिस्तान का समर्थन करेगी व उनके राज्य की सम्प्रभुता व राष्ट्रीय स्वतंत्रता की रक्षा करेगी।"[35]

चीन, भारत-पाक युद्ध के समय संयुक्त राष्ट्र के मंच पर पाकिस्तान का समर्थन करता रहा, अन्यत्र भी वक्तव्य देता रहा लेकिन इस युद्ध में 1965 की तरह कोई धमकी या चेतावनी तक भारत को नहीं दे सका। जबकि पाकिस्तान आश्वस्त था कि चीन-अमेरिका के रहते उसे कोई चिन्ता नही थी।

इस तरह बगलादेश की स्वतंत्रता ने चीन-अमेरिका-पाक धुरी को भारत सोवियत मैत्री की सशक्त धुरी ने धराशयी कर दिया।

भारत सोवियत मैत्री पर इसके आलोचकों की प्रतिक्रिया थी कि भारत-सोवियत संधि ने भारत को असंलग्नता से दूर कर दिया है। यह आरोप मुख्यतः पश्चिमी देशों तथा भारत के पूँजीवादी दलों ने लगाया लेकिन जिस तरह प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नही होती उसी तरह इस आरोप को गलत सिद्ध करने की भी आवश्यकता तक नहीं थी। भारत को असंलग्न राष्ट्रों में यदि स्थान नहीं रह जाता तो यह आरोप गम्भीर हो सकता था। संधि के बाद के तीन सम्मेलनों में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों में भारत के प्रभाव की निरन्तर वृद्धि हुई है तथा 1983 के नई दिल्ली सम्मेलन में तो भारत गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के नेता पद पर पहुँच गया है।

वैसे भी गुट-निरपेक्षता साधन है। भारतीय विदेशनीति का साध्य उसके राष्ट्रीय हितों की रक्षा ही है। यदि भारत ने राष्ट्रीय हितों की खातिर परिस्थितियों के प्रभाव-स्वरूप इसकी नई व्याख्या की है तो यह कहना तर्क सम्मत नहीं है कि भारत ने इस सिद्धान्त को ही तिलाजलि दे दी है। संधि के अनुच्छेद चार में सोवियत संघ द्वारा भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति के सम्मान की घोषणा स्वयं इस बात का प्रमाण है। श्रीमती गाँधी ने संधि के समय ही सोवियत संघ को स्पष्ट रूप से बतला दिया था कि भारत स्वयं को गुटों की राजनीति से पृथक् रखेगा और इसीलिये अनुच्छेद चार में यह व्यवस्था कर दी गई।[36]

सोवियत पत्र प्रावदा ने लिखा था कि सोवियत संघ में भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को जो शांति और सुरक्षा को शक्ति प्रदान करती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करती है, बहुत सम्मान दिया जाता है।[37]

इस तरह भारत ने अपनी असंलग्नता को सुरक्षित रखते हुए सोवियत संघ से यह विशिष्ट प्रकार की राजनयिक संधि सम्पन्न की।[38]

इस संधि ने असंदिग्ध रूप से अमेरिका-चीन-पाकिस्तान धुरी के विरुद्ध संतुलन निर्मित कर दिया।

(4) भारत-पाक युद्ध और बंगलादेश की स्वतंत्रता

मार्च, 1971 की वार्ता भंग हो जाने के बाद याह्या खान की सरकार ने पूर्वी पाकिस्तान की बंगलादेश की स्वतंत्रता के आन्दोलनों को कुचलने के लिये जो दमन चक्र प्रारम्भ हुआ था उसकी तीव्रता निरन्तर बढती चली गई। कत्लेआम के इस अमानवीय कृत्य से अपनी जान बचाने के उद्देश्य से 25 मार्च, 71 से लेकर 24 नवम्बर 71 के बीच की अवधि में 97-99 लाख शरणार्थी भारतीय सीमा पार कर चुके थे।[39] संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी उच्चायोग, जिनेवा के डायरेक्टर थामस जैनीसन के अनुसार यह इतिहास की सबसे बड़ी शरणार्थी समस्या थी।[40] इन शरणार्थियों की संख्या से कम जनसंख्या वाले लगभग 80 राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र के सदस्य हैं।[41]

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि इस समस्या के ही कारण यह समस्या पाकिस्तान को ही आन्तरिक मामला नही रह गई थी। दूसरी ओर पाक सैनिकों द्वारा इस अवधि में लाखों नर-नारियों को मार डाला गया।

यह समस्या मुख्यत पाकिस्तान के सैन्य शासन द्वारा निर्मित की गई थी। भारत ने मार्च '71 से नवम्बर 71 तक विश्व समुदाय से निरन्तर अपील की कि समस्या को राजनीतिक समाधान हेतु पाक शासन पर दबाव डाला जाए। अन्त तक भारत पूरी ईमानदारी से प्रयत्न करता रहा कि समस्या का समाधान शान्तिपूर्ण तरीके से कर लिया जाय। विश्व जनमत का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से लगभग 70 देशों की यात्रा पर 13 मंत्रिमंडलीय स्तर के प्रतिनिधि मंडल इस उद्देश्य से भेजे गए कि इन देशों का बंगाल में पाक सैन्य शासन द्वारा किये जा रहे नरसंहार तथा उससे उत्पन्न शरणार्थियों की भयावह समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करवाया जाय।[42]

विदेशमंत्री सरदार स्वर्णसिंह 5 जून से 22 जून 1971 तक मास्को, बॉन पेरिस, ओटावा, वाशिंगटन तथा लन्दन गए। प्रत्येक राजधानी में राष्ट्रो प्रमुखों तथा विदेशमंत्रियों से इस समस्या के हल हेतु चर्चाएं की। अन्त में वे संयुक्त राष्ट्र के महासचिव उथांट से भी मिले।[43]

सेवा संघ व गाँधी शांति प्रतिष्ठान की ओर से जयप्रकाश नारायण, बंगलादेश त्रासदी के बारे में विभिन्न राष्ट्रीय नेताओं से चर्चा करने के लिये कैरा, रोम बेलग्रेड, मास्को, हेलिस्की, स्टाकहोम जकार्ता, सिंगापुर, बॉन पेरिस, लन्दन वाशिंगटन न्यूयार्क, ओटावा, टोक्यो व क्वालालुम्पुर आदि की यात्राओ पर गए। लौटने पर उन्होंने अपने प्रेस वक्तव्य में कहा कि वे शरणार्थियों के लिये भीख मांगने या नैतिक जागरण के लिये नहीं गए

थे वरन् समस्या के राजनीतिक पहलू व उसके समाधान के तुरन्त प्रयासों के लिये इन देशों के सार्वजनिक नेताओ से चर्चा की।[44]

इस तरह भारतीय प्रतिनिधि मंडल बंगलादेश की समस्या के राजनीतिक हल खोजने हेतु विश्व जनमत जगाने की भारतीय नीति के अन्तर्गत इन देशों में गए। जो यह स्पष्ट करता है कि श्रीमती गाँधी की सरकार, पाकिस्तान की समस्या को पाकिस्तान के अन्दर ही शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाने के लिये निरन्तर प्रयत्नरत थी।

स्वयं प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी, 24 अक्टूबर, 71 को तीन सप्ताह की एक यात्रा पर बेल्जियम, आस्ट्रिया, ब्रिटेन अमेरिका तथा फ्रान्स गईं। प्रधानमंत्री ने इन देशों का चयन सावधानीपूर्वक किया था, क्योंकि ये देश या पाकिस्तान को सहायता देने वाले मुख्य देश थे या वे अन्यथा पाकिस्तान पर अपने प्रभाव का प्रयोग कर सकते थे। श्रीमती गाँधी का विचार था कि यदि वे स्वयं इन राष्ट्रों के अध्यक्षों से मिलकर उनको समस्त याहया खान के सैनिक शासन द्वारा बंगलादेश में किये जा रहे नरसंहार एवम् कत्लेआम की जानकारी देंगी। तो वे याहया खान पर मर्जीव से चर्चा करने तथा समस्या का हल खोजने हेतु दबाव डाल सकेगा। श्रीमती गाँधी ने स्वयं इस यात्रा के उद्देश्यों के बारे में कहा था कि,

> "श्रीमती गाँधी विश्व के अन्य देशों को भारत उप महाद्वीप में घटित घटनाओं की सच्चाई बताने गईं थीं। वे अपने जवां देशों से इस दशा में कोई सहायता माँगने नहीं गयीं थीं। अपने जवां देशों के सामने भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट किया था और उसके प्रति राय जानना चाही थी कि बंगलादेश समस्या के प्रति उनके क्या विचार हैं ? श्रीमती गाँधी पश्चिमी देशों को अंतिम चेतावनी देना चाहती थीं कि वे ऐसा कुछ न करें कि युद्ध की विस्फोटक स्थिति भारतीय उप महाद्वीप में उत्पन्न हो, यदि युद्ध छिड़ा तो उन लोगों की छवि बिगड़ेगी जो इसे प्रोत्साहित करेंगे और साथ ही उनके हितों को भी नुकसान पहुँचेगा।[45]"

श्रीमती गाँधी के यूरोपीय यात्रा की इस घोषणा के ठीक पूर्व पाकिस्तान ने सीमा पर अपनी सेनाओं का जमाव प्रारम्भ करते हुए यह प्रचार प्रारम्भ कर दिया कि भारत, पाकिस्तान पर आक्रमण कर रहा है, जिससे विश्व के नेताओं का ध्यान इस समस्या के मूल प्रश्न से हटाये जा सकें। भारत ने इसके उत्तर में अपनी सेनाओं को भी सीमा पर तैनात कर दिया।

यात्रा पर जाने से पूर्व श्रीमती गाँधी ने स्पष्ट किया कि यह बचकाना आरोप है कि, भारत पाकिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर रहा है तथा भारत में शरणार्थियों की बाढ़ ने भारत पर आर्थिक बोझ तथा राजनीतिक व सामाजिक दबाव डाल दिया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि भारत इस समस्या को संयुक्त राष्ट्र में नहीं ले जायगा।[46]

श्रीमती गाँधी की 6 देशों की यात्रा भी बगलादेश की समस्या का समाधान करने मे सहायक नही हुई। सहानुभूति प्रकट करने वाली इन सरकारो ने समस्या के हल के लिये कोई उत्साह नही दिखाया। श्रीमती गाँधी ने उपमहाद्वीप मे तनाव की स्थितियो मे भी इस यात्रा मे जिस धैर्य एव निर्भीक शैली मे इन राष्ट्रो की यात्रा मे समस्या को प्रस्तुत किया उससे विश्व जनमत पर अनुकूल प्रभाव पडा। सरकारो ने भले ही अपनी नीति नही बदली किन्तु लोगो पर निश्चित रूप से उनके तर्को का व्यापक प्रभाव हुआ।[47]

इस यात्रा से लौटने के बाद श्रीमती गाँधी ने ससद को सम्बोधित करते हुए कहा था "हम अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय पर भरोसा नही करते और उन देशो से मुझे कोई आशा है जिनकी यात्रा मैने की है। हमे अपनी समस्या का हल स्वय निकालना है। हम इन देशों के नैतिक और राजनीतिक समर्थन की प्रशसा करती हूँ। हम ही इस सकट का सामना बगलादेश के साथ ही स्वय ही करना है। हमे बगला देश के साथ पूरी सहानुभूति है और इस मौके पर हम उसे पूर्ण समर्थन देगे।"[48]

इस तरह श्रीमती गाँधी इस यात्रा के बाद भी इस तथ्य से परिचित थी कि इन राष्ट्रो की सरकारे समस्या के हल के प्रति गम्भीर नही है।

श्रीमती गाँधी के यूरोपीय देशो व अमेरिका की यात्रा से लौटने के एक सप्ताह बाद 23 नवम्बर, 1971 को पाकिस्तान के राष्ट्रपति याहया खान ने अपने देश मे आपातकाल की घोषणा कर दी।[49]

यह घोषणा याहया खान के उन प्रयासो की ही एक और कड़ी थी जिनके द्वारा वे बगलादेश की समस्या को भारत-पाक समस्या मे बदलना चाहते थे।

आपातकालीन घोषणा के बाद ही याहया खान युद्ध उन्माद मे अपने देश को धकेलते चले गये। अपने वक्तव्यो मे वे शीघ्र ही भारत के साथ युद्ध-लडने की बात करने लगे। 22 नवम्बर को रेडियो पाकिस्तान ने आरोप लगाया कि भारत आक्रमण घोषित किये बिना पूर्वी *बगाल मे युद्ध प्रारम्भ कर चुका है।*[50]

25 नवम्बर 71 को याहया खान ने चीनी प्रतिनिधि मडल के सामने अपमानजनक भाषा का प्रयोग किया।[51] तथा बाद मे पत्रकारो को कहा कि दस दिनो के भीतर मै रावलपिंडी मे नही रहूँगा वरन मै युद्ध लड रहा होऊगा।[52] इसी बीच उन्होने आपातकाल की घोषणा के तत्काल बाद अपनी सेनाओ को युद्ध के मोर्चो पर तैनात रहने के आदेश दे दिये।[53]

भारत ने याहया खान के वक्तव्यो की प्रतिक्रिया के रूप मे अपनी सेनाओ को सम्भावित आक्रमण के लिये सतर्क कर दिया। उधर चूँकि मुक्तिवाहिनी पूर्वी पाकिस्तान के अधिकाश भाग पर नियत्रण स्थापित करती जा रही थी इसलिये भारत पर आक्रमण थोपने के आरोप लगाकर पाक राष्ट्रपति ने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का ध्यान मूल समस्या से

हटाकर भारत की छवि खराब करने का अभियान तेज कर दिया।

उधर जनवरी में भारत के विमान अपहरण की घटना के बाद चूँकि भारत ने अपनी धरती से पाकिस्तान की उड़ान बन्द कर दी थी, इसलिये पाकिस्तान अपने पूर्वी कमान के अधिकारियों से सम्पर्क में निरन्तर विघ्न तथा विलम्ब अनुभव कर रहा था और मुक्तिवाहिनी निरन्तर सफलताएं प्राप्त कर रही थीं। इस बीच पाकिस्तान द्वारा छुटपुट सैनिक झड़पों का क्रम चलाया ही जा रहा था। इस विषय की जानकारी देते हुए रक्षामंत्री जगजीवन राम ने संसद को बताया था कि

> "पाकिस्तान ने एक अक्टूबर के बाद से जम्मू और कश्मीर क्षेत्र में लगभग 220 बार हमले किये थे। पाकिस्तान फौजों ने भारतीय सीमा पर जुलाई 1971 में 1392 बार अतिक्रमण किया था और जिसमें 184 भारतीय सैनिक तथा 111 नागरिक मारे गये थे।"[54]

भारत की पूर्वी सीमा पर जब पाक-गुरिल्लाओं ने असम के कई पुलों को उड़ा दिया, रेलों को पटरियों पर से उतारने के षड्यंत्र किये तथा जब तीन पाकिस्तानी विमानों ने सुनियोजित ढंग से बोयरा, कमालपुर तथा बालिगहर (तीनों भारतीय नगरों) पर आक्रमण किये तब भारत सरकार ने अपनी टुकड़ियों को पाकिस्तान के पूर्वी भाग के अन्दर तक जाकर पाकिस्तानी अड्डों को नष्ट करने के लिये अधिकृत किया था।[55]

इसके बाद जब मुक्तिवाहिनी का दबाव पूर्वी पाकिस्तान की सैनिक कमान पर निरन्तर बढ़ता गया तथा भारत ने पूर्वी सीमा पर पाकिस्तान द्वारा किये गए छुटपुट *आक्रमणों का सशक्त उत्तर देते हुए पाकिस्तानी सैनिक अड्डों को तहस-नहस करना* प्रारम्भ किया तो पाकिस्तान ने भारत पर अन्तत पूर्ण आक्रमण करने का निर्णय ले लिया। यह पुन उल्लेखनीय है कि वैसे भी याहया खान ने 25 नवम्बर से ही भारत पर आक्रमण की मानसिकता बना ली थी और दस दिनों में युद्ध प्रारम्भ होने की घोषणा को सही रूप देने के लिये दस दिन पूर्व से पूर्व ही 3 दिसम्बर, 1971 को भारत पर स्वतंत्रता के बाद का चौथा आक्रमण कर दिया। यह पाक-आक्रमण बहुत सुनियोजित था, क्योंकि 3 दिसम्बर, 71 को पाकिस्तान ने शाम 5-45 पर भारत की वायुसेना को एकदम क्षीण करने के उद्देश्य से, एक साथ आठ हवाई अड्डों पर बमबारी की, साथ ही पश्चिमी एवं पूर्वी सीमा पर पूर्ण आक्रमण भी इसी के साथ कर डाला।[56]

इस पहले ही आक्रमण में उत्तर भारत की वायुसेना की रणनीति ने इस आक्रमण को बुरी तरह विफल कर, पाकिस्तान के इरादों को पहला धक्का पहुँचाया।

पाकिस्तान ने यह आक्रमण ऐसे समय किया जब, यद्यपि भारतीय सेना तो पाकिस्तान के किसी भी ऐसे आक्रमण के लिये पूरी तरह सतर्क एवं तैयार थी किन्तु भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी कलकत्ता की एक जनसभा को सम्बोधित कर रही थीं।

रक्षामंत्री उस समय पटना में थे तथा वित्तमंत्री बम्बई थे।[57] स्वयं रक्षा सचिव भी 3 दिसम्बर 71 की शाम को एक सामाजिक कार्य में व्यस्त थे किन्तु आक्रमण की सूचना मिलते ही कार्यक्रम रद्द करके तुरन्त कर्तव्यस्थ हो गये।[58]

आक्रमण की सूचना मिलते ही सभी नेता तत्काल राजधानी पहुँचे। मंत्रिमंडल की आपात बैठक हुई तथा भारतीय राष्ट्रपति ने संकटकाल की घोषणा कर दी।[59]

प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने आक्रमण की सूचना मिलने के 6 घण्टे बाद[60] देश की जनता के नाम अपने प्रभावशाली प्रसारण में कहा कि

> "मार्च 71 के बाद से हमने विश्व के राष्ट्रों से परामर्श की थी कि बंगलादेश की विनाशलीला को रोकने के लिए कोई शान्ति पूर्ण तरीका सुझाये। अपराध केवल इतना ही है कि वहाँ की जनता लोकतान्त्रिक ढंग से अपना मत प्रकट करना चाहती है। विश्व ने इस गम्भीर समस्या की ओर ध्यान न देकर नजरन्दाज किया है। आज की स्थिति में यह युद्ध केवल बंगलादेश की समस्या नहीं रह गया है। यह युद्ध भारत का दायित्व बन गया है। यह हम पर थोपा गया है। भारत की सरकार और जनता के सामने अब इसके सिवाय अन्य कोई विकल्प नहीं रह गया है कि हम इससे डट कर सामना करें।"[61]

इस तरह एक ऐसे युद्ध की शुरुआत हुई जो पाकिस्तान द्वारा बंगलादेश के जन-आन्दोलन को विश्व जनमत का ध्यान हटाकर उसे भारत-पाकिस्तान संघर्ष का रूप देने के उद्देश्य से थोपित किया। स्वतंत्रता के बाद भारत का यह पाँचवाँ युद्ध था। 1962 के भारत-चीन युद्ध की अपमानजनक पराजय की घटना भी सम्मिलित थी लेकिन इस युद्ध में भारत के सामने एक नैतिक और मानवीय लक्ष्य था। भारत असाधारण आत्म-विश्वास से युक्त था। विश्व-भर की जनता ने किसी न किसी तरह से बंगलादेश की स्वतंत्रता के आन्दोलन में स्वयं कष्ट उठाकर निभाई गई भूमिका के लिए अपना समर्थन व्यक्त किया था। इस नैतिक उद्देश्य के लिए भारत के साथ सोवियत संघ के रूप में एक महाशक्ति की उपलब्धि थी। पाकिस्तान के साथ चीन और अमेरिका अवश्य थे किन्तु वे इस तथ्य से परिचित थे कि उनकी नीतियाँ भले ही कुछ भी हों इस समस्या के सन्दर्भ में भारत का नैतिक मनोबल बहुत ऊँचा है। ब्रिटेन और फ्रान्स इस युद्ध के प्रति तटस्थ रहे। इन शक्तियों की इस युद्ध के प्रति निभाई गई भूमिका का विश्लेषण हम अगले पृष्ठों पर करेंगे, जब संयुक्त राष्ट्र ने इस समस्या पर विचार किया था।

भारत की रक्षानीति ने 1962 के बाद हुए निरन्तर तीव्र परिवर्तन करते हुए भारत की सैन्य दृष्टि से आत्म-निर्भरता के लक्ष्य की ओर ले जाना प्रारम्भ कर दिया था। परिणाम स्वरूप भारत सैन्य दृष्टि से 1971 तक आते-आते बहुत शक्तिशाली हो गया था। भारत की रक्षा नीति ने 1971 में भारत की विदेशनीति को सफलताओं की ऊँचाइयों तक

पहुँचाया। भारत की तीनों सेनाओं के बीच अद्भुत समन्वय के साथ युद्ध का प्रतिकार प्रारम्भ किया। भारत का लक्ष्य बंगलादेश की स्वतंत्रता था।

भारतीय सेना के मुख्य अधिकारियों के समक्ष बंगलादेश का यथाशीघ्र स्वतंत्र करवाना तथा पश्चिम में रक्षात्मक युद्ध करें एवं पाकिस्तान द्वारा भारतीय भूभाग के किसी क्षेत्र पर भयानक आक्रमण करने पर उक्त खदेड़ देने के स्पष्ट राजनीतिक लक्ष्य दिये गए थे।[62]

बंगलादेश की स्वतंत्रता तो भारत का घोषित लक्ष्य था। 17 अप्रैल, 1971 को बंगलादेश में शेख मुजीब के नेतृत्व में स्वाधीन बंगलादेश गणराज्य की घोषणा कर दी गई थी, तभी से भारत में बंगलादेश को मान्यता प्रदान करने की माग की जा रही थी। यहा तक कि देश की राजधानी में इस माग को लेकर प्रदर्शन भी हुए थे। इस माग के सन्दर्भ में श्रीमती गाँधी लगातार यह कहती रही थी कि बंगलादेश को उचित समय पर ही मान्यता दी जायगी। उचित समय से पूर्व मान्यता देकर भारत अन्तर्राष्ट्रीय जगत में पाकिस्तान को भारत के विरुद्ध प्रचार के लिये अवसर नहीं देना चाहता था। अन्ततः वह उचित समय आया। भारत पर पाकिस्तान के आक्रमण के बाद पूर्वी सीमा पर भारतीय सेनाएं मुक्तिवाहिनी को सहयोग करती हुई निरन्तर बंगलादेश के एक बड़े भाग पर नियंत्रण कर चुकी थीं और पश्चिम में भी भारतीय सेनाएं अपना रक्षात्मक युद्ध लड़ते हुए पाक सेनाओं को तहस-नहस कर रही थीं। 6 दिसम्बर, 1971 को संसद के संयुक्त अधिवेशन एतिहासिक क्षण देखे।

6 दिसम्बर, 1971 को श्रीमती गाँधी ने बंगलादेश को मान्यता प्रदान करने के सरकार के निर्णय की घोषणा करते हुए कहा कि

> मैं सदन को सूचित करते हुए हर्ष अनुभव कर रही हूँ कि विद्यमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य तथा बंगलादेश सरकार के निरन्तर आग्रहों के फलस्वरूप भारत सरकार ने बहुत सोच समझ कर बंगलादेश के जनवादी गणतंत्र को मान्यता प्रदान करने का निर्णय लिया है।[63]

श्रीमती गाँधी द्वारा मान्यता की घोषणा भारतीय संसद के इतिहास का सर्वाधिक स्वर्णिम थी। घोषणा के साथ ही श्रीमती गाँधी ने यह भी कहा था कि मुझे आशा है कि और भी राष्ट्र यथाशीघ्र बंगलादेश को मान्यता प्रदान करेंगे और शीघ्र ही वह राष्ट्रों के समुदाय का सदस्य बन जायेगा।[64]

बंगलादेश की मान्यता के बाद शेष काम भारत की रण-कूटनीति ने किया। युद्ध में सभी मोर्चों पर भारत निरन्तर सफल होता गया और चौदह दिन के अत्यन्त सीमित समय में भारत ने यह निर्णायक युद्ध जीत लिया। भारत का सीमित उद्देश्य बंगलादेश की स्वतंत्रता ही था। 16 दिसम्बर को बंगलादेश में 93 हजार सैनिकों द्वारा लैफ्टिनेन्ट जनरल ए०ए०के० नियाजी के नेतृत्व में लैफ्टिनेन्ट जनरल जगजीतसिंह अरोरा के समक्ष

आत्म-समर्पण किया। यह युद्ध ऐतिहासिक था। कम समय में कम से कम बलिदान के बाद एक निर्णायक युद्ध, जिससे विश्व मानचित्र पर एक नये सम्प्रभुता सम्पन्न स्वाधीन गणराज्य के रूप में बंगलादेश अस्तित्व में आया।

युद्ध की समाप्ति पर श्रीमती गाँधी ने कहा था

> भारत की विजय केवल शास्त्रों की नहीं वरन् आदर्शों की विजय है क्योंकि यह युद्ध मानवीय कारणों के लिये लड़ा गया था। कुछ हासिल करने के इरादे से नहीं वरन् पूर्व बंगाल के साढ़े सात करोड़ लोगों की स्वतन्त्रता के लिये तथा पाकिस्तानी सैन्य शासकों के अत्याचार और दमन से मुक्ति दिलाकर उनमें आत्मसम्मान तथा खोई हुई प्रतिष्ठा वापस दिलाने के लिये लड़ा गया था।[65]

इस तरह भारत का उद्देश्य पूरा हुआ। 17 दिसम्बर 1971 को भारत की प्रधानमंत्री ने पश्चिमी मोर्चे पर भी एक-पक्षीय युद्ध विराम की घोषणा कर दी।[66]

भारत की यह विजय ऐतिहासिक थी। यह युद्ध मानवीय और नैतिक उद्देश्यों के *लिये लड़ा गया युद्ध था। यह विजय पाकिस्तान के विरुद्ध तो थी ही अप्रत्यक्ष रूप से* अमेरिका एवं चीन की भी इस युद्ध में कूटनीतिक पराजय हुई थी।

अमेरिका भारतीय उपमहाद्वीप के सन्दर्भ में पाकिस्तान का स्थायी साथी रहा है। 1971 के इस संकट में भी पहले वह बंगलादेश का स्वतन्त्रता आन्दोलन को कुचलने वाली याहया सरकार का समर्थन करता रहा और पाकिस्तान का शस्त्रीकरण करता रहा तथा जब युद्ध प्रारम्भ हुआ तो उसने भारत को आक्रामक घोषित किया। संयुक्त राष्ट्र में भी पाकिस्तान का पक्ष लेता रहा और यहां तक कि 12 दिसम्बर 71 को पाकिस्तान की नैतिक सहायता के उद्देश्य से (जो सैनिक सहायता भी हो सकती थी किन्तु नहीं हो सकी) अपना सातवां जहाजी बेड़ा[67] (एन्टर-प्राइज) बंगाल की खाड़ी की ओर भेजा था। उल्लेखनीय है कि जहाजी बेड़े को भेजने का निर्णय अमेरिकी राष्ट्रपति ने स्वयं इस उद्देश्य से ही लिया था कि वह भारत को सबक सिखाना चाहता था।[68] साथ ही अमेरिका के राष्ट्रपति सोवियत संघ को भी यह बताना चाहते थे कि अमेरिका पाकिस्तान का विभाजन नहीं होने देगा।[69]

निक्सन का यह निर्णय कितना खतरनाक हो सकता था यह जैक एण्डरसन ने अपने रहस्योद्घाटन में स्पष्ट किया था--

> "यदि जनरल नियाजी की सैन्य टुकड़ियों ने बंगलादेश में आत्मसमर्पण न किया होता तो भारत और अमेरिका के सातवें जहाजी बेड़े के मध्य युद्ध होने का खतरा उत्पन्न हो गया था जिसमें चीन भी पाकिस्तान की ओर से सम्मिलित हो जाता व सोवियत संघ भारत का समर्थन करता जिससे विश्वयुद्ध की स्थिति निर्मित हो जाती।"[70]

वास्तव में निक्सन ने यह बेड़ा हस्तक्षेप उद्देश्य से ही भेजा था किन्तु एक तो बेड़े के पहुँचने में विलम्ब हो गया था दूसरा सोवियत संघ के जहाजी बेड़ों के तुरन्त हिन्द महासागर में पहुँच जाने से निक्सन अपने बेड़े को सक्रिय नहीं कर सके।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम सक्रिय रहने के बाद भी अमेरिका निरन्तर असफल होता रहा। उसके सक्रिय समर्थन के बाद भी भारत को बंगलादेश की स्वाधीनता के अपने लक्ष्य में विजय मिली -- यही अमेरिका की महान पराजय थी।

अमेरिका की तरह यह चीन की भी कूटनीतिक पराजय थी। मुक्ति-आन्दोलन के हामी चीन ने पूर्वी पाकिस्तान में हो रहे बंगलादेश स्वतन्त्रता संग्राम को असफल करने के लिये पाकिस्तान के सैनिक शासकों को हर सम्भव नैतिक, राजनैतिक व सैनिक सहायता दी। चीन जिसे सामान्यतः किसी अन्तर्राष्ट्रीय घटना पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने में समय लगता है, लेकिन 3 दिसम्बर, 71 को पाकिस्तान के विमानों द्वारा भारत पर की गई बमबारी के आधे घण्टे बाद चीन की न्यू चायना न्यूज एजन्सी ने अपने प्रसारण में घोषित कर दिया था कि, भारत ने पाकिस्तान पर आक्रमण कर दिया है। इस तरह यह स्पष्ट था कि पाकिस्तान की आक्रमण की योजना की चीन को जानकारी थी।[71] भारत द्वारा बंगलादेश की मान्यता के निर्णय को चीन विस्तारवादी कार्य की संज्ञा दे डाली थी।[72] इस युद्ध में चीन ने भारत और सोवियत संघ दोनों के विरुद्ध प्रचार किया।

चीन ने युद्ध के समय संयुक्त राष्ट्र में तो पाकिस्तान का समर्थन किया ही, इसके अतिरिक्त भी अपने तरीके से वह पाकिस्तान की सहायता करने के प्रयास करता रहा लेकिन उसे सफलता नहीं मिली।[73] जब युद्ध का पहला सप्ताह बीत गया था चीन ने भारत को आतंकित करने के प्रयत्न किये। 10 दिसम्बर 71 को भारत के प्रधानमंत्री को सूचना मिली की चीनी सेनाएं भारत तिब्बत सीमा पर जमा हो रही है। श्रीमती गाँधी ने 11 दिसम्बर को मास्को सम्पर्क किया। उसी दिन श्रीमती गाँधी ने विद्यार्थियों की एक सभा में भारत की सुरक्षा को गम्भीर खतरे की बात भी कही थी।[74] 12 दिसम्बर को ही सोवियत सेनाएं चीन-सोवियत सीमा पर सक्रिय हो गई तत्काल चीन ने भारत तिब्बत सीमा पर अपनी सेनाओं को अपने निर्धारित स्थानों पर लौटा लिया।[75] यद्यपि चीन की ओर से इस तरह की आशंकाएं भारत को बहुत पहले से ही थी, इसीलिये मानसून के बाद भारत ने अपनी सेनाएं दक्षिण सिक्किम की ओर चीन के सम्भावित खतरे का सामना करने के लिये भेज दी थी, जिससे पूर्वी बंगाल में चीन पाकिस्तान की सेनाओं की किसी तरह सहायता न कर सके।[76] भारत की रण-कूटनीति प्रारम्भ से ही सक्रिय थी।

इसी तरह युद्ध के समय का एक और तथ्य लन्दन के डेली टेलिग्राफ के संवाददाता ने उद्घाटित किया था।[77] कि चीन और पाकिस्तान के बीच यह मंत्रणा भी हो चुकी थी कि पूर्वी बंगाल से पाकिस्तान के सैनिकों को निकालने के लिये चीनी ध्वज के जहाजों का प्रयोग करेगा। लेकिन समस्या यही बनी रही कि भारत की रण-कूटनीति ने इसका अवसर

नहीं दिया क्योंकि भारत ने चाना बंदरगाह पर अपना प्रभुत्व कर रखा था यदि जहाज जाते तो भारत उन पर आक्रमण कर देता, ऐसी स्थिति में चीन क्या करता ? चीन को सोवियत प्रतिक्रिया का भय था। संक्षिप्त में चीन को पहले भारत के कारण और फिर सोवियत संघ के कारण यह समझ में आ चुका था कि इस तरह के किसी कदम पर उसका भारत और सोवियत संघ से सीधा संघर्ष हो जाएगा। इसी आशंका में वह पाकिस्तान की सहायता नहीं कर सका और एक वरिष्ठ मित्र होने के बाद भी अपने घनिष्ठ साथी के विभाजन को देखता रहा।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि 1971 के इस युद्ध में चीन और अमेरिका की चाहत के विरुद्ध तथा उनके सक्रिय प्रयासों के बावजूद (जिन्हें ईमानदार प्रयास कभी नहीं कहा जाएगा।) युद्ध में भारत की सफलता को तथा बंगलादेश के अभ्युदय को नहीं रोका जा सका। इसीलिये यह चीन व अमेरिका की अप्रत्यक्ष रूप से सैन्य पराजय थी व प्रत्यक्ष रूप से कूटनीतिक पराजय।

यहां यह असंदिग्ध रूप से सही है कि सोवियत संघ का इस पूरे युद्ध में निरन्तर सक्रिय रहना भारत की इस सफलता का प्रभावशाली कारण था। लेकिन अन्ततः यह भारत की ही कूटनीति एवं वैदेशिक नीति के सिद्धान्तों के प्रति नई अन्तर्दृष्टि विकसित करने के कारण ही सम्भव हो सका।

अब इस अध्याय के अन्त में हम यह देखेंगे कि इस युद्ध में संयुक्त राष्ट्र के मंच पर कौन से दृश्य उपस्थित हुए? भारत ने वहां किस तरह अपने पक्ष को रखा ? तथा संयुक्त राष्ट्र की क्या भूमिका रही ?

(5) भारत-पाक युद्ध और संयुक्त राष्ट्र

3 दिसम्बर, 71 को पाकिस्तान के आक्रमण के बाद भारत ने 4 दिसम्बर 71 को संयुक्त राष्ट्र के महासचिव उथां को एक औपचारिक शिकायत भेजी। अपने पूर्व अनुभवों के कारण भारत ने सुरक्षा परिषद में इसकी शिकायत नहीं की।

4 दिसम्बर, 71 को सुरक्षा परिषद की एक आपात बैठक नौ देशों के अनुरोध पर प्रारम्भ हुई।[78]

बैठक के प्रारम्भ में सोवियत संघ एवं पोलैण्ड के प्रतिनिधियों ने कहा कि बंगलादेश के प्रतिनिधि को भी इस बैठक में अपने देश का पक्ष रखने के लिये बुलाया जाना चाहिए।[79] चीन के प्रतिनिधि ने इस पर अपना विरोध प्रकट करते हुए कहा कि इस "विद्रोही संगठन" का बैठक में भाग लेना पाकिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप होगा।[80] पाकिस्तान के प्रतिनिधि ने धमकी दी कि यदि बंगलादेश के प्रतिनिधि को इस बैठक में बुलाया गया तो वह सुरक्षा परिषद से त्यागपत्र दे देगा।[81] बहस के दौरान

पाकिस्तान ने भारत पर उसे तोड़ने के लिये आक्रमण करने का आरोप लगाया। चीन के प्रतिनिधि ने भी समर्थन करते हुए कहा कि भारत ने पूर्वी पाकिस्तान पर खुला आक्रमण किया है। इसलिये सुरक्षा परिषद को भारत की इस आक्रामक कार्यवाही की कड़े शब्दों में निन्दा करनी चाहिए।[82]

भारत के स्थाई प्रतिनिधि समरसेन ने इन आरोपों का स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार किया तथा कहा कि पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया है। (संयुक्त राष्ट्र के महासचिव प्रतिवेदन जो विचारार्थ प्रस्तुत है।) उक्त तथ्य को प्रमाणित करता है।[83] श्री सेन ने उक्त प्रतिवेदन सुरक्षा परिषद में पढ़कर सुनाते हुए कहा कि उक्त विवाद भारत एवं पाकिस्तान के मध्य नहीं वरन् पाकिस्तानी सेनाओं तथा बंगलादेश की जनता के मध्य है।[84]

अमेरिकी प्रतिनिधि ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें तत्काल युद्ध विराम, दोनों पक्षों के द्वारा अपनी सीमाओं में सेनाओं की वापसी के क्रियान्वयन हेतु अधिकृत करने, पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों की स्वैच्छिक वापसी के लिये भारत एवं पाकिस्तान के बीच वार्ता तथा इन दोनों में महासचिव की सद्भावना का उपयोग करने की बात कही गई थी।[85]

सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव को एकपक्षीय कहते हुए वीटो का प्रयोग कर दिया। प्रस्ताव पक्ष में 11 मत मिले जिसमें अमेरिका के साथ चीन भी था। ब्रिटेन व फ्रान्स अनुपस्थित रहे। पोलैण्ड ने भी विपक्ष में मत दिया।[86]

5 दिसम्बर, 71 को सुरक्षा परिषद की पुनः बैठक प्रारम्भ हुई। इस बैठक में तीन प्रस्तावों के प्रारुप प्रस्तुत किये गए।[87]

1 सोवियत प्रस्ताव में कहा गया कि पूर्वी पाकिस्तान की समस्या का राजनीतिक हल खोजा जाए, जिसमें अवश्य ही शत्रुता का अन्त होगा तथा पाकिस्तान से कहा जाए कि वह पूर्वी पाकिस्तान में हिंसा की कार्यवाही समाप्त करे, जिससे स्थितियां बिगड़ी हैं।

2 चीन ने अपने प्रस्ताव में युद्ध विराम तथा सेनाओं की वापसी के साथ ही सभी देशों से पाकिस्तान की जनता को उनके न्यायपूर्ण संघर्ष में सहयोग करने तथा भारतीय आक्रमण का प्रतिरोध करने की अपील की।

3 आठ राष्ट्रों का एक प्रस्ताव (अर्जेन्टीना, बेल्जियम, बुरुंदी, इटली, जापान, निकारागुआ, सारालियान तथा सोमालिया) प्रस्तुत हुआ।

सोवियत प्रस्ताव पर मतदान में पोलैण्ड ने समर्थन किया, चीन ने विरोध किया तथा 12 सदस्य अनुपस्थित रहे।[88]

चीन के प्रस्ताव के समर्थन में कोई राष्ट्र नहीं था इसलिये उसने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया।[89]

आठ राष्ट्रों के प्रस्ताव के पक्ष मे 11 व विपक्ष में 2 मत मिले, दो सदस्य अनुपस्थित रहे। सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव को भी वीटो कर दिया।[90]

6 दिसम्बर, 71 को पुनः सुरक्षा परिषद की तीसरी बैठक प्रारम्भ हुई, जिसमे इस बात के प्रयास किये गए कि सर्वसम्मति से कोई प्रस्ताव पारित हो जाए, किन्तु सोवियत संघ ऐसे किसी प्रस्ताव के पक्ष मे नहीं था जिसमे पूर्वी पाकिस्तान के राजनीतिक हल की बात न हो। इसके विपरीत ऐसे किसी प्रस्ताव के पक्ष मे अमेरिका व चीन नहीं थे थे। फ्रान्स ने एक प्रस्ताव रखना चाहा था लेकिन सोवियत संघ, अमेरिका व चीन द्वारा की गई आपत्तियों के कारण वापस ले लिया। सोवियत संघ ने एक और प्रस्ताव रखा लेकिन मतदान नहीं कराया गया क्योकि उसका भी पारित होना सम्भव नहीं था।[91]

सोमालिया ने एक प्रस्ताव रखते हुए प्रकरण को साधारण सभा मे विचारार्थ ले जाने की मांग की। यह शांति के लिये एकता प्रस्ताव निषेधाधिकार मुक्त साधारण सभा मे प्रकरण को ले जाने के लिये रखा गया। यह प्रस्ताव पारित हो गया। ब्रिटेन, फ्रान्स, सोवियत संघ व पोलैण्ड अनुपस्थित रहे।

7 दिसम्बर, 1971 को महासभा की बैठक मे 34 राष्ट्रों द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया, जिसमे कहा गया कि भारत और पाकिस्तान तत्काल युद्ध विराम कर तथा सेनाए अपनी सीमा में लौटाए। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि ऐसी स्थितियाँ शीघ्र ही निर्मित की जाए जिससे शरणार्थी स्वेच्छा से अपने देश लौट सके। इस हेतु सभी सदस्य राष्ट्रों से महासचिव को सहयोग देने की अपील की गई।[92]

इस प्रस्ताव पर 12 घंटे बहस हुई जिसमे 56 देशो ने भाग लिया।[93]

इस प्रस्ताव पर बोलते हुए भारतीय प्रतिनिधि समरसेन ने कहा कि

"बांग्ला देश पर पाकिस्तान का सैनिक दबाव कारगर न हो सका तो उसने भारत समस्यायें खड़ी करना शुरू किया। जिनके फलस्वरूप लगभग एक करोड़ बांग्ला देशी जनता ने भारतीय सीमा के अन्दर घुसना शुरू किया। यदि समस्याओं का सही निदान समझा जाता तो तीन ही राजनीतिक समस्यायें सामने थी - (1) बांग्लादेश मे नरसंहार (2) बंगला देश मे अत्याचार के विरुद्ध जनता का संघर्ष (3) स्वतन्त्र इकाई के रूप में बांग्लादेश का अस्तित्व। जहाँ तक सेना की वापसी का प्रश्न है पाकिस्तान को बांग्ला देश के अधिकृत क्षेत्र को मुक्ति वाहिनी को प्रदान कर देना चाहिए था और शेख मुजीब को रिहा कर देना चाहिए था।"[94]

संयुक्त राष्ट्र महासभा के सदस्यों ने अन्ततः मतदान किया। प्रस्ताव के पक्ष में 104 तथा विपक्ष मे 11 मत आए तथा 10 सदस्य अनुपस्थित रहे।

इस प्रस्ताव का भारत पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। डा०के०पी० मिश्रा ने महासभा के इस मतदान पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि

"इडो-पाक सबधो की तात्कालिक समस्या पर सुरक्षा परिषद मे चर्चा हुई थी, इस चर्चा के बाद मत गणना के प्रति भ्रामक परिणाम घोषित हुआ था कि जिन देशों ने मत दान मे भाग लिया था उनका मत भारत के विरोध मे था जब कि परिषद् के लगभग एक तिहाई सदस्यो ने भारत की स्थिति का स्पष्ट करते हुए उसके समर्थन मे विचार व्यक्त किये थ। जिन प्रतिनिधियो ने मतदान मे हिस्सा लिया था उनके मन में यह विचार अवश्य आया होगा कि यदि सुरक्षा परिषद् इस मामले पर निर्णय लेने मे असमर्थ है तो सयुक्त राष्ट्र सघ जैसी उच्च विश्व सस्था की गरिमा को निश्चय ही आघात लगेगा। यद्यपि प्रतिनिधियों के बीच भारतीय उपमहाद्वीप की परिस्थितियों के आकलन के विषय मे मतभेद अवश्य था। किन्तु सिद्धान्तत यह बात सयुक्त राष्ट्र सघ के घोषणापत्र से सबध रखती थी, समस्या मे भारत का सदर्भ तो प्रासगिक ही था।

एक कारण यह भी था कि विभिन्न राष्ट्रो ने यह अनुभव करना शुरू कर दिया था कि विश्व सस्था के सदस्य अपनी परम्परागत मान्यताओ मे गिरावट ला रहे हैं, जिनके विविध कारण हो सकते है। इन्हे इस विश्व सगठन के सामान्य ढंग मे बाध रखना सभव नही है। अतत बडे पैमाने पर उभरने वाले अन्तर्विरोध की बाढ को रोकना सबसे अधिक आवश्यक था। इसलिये इस अन्तर्विरोध को रोकने की ओर अधिकाश प्रतिनिधियो का ध्यान गया था। ऐसी स्थिति के रोकथाम मे अन्य महत्वपूर्ण प्रसगो पर निर्णय न ले सकना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।"[95]

इस तरह यद्यपि महासभा मे प्रस्ताव भारी बहुमत से पारित कर दिया किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य युद्धविराम करना था। किन्तु यह प्रस्ताव स्वय में दोषपूर्ण था। इसमें बगलादेश की मुक्तिवाहिनी द्वारा वहा प्राप्त उपलब्धियो को नजरअदाज किया गया था। वास्तविक युद्ध तो पूर्वी बगाल में प्रारम्भ हुआ था, जिसका आरम्भ क्रान्ति के रुप मे हुआ था। वैसे भी महासभा के निर्णय प्रभावी शक्ति लिये हुए नही होते इसलिये इस प्रस्ताव का कोई महत्व नहीं था।

इस प्रस्ताव पर टिप्पणी करते हुए भारत सरकार के एक प्रवक्ता ने कहा था -- "भारत विनम्रता से किन्तु दृढता के साथ महासभा के इस प्रस्ताव को अस्वीकार करेगा क्योंकि यह भारतीय उपमहाद्वीप की स्थितियों का अव्यवहारिक व अवास्तविक हल है।[96]

12 दिसम्बर, 71 को एक औपचारिक पत्र में महासचिव को लिखा कि भारत महासभा के प्रस्ताव को अस्वीकार करता है।[97]

श्रीमती गाँधी ने इस प्रस्ताव के सन्दर्भ मे महासचिव को लिखा कि संयुक्त राष्ट्र का भारतीय उपमहाद्वीप की स्थितियों का फिर से अवलोकन करे जिससे इस संघर्ष के मूल कारणो को समाप्त किया जा सके तथा शांति स्थापित की जा सके।

इसके बाद प्रकरण पुन सुरक्षा परिषद पहुँचा। अमरिका ने 12 दिसम्बर, 71 को महासभा के इस प्रस्ताव का जोर-शोर से हवाला देते हुए सुरक्षा परिषद मे उसी प्रस्ताव को पुन रखा लेकिन 13 दिसम्बर, 71 को सोवियत वीटो के कारण प्रस्ताव पारित नही हो सका।

इसके बाद भी सुरक्षा परिषद की बैठके होती रही लेकिन 16 दिसम्बर 1971 को पूर्वी पाकिस्तान के लेफ्टिनेन्ट जनरल ए०ए०के० नियाजी द्वारा भारत की कमान के लेफ्टिनेन्ट जनरल जगजीतसिंह अरोरा के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया।

इस तरह हम देखते है कि सुरक्षा परिषद मे प्रत्येक बैठक मे सोवियत संघ ने अमेरिका तथा चीन के एक किसी प्रयास को सफल नही होने दिया जो पाकिस्तान के हितो की बंगलादेश के जन-आन्दोलन के विरुद्ध रक्षा करता हो। ब्रिटेन और फ्रान्स ने प्रारम्भ से अन्त तक तटस्थ भूमिका निभाई। चीन और अमरिका ने भारत को आक्रामक और अपराधी घोषित करने मे अपनी पूर्ण शक्ति लगाई। महासभा के प्रस्ताव का यथार्थवादी भारतीय प्रधानमंत्री पर कोई असर नहीं हुआ।

अन्तत यहा भी सोवियत मैत्री ने भारत के हितो की रक्षा की जिससे बंगलादेश की स्वतन्त्रता का मार्ग अन्तत प्रशस्त हुआ और वह एक स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्र के रूप मे विश्व मानचित्र पर प्रकट हुआ।

सन्दर्भ-सूची

1 "चोपड़ा, प्राण - इंडियाज सकण्ड लिबरेशन विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा०लि० 1973 अण्डर टाइटिल "दि आर्ग्यूमेंट"

2 कृपलानी, जे०बी० -- बंगलादेश, -- इंडियन एक्सप्रेस 17 मई, 1971।

3 कलाम आज़ाद, एम०ए० -- इंडिया विन्स फ्रीडम एन आटोबायोग्राफिकल नरेटिव बम्बई 1959 पृष्ठ 297।

4 डान (कराची), अक्टूबर 24 1971।

5 शर्मा, एस आर - बंगलादेश क्राइसिस एंड एशिया पब्लिकेशन न्यू देलही 1978 पृ० 35

6 तथैव पृ० 36
7 रहमान, शेख मुजीबुर -- बगलादेश माय बगलादेश, सम्पादित -- राजेन्द्र मजुमदार, दिल्ली, 1972, पृष्ठ 127-128।
8 सनगुप्ता, जे० -- हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेन्ट इन बगलादेश - कलकत्ता, 1974, पृष्ठ 225।
9 द पीपुल - ढाका, अक्टूबर 10, 1970।
10 वही- अक्टूबर 21 1970।
11 बगलादेश डाक्यूमेन्ट -- वाल्यूम - 1, पृष्ठ 130।
12 भुट्टो - स्टेटमेन्ट इन लाहार ऑन दिसम्बर 20, 1970, उद्धृत -- बगलादेश डाक्यूमेन्ट, वाल्यूम - 1 पृष्ठ 432 द पाकिस्तान टाइम्स लाहौर 21 दिसम्बर, 1970।
13 द पाकिस्तान टाइम्स लाहौर, 16 फरवरी 1971।
14 वही- 1 मार्च, 1971।
15 प्रेस रिपोर्ट, 27 मार्च 1971 -- उद्धृत -- बगलादेश डाक्यूमेन्ट्स - 1 पृष्ठ 280।
16 शर्मा श्रीराम -- पूर्वोक्त पृष्ठ 29।
17 उद्धृत -- वही, पृष्ठ 29।
18 शर्मा एस आर बगलादश क्राईसिस, पृष्ठ 45।
19 फॉरिन एफेयर्स रिकार्ड, एक्सटर्नल एफेयर्स मिनिस्ट्री गवर्नमेंट आफ इंडिया, दिसम्बर 1971 पृष्ठ 345।
20 तथैव
21 टाइम्स ऑफ इण्डिया, मई 27, 1971
22 बगलादेश डॉक्यूमेन्ट्स भाग - 2 पृष्ठ 292।
23 गुजराल, एम०एल० -- यू०एस० ग्लोबल इन्वाल्वमेन्ट, अरनाल्ड प्रेस नई दिल्ली, 1975, पृष्ठ 313।
24 उद्धृत -- टी०एन०,कौल -- द किसिन्जर इयर्स, ए०एच० पब्लिशर्स नई दिल्ली, 198 पृष्ठ 33।
25 वही- पृष्ठ 33।
26 कौल, टी०एन० -- पूर्वोक्त, पृष्ठ 35।
27 तथैव पृष्ठ 86।
28 कौल, टी०एन० पूर्वोक्त, पृष्ठ 86।
29 सधि का यह हिन्दी प्रारुप - जगदीश विभाकर, दो देशों की दोस्ती (भारत-सोवियत राजनयिक सम्बन्धों के 25 वर्ष) शब्दकार प्रकाशन, 1974,

(पृष्ठ 151-154) से लिया गया है।
30 टाइम्स आफ इंडिया (बम्बई), 10 अगस्त, 1971।
31 द हिन्दू (मद्रास) 10 अक्टूबर, 1971।
32 हिन्दू (मद्रास) 10 अक्टूबर 1971।
33 श्रीमती गाँधी का वक्तव्य, उद्धृत - शर्मा, एस०आर० - इंडियन फॉरिन पॉलिसी, 1971, पृष्ठ 138।
34 स्टेट्स टाइम्स, 10 अगस्त, 1971, उद्धृत - शर्मा एस आर इण्डियाज फॉरिन पॉलिसी, 1971 पृष्ठ 138-139।
35 कीसिंग्स कन्टेम्पोरेरी आर्काइव्स, दिसम्बर, 18-25, 1971 पृष्ठ 29 994।
36 शर्मा, एस०आर० -- इंडियन फॉरिन पॉलिसी 1971, पृष्ठ 132।
37 प्रावदा (मास्को), 11 अगस्त, 1971।
38 मदरलेण्ड -- 18 अगस्त 1971।
39 सेठी, एस०एस० -- द डिसीसिव वार नई दिल्ली, 1972, पृष्ठ 45।
40 वही- पृष्ठ 64।
41 शर्मा एस०आर० -- इंडियन फॉरिन पॉलिसी, 1971 पृष्ठ 254।
42 वही- पृष्ठ 257।
43 टाइम्स आफ इंडिया -- 23 जून 1971।
44 स्टेट्समैन -- 28 जून, 1971।
45 घोष शकर, हिन्दुस्तान स्टण्डर्ड 10 नवम्बर 1971। फ्रन्टियर, भाग 1, अक 31, 13 नवम्बर, 1971।
46 द हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, 25 अक्टूबर, 1971।
47 शर्मा, एस०आर० -- इंडियन फॉरिन पॉलिसी, 1971। पृष्ठ 260।
48 इंडिया स्पीक्स - कलेक्सन आफ स्पीचेज आफ श्रीमती गाँधी पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्नमेंट आफ इंडिया 1971 पृष्ठ 124।
49 बंगलादेश डॉक्यूमेन्ट्स भाग 2, पृष्ठ 141।
50 टाइम्स आफ इंडिया बम्बई, 23 नवम्बर, 71।
51 वही- 26 नवम्बर, 1971।
52 वही-
53 डेली टेलीग्राफ (लन्दन), 25 नवम्बर, 71।
54 बंगलादेश डॉक्यूमेंट्स - भाग 2 पृष्ठ 147।
55 हिन्दू (मद्रास) -- 6 फरवरी, 1971।
56 द इंडियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली -- 4 दिसम्बर, 1971।
57 गार्जियन के लिये जेक्मन की रिपोर्ट -- 4 दिसम्बर, 1971।

58 ट्रिब्यून (अम्बाला) -- 5 दिसम्बर, 1971।
59 द इडियन एक्सप्रेस -- 4 दिसम्बर, 1971।
60 हेराल्ड थामसन, गार्जियन (लन्दन), 4 दिसम्बर, 71।
61 दि इडियन एक्सप्रेस - 4 दिसम्बर 1971 एण्ड प्राइममिनिस्टर्स ब्राडकास्ट टु दि नेशन, सोशलिस्ट इडिया वाल० 4 नम्बर 2 दिसम्बर 4 पृष्ठ 1
62 पलित, डी के, द लाइटनिग कम्पेन, नई दिल्ली 1972 पृष्ठ 150।
63 स्टेटमेन्ट ऑफ रिकागनीशन टु बगलादेश, लोकसभा डिबेट्स, वाल्युम 9,6 दिसम्बर 1971 पृ 6 एवम् द इण्डियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली 7 दिसम्बर 1971।
64. द इडियन एक्सप्रेस -- 7 दिसम्बर, 1971।
65 द इडियन एक्सप्रेस -- 19 दिसम्बर, 1971।
66 द स्टेट्समन -- 18 दिसम्बर, 1971।
67 द टाइम्स आफ इडिया (बम्बई) -- 13 दिसम्बर, 1971।
68 सिंह, जे०डी० -- टाइम्स आफ इडिया (नई दिल्ली) - 16 दिसम्बर, 1971।
69 वही-
70 न्यूयार्क टाइम्स - 13 फरवरी, 1971।
71 न्यूज रिव्यू ऑन चायना (आइ०डी०एस०ए०), दिसम्बर, 1971 तथा टाइम्स आफ इडिया, 4 दिसम्बर, 1971।
72 द स्टेट्समेन -- 4 दिसम्बर, 1971।
73 तिवारी, वी०के० -- व्हाट प्रिवेन्टेड चायना फ्राम हेल्पिग पाकिस्तान, द इडियन एक्सप्रेस - 23 दिसम्बर, 1971।
74 द हिन्दुस्तान टाइम्स (नई दिल्ली), 12 दिसम्बर, 1971।
75 द स्टेट्समेन -- 13 दिसम्बर, 1971।
76 टाइम्स आफ इडिया -- 23 अक्टूबर, 1971।
77. डैली टेलिग्राफ - 13 दिसम्बर, 1971।
78 द इडियन एक्सप्रेस -- 5 दिसम्बर, 71।
79 द इडियन एक्सप्रेस -- 5 दिसम्बर, 71।
80 वही- तथा पाकिस्तान टाइम्स, 5 दिसम्बर, 71।
81 वही-
82 पाकिस्तान टाइम्स -- 5 दिसम्बर, 1971।
83 बगलादेश एण्ड इण्डो-पाक वार, इडिया स्पीक्स एट द यू०एन० पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्मेन्ट आर्फ इडिया, जनवरी, 72, पृष्ठ 71।
84 वही- पृष्ठ 74।
85 बगलादेश डॉक्यूमेन्ट्स, वाल्यूम - 2, नई दिल्ली, 1972, पृष्ठ 334।

86 टाइम्स आफ इंडिया -- 5 दिसम्बर, 71।
87 एम०सी०ओ०आर० डाक्यूमेन्ट - एम। पी वी। 1607। 5 दिसम्बर, 1971, एस। 10418, 4 दिसम्बर, 1971, तथा एस। 10422, 5 दिसम्बर, 1971, उद्धृत -- शर्मा, एस०आर० -- इंडियन फॉरिन पॉलिसी, 1971, पृष्ठ 220।
88 द इंडियन एक्सप्रेस -- 6 दिसम्बर, 1971।
89 वही-
90 वही-
91 टाइम्स आफ इंडिया -- 7 दिसम्बर, 1971।
92 शर्मा, एस०आर० -- इंडियन फॉरिन पॉलिसी, 1971, पृष्ठ 222।
93 मिश्रा, के०पी० -- द रोल आफ युनाइटेड नेशन्स इन द इंडो-पाकिस्तान कफिलक्ट, 1971, विकास, नई दिल्ली, 1973, पृष्ठ 94।
94 टाइम्स आफ इंडिया - 8 दिसम्बर 1971 कोटेड फ्राम शर्मा एस०आर० - इंडियन फॉरिन पॉलिसी 1971 पृष्ठ 223।
95 मिश्रा - के०पी० - दि रोल आफ दि यूनाइटेड नेशस इन दि इंडो-पाकिस्तान कन्फिलक्ट, 1971 विकास, न्यू देलही 1973, पृष्ठ 97
96 द स्टेट्समेन -- 8 दिसम्बर, 1971।
97 टाइम्स आफ इंडिया -- 13 दिसम्बर, 1971।

अध्याय - 4

1971 के बाद प्रभावी भूमिका का दौर

भारत-बगलादेश संधि
शिमला समझौता
अल्जीयर्स सम्मेलन और भारत
भारतीय अणु विस्फोट
भारत-चीन तनाव शैथिल्य
हिन्द महासागर का प्रश्न
कोलम्बो सम्मेलन में भारत की भूमिका
एशियाई सामूहिक सुरक्षा योजना और भारत

1971 के बाद प्रभावी भूमिका का दौर

भारत 1971 की घटनाओं के बाद नये आत्मविश्वास तथा नई शक्ति के साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रकट हुआ। स्वतंत्र और सम्प्रभु बगलादेश की स्थापना भारतीय उपमहाद्वीप के लिये युगान्तरकारी घटना थी। इस घटना मे भारतीय विदेशनीति तथा रण-राजनय ने अभूतपूर्व भूमिका निभाते हुए 1962 के अवसाद से मुक्ति प्राप्त की। बगलादेश ने स्वतंत्रता के बाद लोकतंत्र धर्म-निरपेक्षता तथा समाजवाद के आदर्शों को स्वीकार किया। इस तरह राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों के सन्दर्भ में बगलादेश भारत द्वारा चुने गए रास्ते पर चलने लगा।

1971 के बाद भारतीय विदेशनीति का तात्कालिक लक्ष्य बगलादेश को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा मान्यता प्राप्त करवाते हुए उसे सयुक्त राष्ट्र सघ का सदस्य बनवाना था और इस लक्ष्य मे भारत को निरन्तर सफलता मिलती चली गई। दुनिया के अधिकाश देशों ने बगलादेश को मान्यता प्रदान कर दी। अमेरिका और चीन ने भी अन्तत बगलादेश को मान्यता प्रदान कर उसके जन्म में डाली गई बाधाओं के लिये प्रायश्चित किया।

पाकिस्तान को भारत स्वतंत्र एव स्थायी राष्ट्र के रुप में देखना चाहता है तथा उससे अपने सभी तरह के विवादों का अन्त चाहता है। इस मान्यता के आधार पर भारत ने आदर्श विजेता की तरह आचरण करते हुए न केवल युद्धोत्तर समस्याओं का तीव्रता से हल खोजने में अपनी भूमिका निभाई वरन् अपने राजनय का प्रयोग पूरी शक्ति के साथ करते हुए बगलादेश को भी पाकिस्तान की मान्यता में अपनी भूमिका निभाई। द्विपक्षवाद को 1971 के बाद अपनी विदेशनीति का प्रमुख आधार बनाते हुए पाकिस्तान की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया तथा ये स्थितियाँ दोनों देशों को शिमला समझौते के ऐतिहासिक दस्तावेज तक ले गईं।

1971 की विजय से भारत ने जो सम्मान अर्जित किया था, शिमला समझौते जैसी घटनाओं से उसमें निश्चय ही वृद्धि हुई। तीसरी दुनिया के देशों में भारत के सम्मान की पुन स्थापना हुई। उल्लेखनीय है कि 1962 की पराजय के बाद तीसरी दुनिया के देशों में भारत के प्रभाव पर एकदम विपरीत प्रभाव पड़ा था। 1973 के गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के सम्मेलन मे भारत को प्रभावी भूमिका और उसके बाद निरन्तर इस आन्दोलन पर बढ़ता हुआ प्रभाव इस बात को प्रमाणित करता है।

इसी तरह अणुनीति के प्रश्न, हिन्द महासागर की समस्या, नि शस्त्रीकरण की समस्या, पश्चिमी एशिया एव दक्षिण-पूर्व एशिया की समस्या पर भारत के स्पष्ट विचारो से उसकी यथार्थवादी नीति के साथ अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर नेहरु-युगीन दृष्टि का भी समन्वय हुआ।

महाशक्तियों के सन्दर्भ में भारत की विदेशनीति अपने अतीत के अनुभवों के कारण निरन्तर यथार्थ परक होती चली गई। यह सही है कि भारत के सोवियत संघ से मैत्री संधि के बाद विशेष सम्बन्ध रहे है किन्तु भारतीय विदेशनीति क्रियान्वयन मे कई ऐसे प्रमाण है जो यह सिद्ध करते है कि राष्ट्रीय हितों के सन्दर्भ में स्वतन्त्र निर्णय लेने की भारतीय विदेशनीति पर इस संधि का कोई दबाव नहीं रहा। सोवियत संघ के साथ संधि चीन से भारत के सामान्यीकृत सम्बन्धों मे बाधा बनी न किसी अन्य प्रश्न पर। अब हम उपयुक्त वक्तव्य के सन्दर्भ में 1971 के बाद की प्रमुख घटनाओं की समीक्षा करेंगे।

(1) भारत-बंगलादेश संधि

1971 के बाद भारत की विदेशनीति का प्रमुख झुकाव द्विपक्षवाद के आधार पर अपने पड़ौसी देशों से सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने की ओर रहा। भारत, ताशकन्द के बाद यह अनुभव कर चुका था कि किसी मध्यस्थ की भूमिका से दो देशों के बीच स्थाई मैत्री की खोज पूरी नहीं की जा सकती। इससे मध्यस्थ भले ही लाभान्वित हो, दोनों पक्षों को कोई लाभ नहीं होता। इसीलिये अपने सम्बन्धों में शान्तिपूर्ण बातचीत के माध्यम से द्विपक्षवाद के आधार पर भारत ने स्थाई रूप देने के प्रयत्न 1971 के बाद के वर्षों में प्रारम्भ किये।

बंगलादेश की स्वतन्त्रता के बाद उससे स्थाई मैत्री भारत के लिये अपनी पूर्वी सीमा पर निश्चिन्त रहने के लिये आवश्यक थी। उधर बंगलादेश को भी जो हाल ही में भारत की ही सहायता से स्वतंत्र हुआ था, एक शक्तिशाली मित्र की आवश्यकता थी।

बंगलादेश की यात्रा पर पहुँचने वाली पहली शासनाध्यक्ष के रूप में श्रीमती गाँधी ही थी।[1] श्रीमती गाँधी की बंगलादेश यात्रा भारत बंगलादेश सम्बन्धों के एक दौर की समाप्ति तथा दूसरे दौर के प्रारम्भ के रूप में मानी गई।[2]

चूँकि बंगलादेश की स्वतन्त्रता में भारत का मुख्य योगदान था इसलिये युद्ध से क्षतिग्रस्त बंगलादेश के आर्थिक पुनर्निमाण का भी दायित्व एक सीमा तक भारत का ही था। भारत इसके लिये भी प्रयत्नशील था कि बंगलादेश को अन्तर्राष्ट्रीय जगत एक वास्तविकता के रूप में स्वीकार कर ले तथा उसे उसके पुनर्निर्माण में सहायता दे। विश्व समुदाय भी इस सन्दर्भ में उत्सुक था

"विश्व समुदाय मे इस बात की बैचेनी थी कि बंगलादेश, जोकि उत्पीडन, शोषण के दौर से गुजरकर स्वतन्त्र हुआ है वह कही जालिमाना ढंग से कुचलकर फिर से दासता की बेड़ियों में न जकड़ दिया जाय। और सभी देशों की यह आकांक्षा थी कि बंगलादेश का अस्तित्व बना रहे और युद्धोत्तर उतार-चढ़ाव के थपेड़े सहकर भी वह स्वतन्त्र बना रहे।"[3]

भारतीय प्रधानमंत्री ने अपनी यात्रा में तीन वृहत् सत्रों में शेख मुजीब से बातचीत की। इसमें विशेष रूप से द्विपक्षीय सम्बन्धों को एक-दूसरे की सम्प्रभुता का सम्मान करते हुए मजबूत बनाने, व्यापार, बाढ़- नियंत्रण, विकास सहायता तथा युद्धोत्तर समस्याएं सम्मिलित थी।

इस चर्चा के बाद भारत-सोवियत संधि की तरह अप्रत्याशित रूप से 19 मार्च, 1972 को पच्चीस वर्षीय शान्ति मैत्री और सहयोग की एक संधि पर हस्ताक्षर किये।

इस संधि में दोनों पक्षों ने शांति और मैत्री के आधार पर एक-दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करने तथा एक-दूसरे की स्वतंत्रता, सम्प्रभुता तथा प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान करते हुए एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का संकल्प व्यक्त किया गया।[4] संधि में उपनिवेशवाद और प्रजातिवाद को विश्वशांति के लिये घातक मानते हुए उसकी निन्दा की गई। तथा तनाव कम करने के लिये शांतिपूर्ण सह- अस्तित्व में आस्था प्रकट की गई। दोनों पक्षों ने ऐसी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर निरन्तर सपर्क रखने की घोषणा भी की जो दोनों देशों के हितों को प्रभावित करती हो। दोनों पक्ष परस्पर लाभ के लिये आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी क्षेत्रों में व्यापक सहयोग को मजबूत बनाने तथा व्यापार, यातायात, संचार आदि को समानता और परस्पर लाभ के लिये विकसित करने के लिये सहमत हुए; इसी तरह दोनों पक्ष कला, साहित्य शिक्षा संस्कृति स्वास्थ्य तथा खेल-कूद आदि के सम्बन्धों में वृद्धि के लिये सहमत हुए।[5]

भारत-बंगलादेश संधि का मर्म भी भारत सोवियत संधि की तरह वे ही अनुच्छेद हैं जो संधि में 8, 9 व 10 क्रम पर स्वीकार किये गये हैं।

इन तीनों अनुच्छेदों की भी वही भाषा है जो भारत-सोवियत संधि में स्वीकार की गई है।

संधि के अनुच्छेद आठ में एक-दूसरे के विरुद्ध किसी सैनिक संधि में सम्मिलित न होने की घोषणा की गई है।

अनुच्छेद नौ में कहा गया है कि दोनों पक्ष एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे व किसी को अपनी भूमि का इस तरह प्रयोग नहीं करने देंगे जिससे किसी भी पक्ष को सैन्य-क्षति पहुँचे या सुरक्षा को खतरा हो।[6]

अनुच्छेद दस में कहा गया है कि दोनों में से किसी भी पक्ष पर तीसरे पक्ष द्वारा यदि आक्रमण किया जाएगा या आक्रमण का खतरा उपस्थित होगा तो दोनों पक्ष शीघ्र ही विचार-विमर्श कर ऐसे खतरे को समाप्त करने के लिए तथा शांति एवं सुरक्षा की सुनिश्चित करने के लिये प्रभावकारी कदम उठायेंगे तथा किसी भी एक या एक से अधिक राज्यों के साथ ऐसे किसी दायित्व को स्वीकार न करने का संकल्प दोनों पक्षों ने किया है, जो इस संधि के प्रतिकूल हो।[7]

इसी तरह अन्तिम दो अनुच्छेदों में संधि की अवधि जो इस संधि में पच्चीस वर्ष तथा संधि के अनुच्छेद की व्याख्या में भ्रम होने की स्थिति में दोनों पक्षों द्वारा हल खोजने की बात कही गई है।[8]

इस तरह यह स्पष्ट है कि भारत और बंगलादेश की शान्ति, मैत्री और सहयोग की जिस 25 वर्षीय संधि पर 19 मार्च 1972 को भारत की ओर से श्रीमती गांधी तथा बंगलादेश की ओर से शेख मुजीबुर्रहमान ने हस्ताक्षर किये। उसकी 12 अनुच्छेद भारत सोवियत संधि के प्रावधानों की ही तरह है।[9]

श्रीमती गांधी ने इस संधि के सन्दर्भ में कहा था कि -- "यह संधि शान्ति की खोज अच्छे पड़ौसी सम्बन्धों तथा जनता की भलाई के लिये हमारा मार्गदर्शन करेगी।[10]

संसद के समक्ष संधि प्रस्तुत करते हुए श्रीमती गांधी ने कहा था कि

"यह दो पड़ोसी देशों के प्रभुता सम्पन्न शासनों की सहमति का दस्तावेज है जोकि यह प्रमाणित करता है कि दोनों अपने परस्पर हितों के लिए समान नीतियों का पालन करेंगे। यह संधि दोनों देशों की मित्रता की सम्पुष्टि करती है। यह दोस्ती दोनों देशों की जनता के त्याग-बलिदान के खून-पसीने से प्रगाढ़ की गयी है।[11]

इस प्रकार भारत और बंगलादेश के बीच संधि सम्पन्न हुई। शेख मुजीब 15 अगस्त, 1975 तक बंगलादेश के राष्ट्रपति रहे। उसके बाद एक सैन्य क्रान्ति में उनकी हत्या हो गई तथा उसके बाद से राजनैतिक अस्थिरता का क्रम निरन्तर चलता रहा। किन्तु संधि को किसी भी बंगलादेश शासन ने समाप्त नहीं किया तथा सामान्यतः भारत के बंगलादेश से सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण अथवा सामान्य रहे। यद्यपि फरक्का विवाद जैसे प्रश्नों पर दोनों देशों में मतभेद जरूर हुए किन्तु इस प्रश्न पर बातचीत के माध्यम से समाधान खोजा जाता रहा। संधि के बाद भारत-बंगलादेश के सम्बन्धों का विस्तृत विवेचन यहां आवश्यक नहीं है किन्तु यह तय है कि 1977-80 तक जनता सरकार के युग में ये सम्बन्ध सामान्य और मैत्रीपूर्ण रहे तथा वर्तमान में भी ये सामान्य ही हैं तथा संधि अस्तित्व में है।

(2) शिमला समझौता (3 जुलाई, 1972)

1971 में भारत और पाकिस्तान के बीच जो युद्ध हुआ वह एक निर्णायक युद्ध था। इस युद्ध के साथ ही पाकिस्तान को अपना पूर्वी भाग खोना पड़ा और स्वतन्त्र बंगलादेश के रूप में एक सप्रभुता सम्पन्न लोकतान्त्रिक राज्य की स्थापना हुई। पश्चिमी सीमा पर इस युद्ध का उद्देश्य रक्षात्मक लड़ाई था, भारत के रक्षामंत्री ने घोषणा की थी कि यदि युद्ध लड़ा गया तो वह पाकिस्तान की ही धरती पर लड़ा जाएगा। पूर्व में तो यह घोषणा शत-प्रतिशत सही निकली पश्चिमी पाकिस्तान में भी भारत की सेनाएं एक-दो स्थानों को छोड़कर सभी क्षेत्रों में पाकिस्तानी भूमि पर ही युद्ध लड़ीं।

इस युद्ध में 93 हजार पाकिस्तानी सिपाहियों ने भारतीय सेना के समक्ष आत्म-समर्पण किया था तथा ये सभी युद्ध बंदी भारतीय जेलों में बन्द थे। इसके अलावा भारतीय जेलों में युद्ध अपराधी भी बन्द थे। पाकिस्तान इन्हें यथाशीघ्र मुक्त करवाना चाहता था किन्तु इनकी मुक्ति के साथ ही बंगलादेश के नेता शेख मुजीब की मुक्ति तथा फिर बंगलादेश की मान्यता का प्रश्न भी जुड़ा हुआ था। इसी के साथ पश्चिमी क्षेत्रों में भारत द्वारा युद्ध में प्राप्त की गई भूमि भी पाकिस्तान मुक्त कराना चाहता था। कुल मिलाकर पाकिस्तान विवशताओं की स्थिति में था और भारत विजेता की मुद्रा में, किन्तु फिर भी भारतीय नीति पराजित की विवशताओं का लाभ उठाने की कतई नहीं थी। भारत के नेतृत्व की इस बात में दृढ़ आस्था थी कि स्थिर पाकिस्तान ही उसके लिये अधिक लाभदायक होगा। भारत ने पाकिस्तान की एक इंच भूमि पर भी कभी अपना नियंत्रण स्थापित करना नहीं चाहा। 1947, 1965 के युद्ध और उसके बाद समझौते इस बात की पुष्टि ही करते हैं। 1971 के इस युद्ध के बाद भी जबकि भारत एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में विश्वभर में स्थापित हुआ था, भारत ने पाकिस्तान के प्रति वही दृष्टिकोण अपनाया जो एक आदर्श विजेता को पराजित के साथ अपनाना चाहिए सरल शब्दों में वही व्यवहार किया जो एक राजा को दूसरे राजा के साथ करना चाहिए।

पाकिस्तान के प्रति अपनी मनःस्थिति स्पष्ट करते हुए भारतीय प्रधानमंत्री ने 'विजय-वर्ष की अन्तिम सन्ध्या 31 दिसम्बर, 1971 को पत्रकारों से कहा था कि

"भारत-पाक सम्बन्धों के विवाद द्विपक्षीय वार्ता से ही हल किये जा सकते हैं हमें आशा है कि पाकिस्तान इस सदमे की स्थिति से गुज़र कर सामान्य हालत में आयेगा तो अवश्य महसूस करेगा कि स्वयं के हित में उसे भारत के साथ दोस्ती बनाये रखना महत्वपूर्ण है।"[12]

भारत की ओर से पाकिस्तान से बातचीत हेतु निरन्तर पहल की जाती रही लेकिन प्रारम्भ में भुट्टो ने उसके प्रति उदासीनता दिखाई तथा यह प्रयास करते रहे कि महाशक्तियां भारत पर अपने प्रभाव का प्रयोग इस तरह करें कि पाकिस्तान को बातचीत से अधिक से अधिक लाभ हो। भुट्टो ने पहले यह प्रयास किया कि निक्सन की चीन यात्रा में काश्मीर का उल्लेख किया जाए। निक्सन की यात्रा की समाप्ति पर शंघाई घोषणा-पत्र में दोनों देशों के नेताओं ने काश्मीर का उल्लेख कर एक बार फिर भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करते हुए भुट्टो को प्रश्रय व प्रोत्साहन दिया।[13] किन्तु दोनो देशों ने भारत पर कोई दबाव नहीं डाला न वे इस स्थिति में थे।

भारत की प्रधानमंत्री ने भुट्टो के समक्ष पहले अधिकारी स्तर की बातचीत का प्रस्ताव रखा जबकि भुट्टो सीधे शीघ्र वार्ता चाहते थे। श्रीमती गांधी का तर्क था कि शीर्ष वार्ता की असफलता के बाद कोई विकल्प शेष नहीं बचेगा।[14] जबकि इस विषय में भुट्टो प्रारम्भ में इसे समय नष्ट करने की संज्ञा देते रहे।[15]

इस दीर्घ समय व्यर्थ करते हुए भारत पर दबाव डलवाने के प्रयासों में अमरिका व चीन से मिली असफलता के बाद मास्को गए। उन्हें विश्वास था कि मास्को की बात भारत पर प्रभावी होगी।[16] वहां भी असफल रहने पर उन्होंने युद्ध में तटस्थ रहे ब्रिटेन से सम्पर्क हेतु अपने विशेष दूत को लन्दन भेजा तथा उससे दोनों पक्षों में मध्यस्थता का आग्रह किया। भुट्टो के इन प्रयासों की तीव्रता का कारण मुख्यतः युद्धबंदी थे जिन्हें मुक्त करवाने के लिये भुट्टो पर बहुत दबाव देश भर से आ रहे थे।

पाकिस्तान के ये समस्त प्रयास असफल रहे। श्रीलंका को भी मध्यस्थता के लिये पाकिस्तान प्रयास कर रहा था।

भारत की इस सन्दर्भ में बहुत स्पष्ट नीति थी। भारत, किसी भी स्थिति में केवल द्विपक्षीय वार्ता का पक्षधर था। ताशकंद के अपने कड़वे अनुभवों के कारण उसका निष्कर्ष था कि जब तक दोनों पक्ष खुले मन से एक-दूसरे से बातचीत नहीं करते समस्याएं हल नहीं होंगी।

श्रीमती गांधी ने भुट्टो को पत्र लिखते हुए पुनः इस बात पर बल दिया कि वार्ता पहले अधिकारी स्तर पर होनी चाहिए तथा वार्ता स्थल भारतीय उपमहाद्वीप में ही होना चाहिए, *वह चाहे भारत हो या पाकिस्तान*।[17]

भारत, दृढ़तापूर्वक यह घोषित करता रहा कि किसी तीसरे पक्ष की मध्यस्थता या सौजन्य के बिना ही वार्ता होगी वार्ता चाहे अधिकारी स्तर की हो या शीर्ष स्तर की। इसी आधार पर भारत ने मध्यस्थता के लिये मास्को, लन्दन तथा कोलम्बो के प्रयत्न के पाक-सुझाव को अस्वीकार कर दिया।[18]

अन्ततः भुट्टो ने श्रीमती गांधी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। तथा अधिकारी स्तर की वार्ता के शीघ्र आयोजन हेतु अपनी स्वीकृति भेज दी। भुट्टो ने एक वक्तव्य में जानकारी देते हुए तीन बातें कहीं -- एक, उन्होंने शीर्ष वार्ता की आधार तैयार करने के लिये अधिकारी स्तर की वार्ता का श्रीमती गाँधी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है। दूसरे, उन्होंने तिथि व स्थान के निर्णय का भार भारत पर छोड़ दिया है, तथा तीसरे इस बात पर स्वीकृति दे दी है *कि वार्ता भारत या पाकिस्तान में ही होना चाहिए तीसरे देश विशेषकर* किसी बड़ी शक्ति की राजधानी में नहीं।[19]

26 अप्रैल से 30 अप्रैल तक भारत की ओर से डी०पी० धर के नेतृत्व में 9 सदस्यों के एक दल ने पाकिस्तान की ओर से अजीज अहमद के दल से बातचीत की। यह बातचीत मरी पाकिस्तान में आयोजित हुई। वार्ता भावी शिखर वार्ता के सिद्धान्त तथा *विषयसूची तैयार करने के लिये चल रही थी। इसी बीच राष्ट्रपति भुट्टो ने डी०पी० धर* को बुलाया 75 मिनिट की इस बातचीत वार्ता के लिये विषयों के बारे में विचार- विमर्श हुआ। यह वार्ता बहुत लाभदायक रही तथा इससे शिखरवार्ता लगभग निश्चित हो गई।[20]

वार्ता के अन्त मे प्रकाशित सयुक्त विज्ञप्ति मे घोषणा की गई कि राष्ट्रपति भुट्टो व प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी मई के अन्त मे अथवा जून के प्रारम्भ म महत्वपूर्ण समस्याओ पर चर्चा करगे जिनम भारत-पाक युद्ध से उत्पन्न समस्याए तथा स्वतत्रता के बाद मे उत्पन्न समस्याए भी सम्मिलित हे।[21]

इस वार्ता के बारे म लन्दन के पत्र टाइम्स ने लिखा था कि

"भारत-पाक युद्ध के पश्चात् समस्याओ के कुछ मुद्दे कार्य सूची म उभर कर सामने आये थ। जिनम दोना की सीमाओ पर तैनात फोजो को हटा लेना, पाकिस्तानी युद्ध बदियो की रिहाई और पश्चिमी मार्च पर पकड़े गये सैनिको को मुक्त करना, आपसी देशो के अतिक्रमण के क्षेत्र स कब्जा हटाना, बगला देश को पाकिस्तान द्वारा मान्यता प्रदान करना भारत-पाक सबधो को फिर स स्थापित करना तथा कश्मीर विवाद भी शामिल है।"

इसके बाद शिमला वार्ता का आयोजन अन्तत कुछ ओर व्यवधानो क बाद जून के अन्तिम सप्ताह मे हुआ। भुट्टो ने विश्व की प्रमुख राजधानियो म अपने दूत इस उद्देश्य से भेजे कि बडी शक्तिया भारत पर उदार दृष्टिकोण अपनाने क लिये दबाव डालने के लिये तैयार हो जाए।[23]

भुट्टो 28 जून 1972 का 87 सदस्यो का एक दल लेकर भारत पहुँचे। पाकिस्तानी प्रतिनिधि मण्डल का समुचित राजनयिक शिष्टाचार क साथ स्वागत किया गया। भुट्टो ने अपने वक्तव्य म कहा कि व अतीत की समस्त कडवाहट को भूलकर सम्मान के साथ शातिपूर्ण सम्बन्धो की नीव डालने के लिये प्रयत्नशील रहेगे।[24]

शिखर-वार्ता दोनो राष्ट्रो क नेताओं के मध्य बहुत धीमी गति से प्रारम्भ हुई। दोनो देशों की सम्बन्धों को सुधारने की तीव्र इच्छा के बाद भी असहमतिया वार्ता मे व्यवधान पहुँचाती रहीं।

"भारत चाहता था कि दिसम्बर-युद्ध से उत्पन्न सभी बुनियादी समस्याओ का निपटारा कर लिया जाए किन्तु पाकिस्तान की ख्वाहिश थी कि कश्मीर क मसले मे उलझने के पहले युद्ध बदियो की रिहाई और अधिकृत क्षेत्र उसे भारत लौटा दे।[25]

अधिकारी स्तर पर वार्ता म जब व्यवधान हुआ तो 30 जून 1972 को प्रधानमंत्री श्रीमती गाधी व राष्ट्रपति भुट्टो क मध्य बिना सहायको क करीब एक घटे तक बातचीत हुई। दूसरे दिन वे पुन मिले। 2 जुलाई तक भी दोनो पक्षो क मध्य अन्तिम सहमति नहीं हो पाई। इस मध्य भारत की ओर से 6 प्रारूप स्थाई शान्ति एव सम्बन्धो के सामान्यीकरण हेतु प्रस्तुत किये गए। जब वार्ता की असफलता निश्चित सी लग रही थी तभी अन्तिम समय मे श्रीमती गॉधी और भुट्टो के अन्तिम प्रयास सफल हुए और दो जुलाई की अर्धरात्रि के बाद समझौते के प्रारूप पर दोनो राष्ट्रो क नेताओ के हस्ताक्षर

हुए।[26]

भारत और पाकिस्तान के दोनों नेताओं ने उपमहाद्वीप में स्थायी शान्ति की खोज के लिये एक और प्रयास करते हुए शिमला में इस ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। भारत ने विश्व-समुदाय के समक्ष एक बार पुनः प्रामाणिक रूप से स्थापित किया। अब हम शिमला समझौते के मुख्य उपबन्धों को प्रस्तुत करेंगे।[27]

दोनों पक्षों ने निश्चय किया कि वे परस्पर संघर्ष को समाप्त करेंगे, जिससे दोनों देशों के सम्बन्ध खराब हुए थे तथा उपमहाद्वीप में स्थायी शान्ति की स्थापना के लिये सम्बन्धों को सामान्य बनाएंगे, जिससे अपने देश में जन-कल्याण कार्यों में गति लाई जा सके।

उपर्युक्त उद्देश्य के लिये दोनों सरकारों ने निम्न मुद्दों पर अपनी सहमति दी

1. दोनों देशों के सम्बन्धों का निर्धारण संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के सिद्धान्तों के आधार पर होगा।
2. दोनों देश अपने विवादों का समाधान द्विपक्षीय वार्ता अथवा किसी अन्य शान्तिपूर्ण उपाय से करेंगे। समस्या का समाधान होने तक कोई भी पक्ष अपनी ओर से ही स्थिति को नहीं बदलेगा। शान्तिपूर्ण तथा सदभावनापूर्ण सम्बन्धों में बाधा पहुँचाने वाले किसी भी संगठन, सहायता या प्रोत्साहन को दोनों पक्ष रोकेंगे।
3. दोनों पक्षों में परस्पर सम्मान, अच्छे पड़ोसी भाव और स्थायी शान्ति की स्थापना के लिये शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, एक-दूसरे की सम्प्रभुता का सम्मान तथा प्रादेशिक अखण्डता के सम्मान तथा आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति पर चलेंगे।
4. उन आधारभूत प्रश्नों एवं कारणों का जिनके कारण विगत 25 वर्षों से सम्बन्ध खराब रहे हैं, का समाधान शान्तिपूर्ण उपायों से किया जाएगा।
5. दोनों पक्ष हमेशा एक-दूसरे की राष्ट्रीय एकता, प्रादेशिक अखण्डता, राजनीतिक समानता, सम्प्रभु-समानता का सम्मान करेंगे।
6. संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अन्तर्गत दोनों देश एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता पर न तो आक्रमण करेंगे न ही आक्रमण की धमकी देंगे।

दोनों सरकारें अपनी सत्ता के अन्तर्गत ऐसे सभी कदम उठाएंगी जिससे एक-दूसरे के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण प्रचार को रोका जा सके। दोनों पक्षों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के विकास के लिये आवश्यक सूचनाओं का आदान-प्रदान और प्रोत्साहन करेंगे। दोनों पक्षों

के मध्य सम्बन्धों के सामान्यीकरण के लिये क्रमश बढ़ान क लिय यह तय किया गया कि

1 दोनो देशों क मध्य सचार स्त्रोतों डाक-तार थल-जल तथा वायुमार्गो के सम्पर्क पुन स्थापित किय जाएंगे।
2 एक-दूसरे देश क नागरिको की यात्रा-सुविधाए प्रदान करने का प्रयत्न दोनो पक्ष करेंगे।
3 व्यापार तथा आर्थिक क्षेत्र क साथ ही जिन क्षेत्रा मे सहमति हो सम्बन्धो की पुनर्स्थापना यथासम्भव की जाएगी।
4 विज्ञान और सस्कृति के क्षेत्रो म आदान-प्रदान किया जाएगा।

उपर्युक्त उद्देश्यो का प्राप्त करने के लिये दोनो देशो के प्रतिनिधि समय-समय पर मिलते रहेंगे।

स्थायी शान्ति की स्थापना की प्रक्रिया प्रारम्भ करन क लिये दोना सरकारो न निम्न बिन्दुओ पर सहमति व्यक्त की

1 भारत और पाकिस्तान की सेनाए अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर लौट आएगी।
2 मान्य स्थिति के प्रति बिना किसी पूर्वाग्रह के दोनो पक्ष जम्मू और काश्मीर मे दिसम्बर, 1971 की वास्तविक नियत्रण रेखा का सम्मान करेगे। आपसी मतभेद या कानूनी व्याख्या होने पर भी दोनो मे स कोई भी पक्ष अपनी ओर से इसमे परिवर्तन का प्रयास नहीं करेगा। इस रेखा के उल्लघन के लिये दोनो पक्षो ने शक्ति-प्रयोग का आश्रय न लेने का सकल्प किया।
3 इस समझौते के क्रियान्वयन के एक माह मे दोनो देशो की सेनाए अपनी सीमा में लौट आएगी।

इस समझौते की पुष्टि दोनो देशा की सरकारो द्वारा अपनी सवैधानिक प्रक्रिया द्वारा की जाएगी तथा पुष्टि की सूचनाओं के विनिमय के बाद ही समझौता क्रियान्वित होगा।

आपसी समस्याओं के समाधान के लिये दोनों देशों के शासनाध्यक्ष परस्पर मिलते रहेंगे। इस बीच अधिकारी स्तर पर समझौते के क्रियान्वयन की प्रकिया चलती रहेगी तथा चर्चा के माध्यम से युद्धबदियो का प्रश्न, नागरिकों की वापसी, जम्मू-काश्मीर समस्या के अन्तिम हल तथा कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना आदि प्रश्नो सहित स्थायी शान्ति एव सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होगी।

इस तरह एक बार पुन दोनों पक्ष पहले युद्ध और फिर शान्ति की स्थायी खोज के लिये एक समझौते तक पहुँचे। उल्लेख्य यही है कि इस बार वह मुलाकात प्रत्यक्ष तथा द्विपक्षीय थी। किसी तीसरी शक्ति की कोई भूमिका इस वार्ता में नहीं रही। इस बार पुन

भारत ने उदारता का परिचय देते हुए एक बार और अपने पड़ोसी को शान्ति और मैत्री के साथ रहने का अवसर दिया।

इस समझौते पर अपने एक लेख में भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए लिखा था

> "2 जुलाई सन् 1972 को शिमला में भारत और पाकिस्तान के बीच समझौता हुआ था जिसमें यह निश्चय किया गया था कि सारे आपसी विवाद द्विपक्षीय बातचीत के दौरान ही तय किये जाय, स्थायी शांति और आर्थिक तथा सांस्कृतिक सहयोग के लिये पारस्परिक सद्भाव के साथ बिना किसी हिंसक दबाव के मिलकर काम किया जाय। कश्मीर और सीमा विवाद को सद्भावना से आपस में बैठ करने की प्रतिबद्धता का भारत की जनता ने सर्व सम्मति से स्वागत किया था। मैं श्री भुट्टो के साहस और यथार्थ नीति की प्रशंसक हूँ जिन्होंने भारत आने की पहल की थी।"[28]

इस समझौते का महत्व मुख्यतः इसके द्विपक्षीय होने में तथा भारत-पाक विवादों के प्रति *यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने में निहित है।*

"भारत और पाकिस्तान के बीच शिमला में द्विपक्षीय वार्ता दक्षिण एशिया के राजनीतिक विकास की प्रणाली में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह प्रथम अवसर था कि बिना किसी बाहरी पंच (कच्छ टेरि टोरियल एवार्ड) के आपस में विवाद हल कर लिया गया था अथवा ताशकन्द में सद्भाव पूर्ण समझौता में सोवियत संघ के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध का उपयोग किया गया था। इन विवादों के दायरों में यह भी खास बात थी दोनों ही पक्षों की आपसी समझौता हेतु रजामंदी थी। इस समझौते में यह उल्लेखनीय है कि गत 25 वर्षों से चला आने वाला विवाद शांतिमय तरीके से आपस में द्विपक्षीय वार्ता द्वारा सुलझाया जा सकता था। अन्य मामलों भी दोनों देश यही रास्ता शांतिपूर्ण ढंग से अपनाने हेतु वचनबद्ध है।"[29]

इस समझौते पर संसद में बोलते हुए भारत के तत्कालीन विदेशमंत्री सरदार स्वर्णसिंह ने कहा था

> "यह समझौता उपमहाद्वीप में स्थायी शांति की स्थापना की दिशा में पहला कदम है। यह वह ढांचा प्रदान करता है जिसके अन्तर्गत निष्ठापूर्वक कार्य करने पर भारत और पाकिस्तान के मध्य बहुआयामी सम्बधों की स्थापना की जा सकती है। विगत 25 वर्षों का अनुभव बताता है कि बाह्य तथा तीसरी शक्तियों ने भारत-पाकिस्तान की समस्याओं का हल बहुत अधिक कठिन बना दिया था।[30]

इस समझौते पर राष्ट्र मे तथा विदेशों मे मिश्रित प्रतिक्रियाए व्यक्त की गई जिन्हे प्रस्तुत करना यहा आवश्यक नही। कुल मिलाकर अधिकाश क्षेत्रो मे शाति के इस प्रयास का स्वागत हुआ।

थोडे बहुत व्यवधानो और विलम्ब के साथ शिमला समझौते का क्रियान्वयन होता रहा। जम्मू-काश्मीर की समस्या के अतिरिक्त समझौते के लगभग सभी उपबन्ध क्रियान्वित हो चुके है तथापि इस बीच पाकिस्तान मे पुन सैन्य तानाशाही की स्थापना हो गई किन्तु फिर भी शिमला भावना के आधार पर दोनो देशो के सम्बन्ध सचालित हो रहे है। अपवाद है तो यही है कि काश्मीर का जिक्र पाक शासको द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मचों पर करने की पूर्व परम्परा का अनुसरण वर्तमान शासक द्वारा भी जारी है जबकि शिमला समझौते मे इस समस्या का द्विपक्षीय ही रखने का सकल्प किया गया था।

(3) अल्जीयर्स सम्मेलन और भारत

1973 के गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो के चौथे सम्मेलन मे भारत ने अब तक के सम्मेलनो की अपेक्षा सर्वाधिक प्रभावी भूमिका निभाई। 1971 की भारत सोवियत सधि के बाद मुख्य रूप से पश्चिमी राष्ट्रो द्वारा भारत की असलग्नता की नीति को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा था किन्तु इस चतुर्थ सम्मेलन मे श्रीमती गाधी की भूमिका ने न केवल भारत को गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के नेता के रूप मे स्थापित किया तथा उस धारणा को त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया कि असलग्नता मे भारत का विश्वास नही रह गया है, साथ ही इस आन्दोलन को नई शक्ति, नया स्वाभिमान और नया आत्मविश्वास देते हुए "नई विश्व-व्यवस्था" के प्रभावी पहलू को जोडते हुए इस आन्दोलन को नये आयाम दिये।

जिस समय यह सम्मेलन सम्पन्न होने जा रहा था भारत मे भीषण आर्थिक समस्याए विद्यमान थी, इसलिये आशका यह थी कि प्रधानमत्री सम्मेलन मे सम्मिलित न हो किन्तु कई कारणों से यह अवसर छोडना न भारत की इस आन्दोलन मे प्रतिष्ठा की दृष्टि से सम्भव था न ही अल्जीरिया श्रीमती गाधी की उपस्थिति से वचित रहना चाहता था, इसलिये आयोजक देश अल्जीरिया की ओर से निरन्तर आग्रह के बाद अल्जीरिया के राष्ट्रपति ने विशेष दूत के रूप मे उनकी सरकार के पर्यटन मत्री एम०ए० अजीज को सम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिए आग्रह करने हेतु भेजा।[31] अन्तत श्रीमती गाधी ने सम्मेलन मे सम्मिलित होने का निर्णय लिया।[32]

श्रीमती गाधी के इस निर्णय से केवल मेजबान देश ही प्रसन्न नही हुआ, वरन् उन सभी देशो के उत्साह मे वृद्धि हुई जो यह सोच रहे थे कि श्रीमती गाधी की अनुपस्थिति सम्मेलन के प्रभाव को कम करेगी।[33]

1970 मे श्रीमती गाधी द्वारा लुसाका सम्मेलन मे निभाई गई भूमिका तथा 1971 मे

बंगलादेश की जनक्रान्ति को मानवीय आधार पर समर्थन देते हुए, उसकी स्वतन्त्रता में निभाई गई भूमिका तथा बाद में पाकिस्तान के साथ शान्ति के लिये किये गये प्रयासों से भारत का गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों में सम्मान बढ़ा था और मुख्य बात यह है कि 1971 के युद्ध में भारत ने असंलग्न राष्ट्रों के प्रबल विरोधी अमेरिका को अप्रत्यक्ष रूप से पराजित किया था। इन घटनाओं ने श्रीमती गाँधी का व्यक्तित्व विश्व राजनीति में प्रभावी तर्क से उभरा था। वियतनाम तथा पश्चिम एशिया के प्रति बेबाक भारतीय नीति से भी इस प्रभाव में वृद्धि हुई थी।

श्रीमती गाधी 4 सितम्बर 1973 को सम्मेलन में भाग लेने हेतु अल्जीयर्स पहुँची।[34]

असंलग्न राष्ट्र पूरे जोश में थे जैसे ही 5 सितम्बर 73 को चौथे सम्मेलन का शुभारम्भ हुआ। इस बार सम्मेलन की सदस्य संख्या पर्याप्त वृद्धि के साथ 75 तक पहुंच गई थी। आठ प्रेक्षक तथा तीन अतिथि भी इसमें सम्मिलित हुए। विश्व भर के 15 मुक्ति आंदोलनों के नेता इस सम्मेलन में अपनी शिकायतों को दूर करने की अपील के साथ पहुंचे थे।[35]

श्रीमती गाधी ने इस सम्मेलन में दो बार भाषण दिये। 5 सितम्बर को उद्घाटन समारोह के अवसर पर एशियाई देशों की ओर से अल्जीरिया के राष्ट्रपति को उनके उद्बोधन के लिये धन्यवाद दिया।[36] दूसरे दिन के पूर्ण अधिवेशन में श्रीमती गाधी ने अत्यधिक प्रभावशाली उद्बोधन, प्रश्न करते हुए प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा -- "वह कौन सी बात है जो इतने अधिक देशों को निकट लाई है ? हम 80 राष्ट्र-प्रमुख इतनी दूरी से अपने देशों की आवश्यक निजी व्यस्तताएं होते हुए भी क्यों यहां एकत्रित हुए है ? क्या हम महज औपचारिकता की पूर्ति के लिये यहां आए हैं या क्या हम अपने मृत होते हुए विश्वास को यहा पुनर्जीवित करने के लिये एकत्रित हुए है ?[37] स्वयं ही श्रीमती गाधी ने अपने प्रश्नों को उत्तर देते हुए कहा -- हम यहां अपनी आस्था तथा उन प्रेरणाओं के कारण एकत्रित हुए हैं जो वर्तमान विश्व में भी प्रासंगिक हैं। हमें विश्व के पुनर्निर्माण में अपनी भूमिका निभाना है। हमारी स्वप्रभु रहने की इच्छाशक्ति ने असंलग्नता को जन्म दिया है, जिससे हम साम्राज्यवादी इतिहास के शिकार होकर न रह जाए। द्वितीय विश्वयुद्ध की भीषण विभीषिका के बाद असंलग्नता अस्तित्व में आई है जब विश्व दो गुटों में बट गया था। हमने तभी कहा था कि यह अस्थिर विभाजन विश्व की उस जनता के हितों से मेल नहीं खाता जिसका उदय साम्राज्यवादी शोषण की लम्बी काली रात्रि के बाद हुआ है। यह शान्ति के लिये मुख्य योगदान बन कर विकसित हुई है। आज जब शीतयुद्ध की उग्रता समाप्त हो रही है तब भी असंलग्नता ने अपनी प्रासंगिकता नहीं खोई है।[38]

श्रीमती गाधी ने अपने उद्बोधन में सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों का उल्लेख करते हुए महाशक्तियों की सैन्य पिपासा पर प्रहार किया। श्रीमती गाधी ने महाशक्तियों की

आलोचना करते हुए कहा था, कि अभी भी अपने स्वार्थों मे लिप्त कुछ देश अणु शस्त्र सग्रह मे जुटे है और उनका मोह त्याग नही सके है। उन शस्त्रो क भयानक प्रयोग भी जारी है, इनका इस्तेमाल रसायनिक तथा जैविक युद्ध मे किया जा रहा है यह सब भयानक भविष्य का द्योतक है क्योकि यह जबरन अस्त्र-शस्त्रो की होड की प्रेरणा देता है जो कि क्षेत्रीय सतुलन को बढ़ावा देने के बहाने जारी है।[39]

भारतीय उपमहाद्वीप मे शान्ति हेतु किये गए प्रयासो की ओर सम्मेलन का ध्यान आकर्षित करते हुए श्रीमती गाधी ने कहा

> "हम बराबर पुरानी शकाओ के निवारण मे लगे है, भारत पाकिस्तान और बगलादेश के बीच सद्भावना का विकास हो और पुराने मतभेदों के, अवरोध दूर होकर मैत्री पूर्ण सबध स्थापित हो जाय हम ऐसी परिस्थितियों के निर्माण मे प्रयत्नशील है।"[40]

दक्षिण-पूर्व एशिया की समस्या पर बोलते हुए श्रीमती गाधी ने कहा ,

> "दक्षिण पूर्वी एशिया की स्थिति आज भी सोचनीय है। वियतनाम और लाओस के समझौते को पूरी तौर पर अमल नही हुआ है और कम्बोडिया मे बाहरी हस्तक्षेप को रोकना, उस क्षेत्र मे शान्ति और स्थिरता के लिये निहायत जरूरी है। गुटनिर्पेक्ष देशों को मिलाकर ऐसा विश्वास पैदा करना चाहिए ताकि वियतनाम, लाओस और कम्बोडिया मिलकर अपना भविष्य निश्चित कर सके, गुटनिर्पेक्ष देश इनकी प्रभुसत्ता, स्वतत्रता और क्षेत्रीय अखण्डता को आदर भाव से देखना चाहिए।"[41]

श्रीमती गाधी ने अपने भाषण मे पश्चिम एशिया की समस्या के सन्दर्भ मे अरब राष्ट्रों का जोरदार समर्थन करते हुए इजराइल तथा अमेरिका की आलोचना की।[42]

विश्व में व्याप्त आर्थिक असमानता और सामाजिक अन्याय पर प्रहार करते हुए उन्होंने नई विश्व अर्थ व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया।[43]

अफ्रीका के शेष पराधीन भागो की स्वतत्रता आन्दोलनो के प्रति भारत का हार्दिक समर्थन व्यक्त किया।[44]

श्रीमती गाधी ने इस सम्मेलन में आए हुए एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के कई नेताओं से बातचीत की तथा युद्धोत्तर भारतीय उपमहाद्वीप की स्थितियां की जानकारी दी।[45]

सयुक्त राष्ट्र के महासचिव डा० कुर्टवाल्डहाइम भी श्रीमती गाधी से मिले तथा भारतीय उपमहाद्वीप तथा पश्चिम एशिया की स्थिति की चर्चा की। उन्होने 28 अगस्त, 1973 को हुए त्रिपक्षीय समझौते का स्वागत करते हुए प्रधानमत्री को बधाई दी। आपने आशा व्यक्त की कि इन प्रयासो से उपमहाद्वीप में स्थायी शान्ति की स्थापना मे सहायता

मिलेगी तथा भारत, पाकिस्तान तथा बगलादेश के मध्य सहयोग मे वृद्धि होगी।[45]

इस तरह गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो के इस चौथे सम्मेलन मे भारत ने प्रभावशाली भूमिका निभाई।

(4) भारतीय अणु-विस्फोट

सत्तर के दशक के चौथे वर्ष मे भारत ने विश्व के अणु शक्ति सम्पन्न पाच राष्ट्रो की सूची में अपना नाम भी जोड दिया, जब 18 मई, 1974 को राजस्थान के पोखरन नामक स्थान में अपना पहला अणु परीक्षण किया था।[46] इस अणु परीक्षण को भारत सरकार ने पूरी तरह गोपनीय रखा था। परीक्षण के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए भारत की प्रधानमत्री श्रीमती गाधी ने कहा था कि "यह परीक्षण केवल शातिपूर्ण कार्यों के लिये ही किया गया है। अणु अस्त्रों की स्पर्धा में भारत की कोई रुचि नही है।[47]

उल्लेखनीय है कि भारत उन प्रभु राष्ट्रों में सम्मिलित नही था जिन्होने अणु प्रसार निषेध सधि पर हस्ताक्षर किये थे। आणविक अस्त्रो व प्रविधि क बारे में भारतीय सरकार का दृष्टिकोण 1968 मे स्पष्ट शब्दों मे बतला दिया गया था जब भारत ने आणविक प्रसार निषेध सधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार किया था। भारत इस सधि के विरोध में निम्नालिखित आधारों पर था।[48]

पहला, 1950 के दशक के मध्यकाल से भारतीय नीति यह रही है कि आणविक अस्त्रों का निर्माण न करते हुए स्वदेशी आधार पर आणविक प्रविधि का विकास किया जाए।

दूसरा, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में समानता की स्थापना और असमानता की सस्थाओ व व्यवस्थाओं का विरोध अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के भारतीय दर्शन का उद्देश्य रहा है।

तीसरा कारण, भारत सभी प्रकार के आणविक प्रसार के विरुद्ध है चाहे वह उर्ध्वाधर हो या क्षैतिज। भारत न केवल इस बात का विरोधी है कि अन्य देशों को आणविक अस्त्र प्राप्त हो वरन् इस बात का भी कट्टर विरोधी है कि अणु-शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र और अधिक आणविक अस्त्र बनाए।

चौथा, भारत वास्तविक तथा पूर्ण नि शस्त्रीकरण का समर्थक है सधि पर हस्ताक्षर न करके भारत ने शस्त्र-नियत्रण के उन प्रयत्नों का विरोध किया है जो बडी शक्तियो के लिये सुविधाजनक हों।

18 मई, 1974 को पोखरन में अन्तत भारत ने अणु विस्फोट कर दुनिया को आश्चर्य में डाल दिया। इस परीक्षण पर अपेक्षित प्रतिक्रियाए सामने आई।

उन देशों ने जिन्होने आणविक प्रसार के विषय मे प्रचलित ज्ञान का स्वीकार कर लिया था, कमोवेश पश्चाताप जाहिर किया है। तीसरी दुनिया क देशो ने सतोष प्रकट किया

किन्तु पाकिस्तान ? उसकी प्रतिक्रिया बहुत उग्र रही। कई सरकारों ने भारतीय सरकार की यह घोषणा स्वीकार कर ली कि भारतीय परीक्षण आणविक तकनीक के विस्फोटक उपयोग को शांतिपूर्ण कार्यों में लिया जाएगा तथा भारत का इरादा कोई आणविक अस्त्र बनाने का नहीं है।[49]

भारत शान्तिपूर्ण कार्यों तथा उद्देश्यों के लिये आणविक परीक्षण को प्रारम्भ से ही अपना अधिकार मानते हुए उसी नीति पर चलता रहा है।

भारत की घोषणा का इस आधार पर आलोचक विश्वसनीय नहीं मानते कि "शान्तिपूर्ण" अथवा "सैनिक उद्देश्यों" के लिये आणविकी परीक्षणों के बीच बहुत सूक्ष्म अन्तर है। दोनो के लिये समान प्राविधिकी का प्रयोग होता है।[50]

किन्तु इस विश्वसनीयता के बारे में चाहे जितनी शंकाए उठाई जाए भारत की यह घोषणा अपने-आप में अनूठी थी कि यह देश आणविक अस्त्र नहीं बनाएगा। इस घोषणा के द्वारा भारत ने यह सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर लिया कि बजट में निकट भविष्य में शस्त्र निर्माण के लिये बड़ी धनराशि अलग से सुरक्षित नहीं रखी जाएगी। वैसे भी भारतीय बजट एक सार्वजनिक दस्तावेज होता है।

जहां तक भारत की घोषणा की विश्वसनीयता का प्रश्न है, यह एक सापेक्षिक प्रश्न है। यदि परिस्थितिया बदलती है तो कोई भी देश अपनी बदली हुई परिस्थितियों मे अपनी नीति बदलेगा। किसी भी देश के लिये सर्वोच्च प्राथमिकता उसके राष्ट्रीय हित होते हैं। कुल मिलाकर भारतीय अणु परीक्षण भारत के लिये एक बड़ी उपलब्धि थी। 1971 की युद्ध में मिली विजय के बाद शान्तिपूर्ण उद्देश्यो के लिये किये गए इस भारतीय अणु परीक्षण से भारत के सम्मान मे वृद्धि हुई।

(5) भारत-चीन तनाव शैथिल्य

जैसा कि नेहरु युग की विदेशनीति के विश्लेषण मे पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है कि चीन से भारत ने अपने सम्बन्धो की स्थापना में दूरदर्शी यथार्थवाद का ही परिचय दिया था। नेहरू के प्रयासो के बाद भी उस समय कमजोर भारत की शक्तिशाली चीन से मैत्री के प्रयास जब असफल हुए तो भारत-चीन युद्ध की दुर्भाग्यपूर्ण घटना से सम्बन्धों के पहले युग का पटाक्षेप हुआ। भारत ने इकतरफा कार्यवाही करते हुए अपने राजदूत भी वापस बुलाकर कूटनीतिक सम्बन्ध का स्तर कम कर दिया था।

1962 की पराजय के बाद भारत को मिले कटु अनुभवो ने उसकी सुरक्षा नीति को सुदृढ़ आधार प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया था। 62 के मोहभंग के कारण विदेशनीति क्रियान्वयन में यथार्थवादी दृष्टि भी निरन्तर विकसित होती गई।

1962 में अन्तिम रूप से भारत और चीन के कड़वाहट भरे सम्बन्धों का सिलसिला 1965 के भारत-पाक युद्ध में चीन की भूमिका के माध्यम से जारी रहा। जब भारत को इस युद्ध ने धमकाने तथा आतंकित करने का राजनय अपनाया, किन्तु भारत विचलित नहीं हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियां चूंकि चीन के खतरे के प्रति सतर्क थीं, इसलिये चीन को खामोश रहना पड़ा। 1965 में अन्तत पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध में मिली विजय से भारत के आत्मबल में न्यूनाधिक वृद्धि हुई।

सातवें दशक के अन्त में तथा आठवें दशक के प्रारम्भ तक भारत-चीन सम्बन्धों में असम्पृक्तता बनी रही। चीन की शत्रुतापूर्ण प्रचार की नीति तथा सीमा पर प्रतिवर्ष कुछ न कुछ हरकत करने की नीति जारी रही। 1970 तथा 1971 में ऐसे आभास हुए कि चीन, भारत से सम्बन्ध सुधारने का इच्छुक है लेकिन बंगलादेश के प्रश्न पर चीन की भूमिका ने इन सम्भावनाओं को एक बार पुन निरस्त कर दिया। उधर इस युद्ध के पूर्व "जब भारत सोवियत सन्धि" हुई तो चीन की इस धारणा की पुष्टि हुई कि भारत-रूस चीन की घेराबंदी का खेल ही खेल रहे है,इसलिये युद्ध में भारत को रोकने का विचार किया, किन्तु जहा चीन ने अन्त तक पाकिस्तान को राजनीतिक समर्थन दिया वहा सैनिक दृष्टि से सहायता हेतु वह चाहकर भी सक्रिय नहीं हो सका।"[51]

इस सधि के बाद भी संयुक्त राष्ट्र में चीन की सदस्यता के प्रश्न पर भारत ने चीन से कूटनीतिक सम्बन्ध न होते हुए भी तथा बंगलादेश के प्रश्न पर चीन की भूमिका व चीन-अमेरिकी-पाक गठबन्धन में चीन के सक्रिय होने के बाद भी भारत ने अपनी प्रारम्भिक नीति के अनुसार ही अनुकूल दृष्टिकोण ही व्यक्त किया तथा चीन की सदस्यता का समर्थन और फिर स्वागत किया।

संयुक्त राष्ट्र की चीन की सदस्यता पर विचार कर रही राजनीतिक समिति में बोलते हुए भारतीय प्रतिनिधि समरसेन ने कहा था कि

> "हमारे सामने यह मुद्दा सीधा - सच्चा है कि चीन केवल एक ही है जिसे 'पीपुल्स रिपब्लिक चाइना' नाम से सबोधित किया गया है। संयुक्त राष्ट्र सघ मे इसी चीन का प्रतिनिधित्व है। पीपुल्स रिपब्लिक चीन ही केवल यहाँ प्रतिनिधित्व का अधिकारी है। भारत शासन ने इसी सच्चाई को सन 1949 ई में साफतौर पर स्वीकार किया है भारत इसी चीन को ही अपने देश का मात्र प्रतिनिधि मानता आया है। अत हम पूर्व निर्धारित निरन्तर धारणा के अनुसार हम अपना मत संयुक्त राष्ट्र सघ के दस्तावेज द्वारा प्रस्तावित प्रारूप ए/एल 1630 के समर्थन मे ही देंगे और अन्य किसी प्रकार के प्रस्ताव का समर्थन नहीं करेगा।[53]

इस तरह भारत ने 1971 मे भी संयुक्त राष्ट्र मे जनवादी चीनी गणतंत्र की सदस्यता का जोरदार समर्थन किया। इसी वक्तव्य में समर सेन ने कहा था कि -- "हम

आशा करते हैं कि भारत और चीन के बीच अच्छे सम्बन्ध शीघ्र स्थापित होंगे।"[54]

संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा चीन की सदस्यता के निर्णय पर भारत ने संतोष व्यक्त करते हुए कहा कि यह निर्णय लेकर हमने 21 वर्षों की त्रुटि सुधारी है।[55]

संयुक्त राष्ट्र की कार्यवाही तथा चर्चाओं में चीन की भागीदारी से असंदिग्ध रूप में संयुक्त राष्ट्र और अधिक यथार्थवादी होगा।[56]

अपने प्रभावशाली भाषण के अन्त में चीन की सदस्यता का स्वागत करते हुए भारतीय प्रतिनिधि ने कहा

> "मैं उनका हर्षोल्लास से स्वागत करता हूँ और उनके प्रति सच्ची सद्भावनाएं व्यक्त करता हूँ। हमारे सामने उत्साह वर्धक और आशातीत भविष्य है। हम सभी उपस्थित 131 प्रतिनिधि यथाशक्ति और बुद्धि से एक साथ जुट कर काम कर सकेंगे।[57]

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र में चीन की सदस्यता का समर्थन और स्वागत करने के बाद भी बंगलादेश के प्रश्न पर विपरीत दृष्टिकोण के कारण दोनों देश निकट नहीं आ सके, संधि के बाद चीन प्रारम्भ में यह समझता रहा कि भारत रूस के इशारों पर ही अपनी नीति तय करता है, इस कारण भी वह भारत से सम्बन्धों के सामान्यीकरण के प्रश्न पर उदासीन रहा।

किन्तु इसके बाद जब 1975 तक आते-आते चीन ने भारत-सोवियत सम्बन्धों को *भारतीय नीति के सन्दर्भ में परखा तो उसे लगने लगा कि भारत रूस का मोहरा मात्र नहीं है।*

चीन में जाने वाले विदेशी अतिथि (विशेषत पश्चिमी यूरोपीय) चीनियों के साथ खुलकर बातचीत करते हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटिश राजनयिकों ने चीनी नेताओं को यह बता दिया था कि भारतीय कठोर हठी हो सकते है किन्तु वे किसी के हाथ की कठपुतली नहीं है। ठीक इसी प्रकार के सदेश इतालवी तथा स्कैंडिनेवी नेताओं ने भी चीनियों को दिये है। परिणामत चीनियों का यह विचार कि भारत, रूसी घेराबदी का एक अग है, बदल गया[58]

जनवरी, 1975 मे कलकत्ता मे आयोजित विश्व टेबिल-टेनिस स्पर्धा में अपनी टीम भेजकर चीन ने भारत के प्रति नीति में परिवर्तन का आभास देना प्रारम्भ कर दिया था। उल्लेखनीय है कि पिंग-पाग राजनय ने अमेरिका से चीन के मौन को तोड़ने में अपनी भूमिका निभाई थी। भारत में चीन के इस दल का अभूतपूर्व स्वागत हुआ। [59] इस दल के नेता ने श्रीमती गाधी से भी भेंट कर आशा व्यक्त की शीघ्र ही भारत और चीन के सम्बन्ध बहुत अच्छे हो जाएंगे। यह वक्तव्य पिंग-पाग राजनय का ही एक अग था।

22 फरवरी, 1975 को चीन के उपप्रधान मंत्री ने भी नेपाल जाते समय कलकत्ता में कहा कि भारत व चीन के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण हो जाएगे।[60] किन्तु दूसरी ओर चीन अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही भी करता रहा। सिक्किम के भारत में विलय पर चीन ने तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए भारतीय साम्राज्यवादियों का घिनाना कृत्य निरूपित किया।[61] साथ ही उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर विद्रोहियों को प्रशिक्षण देने का कार्य भी करता रहा। अक्टोबर, 1975 में चीनी सेना ने भारतीय सेना के गश्त कर रहे चार जवानों को अकारण ही मार डाला व दोनों देशों के बीच तनाव की स्थिति उत्पन्न की।[62]

इसके बाद भी चीन, भारत से सम्बन्ध सुधारने की उत्सुकता दिखाता रहा। भारत भी चीन को उसी तरह उत्तर देता रहा। और अचानक भारतीय विदेशमंत्री चव्हाण ने 15 अप्रैल, 1976 को लोकसभा में कहा कि

"इस सदन को यह भलीविधि ज्ञात है कि हमारी परम्परा और नीति म सभी देशों और खासतौर से पड़ोसी देशों के साथ सौहार्दपूर्ण संबंध बनाये रखने तथा विकसित करने का प्रयास रहा है। स्मरण होगा कि विदेश मंत्रालय के वित्तीय अनुमान की चर्चा में गत सप्ताह उत्तर देते हुए मैंने उल्लेख किया था कि हम पीपुल्स रिपब्लिक चायना के साथ अपने संबंध प्रगाढ़ करने का प्रयास कर रहे हैं। इस नीति के संदर्भ में दोनो देशों के प्रतिनिधियों की चर्चा पेकिंग और दिल्ली में हुई है। शासन स्तर पर यह निर्णय हुआ है कि दोनो देश अपने राजनयिक संबंध स्थापित कर अपने दूतावास परस्पर स्थापित करेंगे और राजदूत स्तर के प्रतिनिधियों का आदान-प्रदान करेंगे। भारत ने श्री के.आर. नारायणन का नाम पेकिंग में राजदूत पद हेतु प्रस्तावित किया है। आपसी चर्चाओं के आधार पर हमे आशा है कि पीपुल्स रिपब्लिक चाइना भी राजनियक संबंध मजबूत करने के लिये ऐसी ही नीति को आधार बनायेगा।[63]

भारत की इस घोषणा के बाद जुलाई, 1976 में सापेक्ष उत्तर देते हुए घोषणा की कि श्री चेन-चान युआन भारत में चीन के राजदूत होंगे।[64]

इसके बाद श्री के०आर०नारायणन ने जुलाई, 1976 में तथा चेन-चान युआन ने सितम्बर, 1976 में एक-दूसरे के देशों में राजदूत का पदभार ग्रहण कर लिया। चीन के राजदूत ने सितम्बर, 1976 में अपने परिचयपत्र प्रस्तुत करने के बाद कहा कि दोनों देशों की जनता के हितों के लिये सम्बन्धों के सामान्यीकरण हेतु संयुक्त प्रयास किये गए हैं। भारत अपनी इन कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना को दोनो देशों ने रचनात्मक और सार्थक सम्बन्धों के विकास तथा सामान्यीकरण की दिशा में पहला कदम बताया।[65]

जिस नाटकीयता के साथ नई दिल्ली में पीकिंग के साथ राजनयिक सम्बन्धों की घोषणा हुई। उससे विश्व की अनेक राजधानियों में आश्चर्य छा गया। अनेक समाचार-पत्रों

ने इस पर टिप्पणी करते हुए यहां तक लिखा है कि इसका प्रभाव चीनी-रुसी तथा चीनी-अमेरिकी सम्बन्धो पर व्यापक रूप से पड़ेगा। यद्यपि भावी घटनाचक्र के विषय में अटकलें लगातार खतरे से खाली नहीं है फिर भी एशिया के ही नहीं विश्व के दो विशालतम राष्ट्रों के सम्बन्धों के सामान्यीकरण की उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। इस घटना से गुटनिरपेक्षतावाद को बल मिलेगा तथा विकासोन्मुख राष्ट्रो में उसकी तस्वीर सुधरेगी।[66]

इस प्रकार 15 वर्षों बाद भारत-चीन के सम्बन्धो के सामान्यीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। दोनों पक्षो के मध्य राजदूत स्तर के सम्बन्धो की स्थापना के बाद आर्थिक सास्कृतिक व राजनीतिक क्षेत्रो मे सहयोग और समझौता का क्रम प्रारम्भ हुआ। दोनो पक्षो के मध्य मुख्य विवाद सीमा के प्रश्न को लेकर है जिसे बातचीत के माध्यम से हल करने के प्रयास बाद के वर्षों मे होते रहे है।

(6) हिन्द महासागर का प्रश्न

द्वितीय महायुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रभाव एवं नियत्रण क्रमिक रुप से सभी क्षेत्रों मे समाप्त होता गया और उन सभी स्थानो पर अमेरिकी साम्राज्यवाद ने अपने नये रुप मे प्रभुत्व स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। एशिया-अफ्रीका के देशों पर प्रभुत्व स्थापित करने मे ब्रिटिश नौसैनिक शक्ति की सर्वाधिक प्रभावी भूमिका थी तथा उसका हिन्द महासागर पर प्रभुत्व-स्थापना का प्रमुख लक्ष्य ही इन देशो पर अपना प्रभुत्व जमाए रखना था।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विश्वराजनीति के मच पर अमेरिका व सोवियत सघ के प्रभावी उदय ने विश्व मे अनेक स्थानों पर इन दोनो शक्तियो मे अप्रत्यक्ष सघर्ष की स्थिति को जन्म दिया किन्तु जब ब्रिटिश सरकार ने वक्तव्य दिया कि 1971 के अन्त तक ब्रिटेन स्वेज के पूर्व से अपनी सेनाए हटा लेगा तो इस क्षेत्र में "शक्ति-शून्यता" की कथित स्थिति निर्मित हो गई।[67]

इसके पूर्व अमेरिका को इस क्षेत्र मे कोई रुचि नही थी, लेकिन शक्ति-शून्यता का तर्क देते हुए 1965 मे ब्रिटिश सरकार तथा अमेरिका के मध्य एक द्विपक्षीय समझौता हुआ। मारीशस के समीप स्थित द्वीप दियागोगार्सिया के सम्बन्ध मे हुए इस समझौते के अनुसार अमेरिका ने अपने सचार साधनों को स्थापित करने के लिये एक अड्डे के रुप मे विकसित करने का दायित्व लिया। प्रारम्भ मे यहा सचार साधनो का अड्डा बनाने की घोषणा की गई किन्तु शीघ्र ही अमेरिका ने इसे एक नौसैनिक अड्डे का रुप देना प्रारम्भ कर दिया। अमेरिका ने यह निर्णय मुख्यतः मध्यपूर्व के तेल निर्यातक देशों पर आतंक की राजनीति का प्रयोग करने के लिये लिया था। इस निर्णय की प्रतिक्रिया स्वरुप सोवियत

नौसैनिक बेड़े भी शीघ्र ही इस महासागर में सक्रिय हो गए। इस तरह इस क्षेत्र में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद में यह खतरनाक परिवर्तन हुआ।

"द्वितीय महायुद्ध के बाद ब्रिटेन ने बर्मा, श्री लंका, दक्षिणी पूर्वी एशिया तथा पूर्वी अफ्रीका से अपनी सत्ता हटाली थी इस प्रकार हिन्द महासागर के क्षेत्र में शक्ति विहीन शून्यता हो गयी थी। यही कारण था कि यह क्षेत्र महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता का केन्द्र बन गया।"[68]

राष्ट्रपति निक्सन ने हिन्द महासागर के क्षेत्र में अपनी भावी नीति स्पष्ट करते हुए करते हुए लिखा था

> "इतिहास में स्वयं एक सामंजस्य होता है और यह लक्ष्य पूर्ण आवर्तन केन्द्रित है नई दिशा की ओर हम बिना यातायात की ओर पीठ करके नए परिवर्तन की ओर उन्मुख हो रहे हैं हम पश्चिम से पूर्व की ओर स्थान परिवर्तन कर रहे हैं और पैसफिक समुदाय की तारुना को आकार दे रहे हैं।"[69]

इस तरह अमरिकी प्रशासन ने अन्तत एशिया-अफ्रीका पर अपने नव-उपनिवेशवादी प्रभुत्व की स्थापना का लक्ष्य सामने रखते हुए हिन्द महासागर में अन्तत सैन्य अड्डे की स्थापना कर इस शान्त क्षेत्र को महाशक्तियों की आणविक स्पर्धा का केन्द्र बना दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इस स्पर्धा का आरम्भ अमरिका ने ही किया है।

"20 मार्च सन् 1973 में अमरिका ने दियागो गार्शिया में सैनिक अड्डा बना कर इस क्षेत्र में महा शक्तियों के प्रवेश की शुरुआत कर दी थी। और यह क्षेत्र इन की सत्ता सन्तुलन का आधार बन गया था।[70]

1971 के बाद हिन्द महासागर में जब सातवा जहाजी बेड़ा पहुँचा था तब से वह हिन्द महासागर में घूमता रहा। 1974 में ब्रिटिश सरकार ने अमरिका से एक और समझौता करते हुए दियागोगार्शिया में संचार-साधनों के लिये स्थापित अड्डे का सामरिक अड्डे के रूप में परिवर्तित करने का निर्णय लिया तबसे निरन्तर अमरिका इस क्षेत्र में अपनी आणविक शक्ति पर आधारित सैन्य सामग्री जुटाता जा रहा है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सोवियत संघ के जहाजी बेड़े हिन्द महासागर में घूमने लगे। इस तरह शक्ति स्पर्धा का एक खतरनाक हिन्द महासागर ने प्रारम्भ हो गया।

"इस प्रकार महाशक्तियों की सैनिक स्पर्धा का हिन्द महासागर केन्द्र बन गया था। तटवर्तीय शक्तियों की दृष्टि में प्रतिस्पर्धा के सदर्भ में शस्त्रों से शस्त्र आकृष्ट होते हैं। और सैनिक अड्डों की होड़ भी लग जाती है। यदि महाशक्तियों में से कोई भी नौ सेना अड्डा हिन्द महासागर के क्षेत्र में बनाता है तो अगर चाहे तो कुछ भी लगे उस महाशक्ति की देखा-देखी करने को दूसरा भी अनुकरण करने को तत्पर हो जाता है।"[71]

अमरिका ने इस क्षेत्र म अपना प्रभाव-विस्तार अपने औद्योगिक व्यापार में वृद्धि, मध्यपूर्व के तेल-भण्डारा पर प्रभुत्व सामरिक हितो की रक्षा, साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी हितो मे वृद्धि तथा सोवियत प्रभाव क्षेत्र के नियंत्रित करने के प्रमुख उद्देश्यो से किया।

1968 म सोवियत सघ के नौ सैनिक जहाज भी इस क्षेत्र म रहने लगे। यह सही है कि सोवियत सघ ने हिन्द महासागर म किसी अड्डे का विस्तार नही किया है किन्तु उसने अपने हितो की रक्षा के लिये इस क्षेत्र में अपनी सैन्य शक्ति अवश्य बढाई है साथ ही सदैव इस क्षेत्र को 'शान्त क्षेत्र' घोषित करने तथा 'अणुरहित क्षेत्र' घोषित करने का समर्थक रहा है। अमेरिका की हठधर्मिता के कारण हिन्द महासागर मे सैन्य शक्ति का निरन्तर विस्तार हो रहा है इससे इस क्षेत्र मे लगभग 40 पृष्ठप्रदेशीय व तटवर्ती राष्ट्रो के हितो व उनकी सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा उपस्थित हो गया है। कुछ विशेषज्ञो का तो यहा तक मत है कि तीसरे विश्वयुद्ध की ज्वालाए हिन्द महासागर की लहरो पर भडक सकती है।

जहा तक हिन्द महासागर की इस समस्या के प्रति भारतीय नीति का प्रश्न है, स्पष्ट है कि भारत इस सैन्य-स्पर्धा के विरुद्ध है। विदेशनीति के क्षेत्र में भारत जिन सिद्धान्तो का अनुसरण करता है उसमे सैन्य स्पर्धा का विरोध सर्वोच्च प्राथमिकता रखता है। हिन्द महासागर के तटवर्ती राष्ट्रो मे तो वैसे भी भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जो भौगोलिक व जनसंख्या की दृष्टि से अन्य समस्त राष्ट्रो की तुलना मे सर्वाधिक विशाल व सशक्त है। भारत के लिये राजनैतिक, सैन्य आर्थिक एव औद्योगिक दृष्टियो से हिन्द महासागर की असाधारण उपादेयता है इसलिये इस क्षेत्र मे महाशक्तियों की स्पर्धा के विरोध की नीति भारत ने प्रारम्भ से ही अपनाई है।

हिन्द महासागर मे अमरिकी अड्डे की स्थापना पर तथा बाद मे उसके विस्तार पर भारत द्वारा तीव्र प्रतिक्रियाए व्यक्त की जाती रही है।

नौ सैनिक अड्डे की स्थापना के अमेरिकी निर्णय पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा था कि

> "हिन्द महासागर मे इन सामरिक अड्डो की स्थापना से स्पष्ट यह अर्थ निकलता है कि नौसैनिक बेडा के आवागमन के कारण यह क्षेत्र तनाव ग्रस्त होगा और *प्रतिद्वन्द्विता का वातावरण बनेगा, ऐसा वातावरण तटवर्तीय देशो के हित में* विशेषतया घातक है।"[72]

12 नवम्बर, 1973 को लोकसभा मे अमेरिकी निर्णय पर अपनी नीति स्पष्ट करते हुए भारतीय विदेशमंत्री स्वर्णसिंह ने कहा था कि

> "हिन्द महासागर के सदर्भ मे हमारा उद्देश्य यही है कि यह क्षेत्र शक्तियों सभी प्रकार की बाधाओ से निरापद रहे, यह महाशक्तियो की प्रतिद्वन्द्विता का क्षेत्र न

> बने। किसी भी एक महाशक्ति अपनी नौसेना के बड़े यहाँ रहा अथवा उनकी भरमार यहाँ बनी रहेगी तो दूसरी महाशक्ति यहाँ अपनी नौसेना जहाज लाने की कोशिश करेगी। हिन्द महासागर के तटवर्ती देशों के लिये उनकी प्रतिद्वन्द्विता एक सर दर्द सा बन जायेगी। इसलिये अधिकांश तटवर्ती देश इस क्षेत्र को शान्तिपूर्ण रखना चाहते हैं। भारत शासन ने संयुक्त राष्ट्र संघ के 16 दिसम्बर 1971 के प्रस्ताव का जोरदार समर्थन किया है कि महाशक्तियाँ हिन्द महासागर क्षेत्र को सर्वकालिक शान्ति क्षेत्र बनाये रख वे वहाँ अपने सैनिक अड्डे और नौसेना का विस्तार न करें।"[73]

11 फरवरी 1974 को विदेशमंत्री ने कहा था कि अमरिका अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के अन्तर्गत हिन्द महासागर में सैनिक विस्तार कर रहा है। इससे इस क्षेत्र के देशों की सुरक्षा के लिये गम्भीरतम खतरा उपस्थित हो जाएगा।[74]

अमेरिका के शक्ति-शून्यता के सिद्धान्त पर प्रहार करते हुए श्रीमती गांधी ने कहा था कि "अपनी सैनिक उपस्थिति को न्यायसंगत ठहराने के लिये महाशक्तियों के पास सिद्धान्तों का कोई अभाव नहीं है। उन्हीं में से एक शक्तिशून्यता का सिद्धान्त भी है।"[75]

भारत ने इस क्षेत्र को शांति क्षेत्र तथा अणुरहित क्षेत्र घोषित करने के प्रत्येक प्रयास का समर्थन किया है।

सितम्बर 1970 में लुसाका में हुए असंलग्न राष्ट्रों के तीसरे सम्मेलन में भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने स्पष्ट रूप से घोषणा की थी कि -- "हम हिन्द महासागर को शान्ति और सहयोग का क्षेत्र घोषित करने के पक्ष में हैं। विदेशी नौसैनिक अड्डों का निर्माण इस क्षेत्र में तनाव तथा विदेशी शक्तियों की प्रतिस्पर्धा को जन्म देगा।[76]

इसी तरह 1971 में दिसम्बर की 16 तारीख को जब संयुक्त राष्ट्र महासभा ने हिन्द महासागर को शांति क्षेत्र घोषित करने तथा सभी प्रकार की सैन्य-स्पर्धा से इस क्षेत्र को मुक्त रखने का प्रस्ताव पारित किया तो भारत ने इस प्रस्ताव का जोरदार समर्थन प्रदान किया।[77] तथा उसके बाद भी संयुक्त राष्ट्र को इस दिशा में किये जा रहे प्रयासों में भारत ने सक्रिय और स्पष्ट समर्थन प्रदान किया।

15 दिसम्बर, 1972 को संयुक्त राष्ट्र महासभा के 27 वें अधिवेशन में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने प्रस्ताव रखा कि एशिया में शांति और सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए हिन्द महासागर को शांतिक्षेत्र बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है।[78]

उक्त प्रस्ताव के पक्ष में 95 मत प्राप्त हुए, विपक्ष में किसी ने मत नहीं दिया तथा 33 सदस्यों ने भाग नहीं लिया जिसमें चीन के अतिरिक्त 4 स्थायी सदस्य भी सम्मिलित थे।

इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के लिये संयुक्त राष्ट्र की एक तदर्थ समिति बनी, जिसके 15 सदस्य राष्ट्रो मे भारत भी सम्मिलित था। आगे चलकर इसके सदस्यों की संख्या मे वृद्धि की गई किन्तु इस दिशा मे यह समिति कोई प्रभावी भूमिका नही निभा सकी।

1974 मे नई दिल्ली मे 14 से 17 नवम्बर तक हिन्द महासागर की समस्या पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे आयोजित किया गया जिसमे 40 देशो के प्रतिनिधियो ने भाग लिया। सम्मेलन की मुख्य बात यह थी कि इसमे अमेरिका से आए एक गैर-सरकारी प्रतिनिधि मण्डल ने भी भाग लिया तथा सम्मेलन द्वारा हिन्द महासागर को शान्तिक्षेत्र एव आणुविक क्षेत्र घोषित करने के प्रस्तावो पर स्वीकृति के हस्ताक्षर भी किये।

सम्मेलन के उद्घाटन भाषण मे हिन्द महासागर समस्या के प्रति भारत की नीति स्पष्ट करते हुए प्रधानमत्री श्रीमती गांधी ने कहा कि "हिन्द महासागर मे महाशक्तियों का प्रभाव किसी रूप मे नही रहना चाहिए अन्यथा इन महाशक्तियो के इस क्षेत्र इन तटवर्ती देशों का विकास नही हो पायगा। भारत निरन्तर यह आग्रह करता आ रहा है कि हिन्द महासागर को शीतयुद्ध तथा महाशक्तियो की सैन्यस्पर्धा का केन्द्र नहीं बनाया जाए। हमारी इच्छा है कि हिन्द महासागर शांति तथा परस्पर सहयोग का क्षेत्र रहे। बाह्य शक्तियो के सैनिक अड्डो का निर्माण इन राष्ट्रो मे परस्पर तनाव विकसित करेगा इसलिये हम चाहते हैं कि यह शान्तिपूर्ण क्षेत्र बना रहे।"[79]

भारत के विदेशमत्री ने इस सम्मेलन मे हिन्द महासागर के प्रति भारतीय नीति स्पष्ट करते हुए कहा था "हिन्द महासागर के प्रति भारतीय नीति उसकी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और असंलग्नता की नीति का तार्किक और सहज परिणाम है। इसलिये भारत निरन्तर कई वर्षो से हिन्द महासागर को शान्तिक्षेत्र घोषित करने तथा इस महाशक्तियो की प्रतिस्पर्धा तथा सैन्य गतिविधियो से मुक्त रखने के लिये पूरी शक्ति के साथ प्रयत्न करता रहा है। हमने कई बार अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा है कि एक महाशक्ति द्वारा बड़े पैमाने पर नाभिकीय शक्ति का विस्तार दूसरी महाशक्ति को भी आकर्षित करेगा जो अन्ततः तटवर्ती राष्ट्रो की तनाव वृद्धि तथा समस्याए बढाने का ही कारण बनेगा।"[80]

विदेशमत्री का मत था कि

"भारत वर्ष इस स्थिति से विशेषत चिन्तित है क्योकि उसका चार हजार मील लम्बा तटप्रदेश हिन्द महासागर से लगा हुआ है। उसके अधिकांश व्यापारिक जहाजों को इसी क्षेत्र से गुजरना पड़ता है। यह उल्लेखनीय है कि विगत दो-तीन वर्षो से हिन्द महासागर को शान्तिमय क्षेत्र बनाये रखने की मांग जोर पकड़ रही है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है मै एक बार फिर सभी सबंधित देशो से अनुरोध करना चाहूँगा कि हिन्द महासागर क्षेत्र को सुरक्षित और शांतिपूर्ण बनाये रखने मे

सहयोग प्रदान करें।"[81]

इस तरह भारत हिन्द महासागर को शांतिक्षेत्र बनाने के पक्ष में प्रयत्नशील रहा है। श्रीमती गांधी ने देश तथा विदेश में विभिन्न मंचों पर अपने सम्बोधनों में तथा विश्व के नेताओं से हुई व्यक्तिगत बातचीत में सदैव ही इस मांग को उठाया है।[82]

भारत के प्रयासों से संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1978 में एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें अमेरिका व सोवियत संघ से आग्रह किया गया कि वे 16 दिसम्बर 1971 के महासभा के प्रस्ताव पर आपस में बातचीत करें। यह प्रस्ताव असाधारण बहुमत से स्वीकार किया गया। प्रस्ताव के पक्ष में 130 मत मिले 14 अनुपस्थित रहे विपक्ष में एक भी मत नहीं मिला। उल्लेखनीय है कि प्रस्ताव का सोवियत संघ ने भी समर्थन किया इसके बाद भी निरन्तर यह आग्रह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किया गया। इसके बाद भी 4 मार्च, 1982 को अमेरिका ने स्पष्ट रूप से कहा कि वह दिसम्बर 1971 के संयुक्त राष्ट्र महासभा के उस प्रस्ताव का पालन नहीं करेगा जिसमें हिन्द महासागर को शांतिक्षेत्र घोषित करने की बात कही गई थी।[83]

ऐसी स्थिति में भारत को अपने राष्ट्रीय हित तथा सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हुए हिन्द महासागर के प्रति अपनी नीति को यथार्थ वादी आधार पर ही विकसित करना होगा।

(7) कोलम्बो सम्मेलन में भारतीय भूमिका

1970 तथा 1973 के गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के तीसरे और चौथे सम्मेलन की भव्य सफलताओं के बाद मुख्य रूप से पश्चिमी देशों में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन बढ़ते हुए प्रभाव के प्रति सतर्कता विकसित होने लगी थी। इन सम्मेलनों के बाद से एशिया अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका के अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के मध्य विकसित होती हुई परस्पर समझ, मैत्री और संघर्ष भावना से पश्चिम को तरह-तरह की आशंकाएं जन्म ले रही थी, मुख्य रूप से इसलिये भी कि इन सम्मेलनों में हिन्द महासागर के प्रश्न पर पश्चिम एशिया एवं हिन्दचीन की समस्या के प्रति, दक्षिण अफ्रीका के रंगभेद तथा निःशस्त्रीकरण आदि समस्याओं पर सम्पूर्ण शक्ति एवं आक्रोश के साथ अपने प्रस्ताव पारित किये थे। तथा इन प्रस्तावों की प्रतिध्वनि संयुक्त राष्ट्र महासभा के अधिवेशनों में भी सुनाई देने लगी। इसमें मुख्य रूप से अमेरिका विरोधी भावनाएं इन सम्मेलनों में व्यक्त हुई। यद्यपि कुछ प्रश्नों पर सोवियत विरोध भी इन सम्मेलनों में हुआ किन्तु सोवियत संघ की सहानुभूति व समर्थन गुट-निरपेक्ष देशों के साथ रहा है। इसलिये भी सोवियत संघ के प्रति इन देशों की नाराजी उतनी मुखर नहीं रही।

1976 में 16 से 20 अगस्त तक श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का पांचवा सम्मेलन आयोजित हुआ। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्य राष्ट्रों की संख्या 96 तक पहुंच गई। इसके अतिरिक्त प्रेक्षक व अतिथि भी इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए।[84]

जैसा कि मैंने अभी कहा है कि पश्चिमी राष्ट्रों का इस सम्मेलन में इसलिये रुचि थी कि वे इसे सफल और संगठित नहीं देखना चाहते थे।

सम्मेलन प्रारम्भ होने से पूर्व ही एक साक्षात्कार में भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी ने स्पष्ट रूप से कहा कि -- "असंलग्न राष्ट्रों के लिये सबसे बड़ी चुनौती इस आन्दोलन को कमजोर तथा विभाजित करने के प्रयासों को असफल करने में है। चूंकि अधिकांश गुट-निरपेक्ष राष्ट्र विकासशील हैं इसलिये उन पर कई तरह से भारी दबाव है। मैं नहीं जानती इनमें से कितने राष्ट्र उन दबावों के सामने रह सकते है।"[85]

इस सम्मेलन में भारत ने बहुत प्रभावशाली भूमिका निभाई। श्रीमती गाधी ने आन्दोलन को नयी दिशाएं प्रदान करते हुए इसे एक आर्थिक आन्दोलन का रूप भी दिया।

सम्मेलन से पूर्व ही श्रीमती गाधी ने कहा था कि -- "चूंकि हमने पुरानी विश्व अर्थ व्यवस्था में कष्ट उठाए है इसलिये स्वाभाविक रूप से हम नई विश्व अर्थ व्यवस्था के पक्षधर हैं। इसका आशय है कि राष्ट्रों के मध्य अपेक्षया अधिक समानता होना चाहिए। पूर्ण समानता तो कभी स्थापित नहीं हो सकती किन्तु एक हद तक वर्तमान खतरनाक असन्तुलन को तो ठीक किया जा सकता है।"[86]

श्रीमती गाधी ने कहा था कि, हम बेहतर व्यापार सुविधाएं चाहते है, हम हमारे कच्चे माल की अधिक कीमत चाहते हैं, इसी तरह की हमारी अन्य माँगे है किन्तु विकसित राष्ट्रों का उत्तर इस सन्दर्भ में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर बहुत उत्साहवर्धक नहीं रहा है।"[87]

सम्मेलन प्रारम्भ होने पर उसके खुले सत्र की प्रथम वक्ता के रूप में भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अत्यन्त प्रभावशाली भाषण दिया जिसमें उन्होंने असंलग्नता की सामयिक उपादेयता, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं, महाशक्तियों के तनाव-शैथिल्य, नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था, नई अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी व्यवस्था, असंलग्न राष्ट्रों की समाचार सेवा आदि महत्वपूर्ण विषयों पर अपने विचार रखे।

श्रीमती गाँधी ने, नई विश्व अर्थ व्यवस्था जैसे सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये असंलग्न राष्ट्रों की एकता को अनिवार्य शर्त बतलाया तथा गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों से बाह्य शक्तियों द्वारा आन्दोलन को तोड़ने के प्रयत्नों के प्रति सजग रहने का आह्वान किया।[88]

असंलग्न राष्ट्रों की एकता की महत्ता स्थापित करते हुए श्रीमती गाधी ने कहा कि "अपने राजनीतिक एवं आर्थिक आधारों के लिये असंलग्न राष्ट्रों में अपेक्षया अधिक

प्रभावी क्षमता है। हमारे आन्दोलन की उपयोगिता तभी होगी जब हमसे एकता होगी। संगठित गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का विश्वशांति की स्थापना एवं विश्व के करोड़ो गरीबों के लिये एक नई विश्व अर्थ व्यवस्था की प्राप्ति में प्रभावी योगदान होगा"।[89]

श्रीमती गांधी ने कहा कि हमारे आन्दोलन की सफलताओं ने बाहय शक्तियों को व्यग्र बना रखा है उनका मत था कि

"हमारे गुटनिर्पेक्ष आन्दोलन की सफलता का मूल्यांकन इसी बात से कर लेना चाहिए कि इस के भय से आतंकित लोग इसमें तोड़ फोड़ कर इसे कमजोर बनाने में लगे हैं और इसके राजनीतिक प्रभाव को खत्म कर देना चाहते हैं और हमारे रचनात्मक कार्यो को भी नुकसान पहुँचाना चाहते हैं। हाल ही के कुछ महीनों में गुटनिर्पेक्ष देशो के समूह तथा अलग-अलग देशो पर तरह-तरह के दबाव डाले जा रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय विचार गोष्ठियों में गुट निर्पेक्ष आंदोलन की तीखी आलोचना भी की गयी है। स्थापित देशो को अस्थिर और यहाँ तक कि नष्ट कर देने का भी प्रयास किया गया है।"[90]

इस प्रकार श्रीमती गांधी ने अपनी प्रभावी भूमिका निभाते हुए सदस्य राष्ट्रो से अनुरोध किया कि अपने मतभेदों को वे परस्पर बातचीत से हल करें। यदि मतभेदों को आन्दोलन पर हावी होने दिया तो आन्दोलन कमजोर पड़ जाएगा और विदेशी शक्तियों को ही हमारी कमजोरियों का लाभ मिलेगा।

बंगलादेश के राष्ट्रपति इर्शद ने भारत विरोधी भावना फैलाते हुए इस सम्मेलन में गंगा नदी जल-विवाद को इस मंच पर उठाने की कोशिश की। इन प्रयासों को सफलता नहीं मिली, भारत के प्रवक्ता ने बंगलादेश के आरोपों का खण्डन किया।[91]

श्रीमती गांधी ने पूर्व में ही चेतावनी दी थी कि सम्मेलन में द्विपक्षीय विवाद उठाने से सम्मेलन अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो पायेगा।[92]

सम्मेलन की राजनीतिक समिति में भी बंगलादेश के प्रतिनिधि ने यह विवाद उठाया तो भारत के प्रवक्ता विनय वर्मा ने इस आरोप को निराधार बतलाते हुए खेद व्यक्त किया कि, बंगलादेश ने उन विवादों को उठाया है जिन पर दोनों देशों के प्रतिनिधि मण्डलों के बीच वार्ताएं चल रही हैं। सम्मेलन में मंच पर जहां अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की तथा सभी देशों के हितों से जुड़ी समस्याओं पर चर्चा हो रही है इस विवाद को उठाना कोई औचित्य नहीं रखता।[93]

श्री वर्मा ने कहा कि -- भारत बंगलादेश से मैत्री और सहयोगपूर्ण सम्बन्धों का इच्छुक है तथा द्विपक्षीय समस्याओं को वार्ता तथा परस्पर समझ के आधार पर सुलझाने के लिये प्रतिबद्ध है।[94]

अन्तत बगलादेश के प्रयासो को सम्मेलन म कोई महत्व नही मिला। इसके विपरीत भारत की पड़ोसी दशा के प्रति नीतियो की सम्मलन म प्रशसा की गई।[95]

श्रीमती गाधी न अपनी भूमिका से सम्मेलन का असफल बनाने क प्रयासों को असफल बनाया। प्रधानमत्री ने अनुभव किया कि सम्मलन के राष्ट्रो मे अपेक्षाकृत अधिक एकता और सद्भाव विकसित हुआ है। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि कोलम्बो सम्मेलन से गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो म आर्थिक क्षेत्र में परस्पर सहयोग की भावना तेजी से विकसित होगी तथा व अपनी समस्याओ के हल क लिये विकसित राष्ट्रो के विरुद्ध सघर्ष के स्थान पर सयुक्त कार्यवाही से दबाव डाल सकेगे।[96]

सम्मेलन की अवधि म ही श्रीमती गाधी ने 46 राष्ट्रो के अध्यक्षो से अनौपचारिक चर्चाए की। वे बाग्लादेश के राष्ट्रपति सईम से भी मिली।[97]

सम्मेलन की सफलतापूर्वक सम्पन्नता पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रभावशाली नेता के रूप मे अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए श्रीमती गाधी ने कहा -- पाचवे सम्मेलन म आन्दोलन को कमजोर बनाने तथा विभाजित करने के समस्त प्रयासो को हमने असफल करते हुए उनका प्रतिरोध करन म सफलता प्राप्त की है।[98] जहा तक सम्मेलन मे उठे कुछ मतभेद एव विवादों का प्रश्न है श्रीमती गाधी ने कहा कि य विवाद अस्वाभाविक नहीं है, इतने विशाल राष्ट्र समूह मे थोड़े बहुत मतभेद या विवाद होंगे ही, मुख्य रूप से द्विपक्षीय विवाद। किन्तु सम्मेलन पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।[99] सम्मेलन सफल रहा। सम्मेलन की सफलता ने पश्चिमी देशो को हतप्रभ कर दिया। उनके सारे पूर्वानुमान गलत सिद्ध हुए साथ ही प्रयास भी व्यर्थ गए जो सम्मेलन की असफलता हेतु किये गए थे।

पाचवे गुट-निरपेक्ष सम्मेलन न पश्चिमी दशो को परेशान-सा कर दिया। जब सम्मेलन प्रारम्भ हुआ था तो पश्चिमी दश उसे सन्देह एव तिरस्कार की दृष्टि से देख रहे थे लेकिन सम्मेलन के अन्त मे जारी किये गए राजनीतिक और आर्थिक घोषणा-पत्रों ने पश्चिमी नेताओ को मुख्य रूप स नई विश्व अर्थ व्यवस्था क सन्दर्भ मे अपने दृष्टिकोण को बदलने के लिये बाध्य किया है।[100]

अपने सचार माध्यमो द्वारा भेजी हुई सूचनाओ के आधार पर पश्चिमी प्रेक्षक यह विश्वास कर रहे थे कि सम्मेलन कमजोर, असफल और प्रभावहीन होगा। इसका कारण उन देशों के आन्तरिक मतभेद रहेगे। लेकिन सम्मेलन के अन्त में जारी घोषणा-पत्र से उन राष्ट्रों की दृढता स्पष्ट होती है जो परस्पर सहयोग तथा अपनी समस्याओं के लिये पश्चिम से टकराव की और भी उन्हें ले जा सकती है।[101]

यह असदिग्ध रूप स सही है कि सम्मेलन की इस सफलता में भारतीय भूमिका का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान था। मुख्य रूप से आर्थिक घोषणा-पत्र के सन्दर्भ मे श्रीमती गाधी के विचारों को महत्व प्रदान किया गया।

(8) एशियाई सामूहिक सुरक्षा योजना व भारत

यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य सुरक्षा योजना पर सहमति के बाद तथा हिन्द महासागर में अमेरिकी विस्तार की प्रतिक्रिया के रूप में एशिया के समस्त राष्ट्र मुख्य रूप से हिन्द महासागर के तटवर्ती तथा पृष्ठ-प्रदेशीय राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिये परेशान होने लगे तो एशिया के सर्वाधिक निकट तथा एशिया में अपने हितों की चिन्ता से ग्रस्त महाशक्ति सोवियत संघ ने भी इस दिशा में सक्रिय चिन्तन प्रारम्भ किया। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में स्वीकार की गई शान्तिपूर्ण सुरक्षा योजनाओं का आधार बनाते हुए सोवियत संघ के साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष ब्रजनेव ने अपनी एक योजना 1969 में प्रस्तुत की। जिसे उन्होंने 'एशियाई सामूहिक सुरक्षा योजना' का नाम दिया। इसके बाद सोवियत नेता निरन्तर अपनी इस योजना के बारे में छुटपुट रूप से विचार व्यक्त करते रहे।

ब्रेजनेव ने अपने एक वक्तव्य में कहा कि

'हमारा दृष्टिकोण अनिवार्य रूप से सभी राष्ट्रों के लिये यह है कि हम प्रत्येक देश एक-दूसरे की सम्प्रभुता और स्वतन्त्रता का सम्मान करते हुए एक-दूसरे के विरुद्ध किसी भी किस्म की सैनिक कार्यवाही नहीं करें। हमें केवल शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के आधार पर ही अपने सम्बन्ध स्थापित नहीं करना है वरन् सर्वांगीण क्षेत्रों में सहयोग की नीति भी विकसित करना है। हम यह आग्रह एशिया के उन सभी देशों तथा जनता से करते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के पुनर्निर्माण में अपना महान योगदान देना चाहते हैं।[102]

इस योजना के स्वरूप को सोवियत संघ के अधिकृत पत्रों में व्याख्या की गई। एक लेख में इजवेस्तिया में लिखा गया कि महत्वपूर्ण योजना है क्योंकि

"सोवियत संघ योरोपीय शक्ति के साथ-साथ एशियाई शक्ति होने के नाते एशिया के क्षेत्र के हर देश की जनता की शान्ति और सद्भावना से रहने में अभिरुचि रखता है। हम यह अनुभव करते हैं कि एशियाई देशों को स्वयं अपनी सुरक्षा प्रणाली स्थापित करनी चाहिए जिसका कार्य इन देशों की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा करना होगा।"[103]

प्रावदा ने अपने सम्पादकीय में योजना के महत्व को रेखांकित करते हुए लिखा था सोवियत संघ के एशिया में सामूहिक सुरक्षा योजना के प्रभावी एवं ठोस प्रस्ताव की विश्वभर में बड़े पैमाने पर अनुकूल प्रतिक्रिया हुई है।[104]

ब्रेजनेव ने एक विस्तृत वक्तव्य मे पुन अपनी योजना को दोहराते हुए कहा था

"यह एक प्रकार का एशियाई देशों और जनता के बीच शान्तिपूर्ण पड़ौसी रिश्तो के विकास की आचार संहिता है। इसमे बल प्रयोग के परित्याग की भावना सम्मिलित ह, पारस्परिक सम्प्रभुता के प्रति आदर की भावना और सीमाओं की अलघनीयता आरोपित न होकर सहज स्वाभाविक है। इसमे आन्तरिक मामलो मे अहस्तक्षेप, व्यापक आर्थिक तथा आपसी सहयोग के अन्य विषयों को परस्पर लाभ की दृष्टि से समानता के आधार पर ही रखा गया है। सामूहिक सुरक्षा का बुनियादी सिद्धान्त भी बाद में सोवियत सघ द्वारा जोडा गया है जिसमे हर देश *अपनी सुविधा से लक्ष्य निर्णय का अधिकार रख सकेगा।"*[105]

इससे स्पष्ट है कि सिद्धान्त ब्रेजनेव सोवियत सघ को एशियाई शक्ति के रूप मे स्थापित करते हुए इस महाद्वीप के देशों के मध्य परस्पर मैत्रीपूर्ण तथा सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों के आधार पर सहयोगपूर्ण सम्बन्धों का इस योजना के माध्यम से विकसित करना चाहते थे, जिससे ये देश बाह्य खतरों का सगठित एकता से सामना कर सकें। सोवियत सघ यह भी स्थापित करना चाहता था कि वह एशियाई देशों की सुरक्षा मे अपना योगदान देने के लिये तत्पर है।

प्रारम्भ में तो भारत ने इसे एक अच्छी योजना निरूपित किया तथा इसके उद्देश्यों की प्रशसा की।

श्रीमती गाधी ने एक वक्तव्य में कहा था कि भारत, एशिया मे राजनीतिक *स्थिरता, स्थायी शान्ति एवं एशियाई देशो के तीव्र विकास का समर्थक है और इस उद्देश्य* की प्राप्ति एशियाई सामूहिक सुरक्षा योजना से ही हो सकती है।

भारत के विदेशमत्री स्वर्णसिंह ने इस योजना पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था -- "सामूहिक सुरक्षा का यह विचार सबके लिए हितकारी है क्योकि इस क्षेत्र के देश इससे यदि सतोषप्रद परिणाम पाने मे सफल होते हैं तो इस क्षेत्र मे लोगो के दिल मे सुरक्षा की भावना का विकास होगा।"[106]

"यह विचार मित्र राष्ट्र के नेताओ द्वारा व्यक्त किया गया है इसलिये इस विचार को मित्रता की दृष्टि से देखा जाना चाहिए इस के प्रति किसी प्रकार के भ्रम और सशय का अनुमान लगाना अनुचित है।"[107]

भारतीय मन्तव्य स्पष्ट करते हुए विदेशमत्री ने कहा कि

"मेरे विचार में देश की आजादी के बाद से हमने काफी परिपक्वता और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की उलझनों को समझने-बूझने की समझदारी आयी है, हमे देखना है कि एशिया के हित मे सर्वोपरि क्या है ? और हमें किसी भी कोने में उदित नये विचार की बारीकी से छानबीन करनी चाहिए।"[108]

इस तरह प्रारम्भ म भारत ने इस प्रस्ताव के सन्दर्भ मे समर्थन का दृष्टिकाण व्यक्त किया। किन्तु धीरे-धीरे इस प्रस्ताव के प्रति उदासीनता विकसित होती चली गई। 1973 की सोवियत सघ के नेता ब्रजनेव की भारत-यात्रा क समय भी इस प्रस्ताव को ठास रुप से क्रियान्वित करने के कोई प्रयास नही हुए।

सच तो यह है कि एशिया के विभिन्न राष्ट्रो मे इतने तीव्र मतभेद व्याप्त हैं तथा इन मतभेदों की पृष्ठभूमि मे इस या उस महाशक्ति की अप्रत्यक्ष भूमिका के कारण एशियाई देश इस तरह के किसी प्रस्ताव पर सरलता से सहमत नही हो सकते। इस सन्दर्भ मे 1973 मे श्रीमती गाधी ने दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों की यात्रा भी की किन्तु उन देशो की ओर से भी इस प्रस्ताव के प्रति किसी प्रकार से उत्साह नही दिखाया।

बाद के वर्षो मे भारत ने भी इस प्रस्ताव के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के बाद इसके प्रति जिज्ञासा न दिखाने की ही नीति अपनाई। भारत तो वैसे भी सोवियत सघ के साथ 20 वर्षीय शाति, मत्री और सहयोग की सधि पर हस्ताक्षर कर चुका था इसलिये भी इस सुरक्षा योजना की विशेष उपयोगिता नही थी।

भारत प्रारम्भ से ही गुट बनाने की राजनीति का विरोधी रहा है। इस योजना को स्वीकार करने का अर्थ अन्तत एक ऐसे गुट का निर्माण स्वीकार करना था जो युद्ध की *स्थितियों में सैन्य-गुट का रुप ले सकता हो।*

एशियाई देशों का बहुत बडा समूह इस प्रस्ताव के समर्थन म नही था इसलिये भारत इन सब राष्ट्रों से अलग हटकर यदि एशिया के सन्दर्भ मे कोई चिन्तन विकसित करता तो एशियाई देशों में भारत के प्रभाव पर विपरीत स्थितिया निर्मित होती।

कूटनीतिक चातुर्य का परिचय देते हुए भारत ने सोवियत सघ की एशियाई सामूहिक सुरक्षा योजना का विरोध किय बिना अस्वीकार कर दिया। प्रस्ताव के समर्थन का प्रचार सोवियत सघ की ओर से होता रहा।[109]

संदर्भ-सूची

1 टाइम्स ऑफ इडिया -- 16 मार्च, 71।
2 टाइम्स ऑफ इडिया -- 17 मार्च, 71। एवम् शर्मा, एस आर , इडियन फॉरेन पॉलिसी - 1972 पृष्ठ 204
3 टाइम्स ऑफ इडिया -- 20 मार्च, 1972।
4 टाइम्स ऑफ इडिया -- 20 मार्च, 1971।
5 - वही -
6 टाइम्स ऑफ इंडिया -- 20 मार्च, 1972।
7 टाइम्स ऑफ इडिया -- 20 मार्च,1972।

8 - वही -
9 मार्डन रिव्यू, वाल्यूम - 30, 6 अप्रैल, 1972, पृष्ठ 241।
10 इडियन एड फारेन रिव्यू, वाल्यूम - 9 नवम्बर 12, 1 अप्रैल 1972, पृष्ठ 5।
11 द टाइम्स ऑफ इडिया - 21 मार्च 1971।
12 द इडियन एक्सप्रेस - 1 जनवरी 1972।
13 अमृत बाजार पत्रिका -- 13 मार्च, 1972।
14 टाइम्स ऑफ इडिया -- 22 अप्रैल, 1972।
15 कुलदीप नैयर (इस्लामाबाद से), स्टेट्समैन -- 27 मार्च, 1972।
16 इडियन एक्सप्रेस -- 17 मार्च, 1972।
17 पीटर गिल्न, डेली टेलिग्राफ, लन्दन के लिए -- 7 अप्रैल, 72।
18 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 29 अप्रैल, 1972।
19 स्टेट्स मैन -- 13 अप्रैल, 1972।
20 स्टेट्स मैन -- 3 मई, 1972।
21 इडियन एक्सप्रेस -- 1 मई 1972।
22 टाइम्स (लदन) - 1 मई, 1972
23 हिन्दू -- 23 जून, 1972।
24 हिन्दुस्तान टाइम्स -- 29 जून, 1972।
25 शिमला से दिलीप मुखर्जी, टाइम्स ऑफ इडिया, 30 जून 1972।
26 टाइम्स ऑफ इडिया -- 3 जुलाई, 1972।
27 समझौते का मूल प्रारूप -- भार्गव, जी० एस०, सक्सेना और सरदार, द शिमला सम्मिट, 1972 के परिशिष्ट 1 का हिन्दी अनुवाद है।
28 इंदिरा गाधी - इडिया एण्ड दि वर्ल्ड, फारेन एफेयर्स, एन अमेरिकन क्वार्टरली रिव्यू, वाल्यूम 51 नवम्बर 1 अक्टूबर, 1972 न्यूयार्क यू एस ए पृष्ठ 71-72"
29 भनेजा बलवन्त पालिटिक्स आफ ट्रेंगिल, दि एलाइंमेंट पेन्टर्न आफ साउथ एशिया रिसर्च, नई दिल्ली 1973 पृष्ठ 176
30 फॉरेन अफेयर्स रेकार्ड जुलाई, 1972, पृष्ठ 194।
31 टाइम्स ऑफ इडिया -- 22 अगस्त, 1973।
32 - वही - 23 अगस्त, 1973।
33 स्टेट्समैन -- 29 अगस्त, 1973।
34 टाइम्स ऑफ इडिया -- 5 सितम्बर, 1973।
35 जयपाल, रिद्धी -- नॉन अलाइनमेन्ट, ओरिजिन्स, ग्रोथ एण्ड पोटेंशियल फार वर्ल्ड पीस, अलाइड, 1983, पृष्ठ 100।
36 टाइम्स ऑफ इडिया -- 6 सितम्बर, 1973।

37 घर, ए० एन० -- रिव्यूइंग ए फैथ -- इंडियन एक्सप्रेस 17 सितम्बर, 73।
38 फारेन अफेयर्स रेकार्ड अल्जीयर्स सम्मेलन म श्रीमती गांधी का भाषण सितम्बर, 1973, वाल्यूम - 19 न० - 10, पृष्ठ 329।
39 पेट्रियाट -- सम्पादकीय, 9 सितम्बर, 1973।
40 टाइम्स ऑफ इंडिया -- 7 सितम्बर 1973।
41 द टाइम्स ऑफ इंडिया 7 सितम्बर, 1973।
42 द स्टेट्समेन -- 7 सितम्बर, 1973।
43 द इंडियन एक्सप्रेस -- 8 सितम्बर, 1973।
44 द स्टेट्समेन -- 7 सितम्बर, 1973।
45 टाइम्स ऑफ इंडिया -- 6 सितम्बर, 1973।
46 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 19 मई, 1974।
47 द टाइम्स ऑफ इंडिया -- 19 मई, 1974।
48 लायन, पीटर - भारतीय बम शांतिपूर्ण कार्यों के लिये आणविक परीक्षण मिश्रा, के० पी० - भारत की विदेशनीति, मेकमिलन -- 1977, पृष्ठ 249 से उद्धृत।
49 के० सुब्रह्मण्यम् -- अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भारतीय अणु परीक्षण, उद्धृत - मिश्रा, के० पी० - भारत की विदेशनीति, पृष्ठ 222।
50 लायन, पीटर -- पूर्वोक्त, पृष्ठ 247।
51 कपूर, अशोक --- इंडिया एण्ड चाइना एंडवरसरीज और पोटेंशियल पार्टनर्स, वर्ल्ड टुडे (लन्दन) खण्ड - 30, न० - 3 मार्च, 1974 पृष्ठ, 130।
52 श्री सेन्स स्पीच एट यू एन पोलीटिकल कमेटी आन एडमीशन आफ पी आर सी फारेन एफेयर्स रिकार्ड वाल्यूम 27 न० 10 अक्टोबर, 1971 पृष्ठ 217
53 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 23 अक्टोबर, 1971।
54 सेन्स स्पीच एट यू एन जनरल एसेम्बली,वेलकमिंग पी आर सी टु यू एन, ऑन 15 नवम्बर 1971, फॉरेन अफेयर्स रेकार्ड भाग सत्रह, अंक 11, नवम्बर 1971।
55 - वही -
56 - वही -
57 सेन स्पीच पूर्वोक्त
58 कपूर, अशोक -- पूर्वोक्त, पृष्ठ 131।
59 द टाइम्स आफ इंडिया -- 12 फरवरी, 1975।
60 द स्टेट्समेन -- 23 फरवरी, 1975।
61 द टाइम्स ऑफ इंडिया -- 17 अप्रैल, 1975।
62 द इंडियन एक्सप्रेस -- 21 अक्टोबर, 1975।

63 फारेन एफेयर्स रिकार्ड, फारेन मिनिस्टर्स स्टेटमेंट इन लोक सभा आन अप्रैल 15, 1976 तथा दि हिन्दुस्तान टाइम्स, अप्रैल 16, 1976।
64 रिपोर्टस ऑफ द मिनिस्ट्री ऑफ एक्सटरनल्ल अफेयर्स, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नई दिल्ली 1976-77 पृष्ठ 24।
65 - वही -
66 मिश्रा, के० पी० -- भारत की विदेशनीति, मैकमिलन - 1977, पृष्ठ 339-340।
67 वीकली राउण्ड टेबिल -- 11 जून, 1972, पृष्ठ 10।
68 भंडारनायके, एस आर डी वीकली राउण्ड टेबिल, 11 जून 1972।
69 निक्सन, रिचर्ड, एम, एशिया ऑफ्टर वियतनाम, फॉरिन अफेयर्स भाग - 46, अंक 1, अक्टोबर 1967 पृष्ठ 164।
70 इन्टरनेशनल हेराल्ड ट्रिब्यून, पेरिस, जून 19, 1973।
71 कौशिक - देवेन्द्र - दि इंडियन ओशन - टुवर्डस ए पीस जोन, न्यू देहली, विकास 1972 पृष्ठ 185
72 स्टेट्समेन, जून 21, 1973।
73 द हिन्दुस्तान टाइम्स 13 नवम्बर 1973
74 वही, 12 फरवरी, 1973।
75 द पेट्रियाट -- 29 अप्रैल, 1973।
76 सुब्रमण्यम्, के० तथा आनन्द, टी० पी० -- इंडियन आशन एज एन एरिया आफ पीस, इंडिया क्वार्टरली, खण्ड - 27, अंक - 4, अक्टावर - दिसम्बर, 1971।
77 टाइम्स ऑफ इंडिया -- 17 दिसम्बर, 1971।
78 -वही- 16 दिसम्बर, 1972।
79 नेशनल हेराल्ड - 15 नवम्बर, 1974।
80 नव भारत टाइम्स -- 15 नवम्बर, 1974।
81 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 15 नवम्बर, 1974।
82 गुप्ता, सिसिर -- द ग्रेट पावर एण्ड द इंडियन सबकान्टिनेन्ट - ए न्यू फेज, आई० डी० एस० ए० जर्नल, अप्रैल, 1972, पृष्ठ 463।
83 न्यूयार्क टाइम्स -- 5 मार्च, 1982।
84 टाइम्स आफ इंडिया -- 21 अगस्त, 1976।
85 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 15 अगस्त, 1976।
86 -वही-
87 -वही-
88 द इण्डियन एक्सप्रेस, 18 अगस्त 1976।
89 -वही-

90 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 18 अगस्त, 1976।

91 *द टाइम्स आफ इंडिया -- 19 अगस्त, 1976।*

92 -वही- 18 अगस्त, 1976।

93 द टाइम्स आफ इंडिया -- 17 अगस्त, 1976।

94 -वही-

95 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 19 अगस्त, 1976।

96 -वही- 20 अगस्त, 1976।

97 द इंडियन एक्सप्रेस -- 20 अगस्त, 1976।

98 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 23 अगस्त, 1976।

99 -वही-

100 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 23 अगस्त, 1976।

101 -वही-

102 *टाइम्स आफ इंडिया -- 1 अगस्त, 1969।*

103 व्लादीमिर कुद्र यॉक्सेव, इज्वेस्तिया, जुलाई 23 1969।

104 प्रावदा, 28 अगस्त, 1969।

105 "ब्रेजनेव, एल आन कलेक्टिव सिक्यूरिटी, कोटेड फ्राम सेरगेव - ए - प्राब्लम आफ कलेक्टिव सिक्यूरिटी इन एशिया, इण्टरनेशनल, एफयर्स मास्को अगस्त 1975 पृष्ठ 231"

106 फारेन अफेयर्स रेकार्ड, मार्च, 3, 1972 भाग अठारह पृष्ठ 101

107 लोकसभा में भारतीय विदेशमंत्री का एशियाई सामूहिक सुरक्षा योजना पर भाषण दि हिन्दुस्तान टाइम्स 22 दिसम्बर 1973।

108 द टाइम्स ऑफ इंडिया, 22 दिसम्बर 1973।

109 एशियन रिकार्डर -- 2-8 दिसम्बर, 1972, पृष्ठ 11124।

अध्याय - 5

जनता-सरकार की विदेशनीति

सही असंलग्नता का विचार

पड़ौसी देशों से सम्बन्धों को प्राथमिकता

जनता-सरकार और महाशक्तियां

(1) भारत और सोवियत संघ

(2) भारत और अमेरिका

जनता सरकार की विदेशनीति

किसी भी राष्ट्र की विदेशनीति उस राष्ट्र के भौतिक साधनों, मनोवैज्ञानिक प्रभावों एवं बाह्य वातावरण के इन पर पड़ने वाले प्रभावों का सम्मिश्रण होती है। चूंकि ये तत्व न्यूनाधिक रूप में स्थिर रहते हैं इसलिये वे विदेशनीति को निरन्तरता प्रदान करते रहते हैं। यही कारण है कि प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों में उसकी राजनीतिक व्यवस्था के परिदृश्य पर दोनों अतियों के राजनीतिक दलों के सत्तारूढ़ होने की स्थिति में भी विदेशनीति के क्षेत्र में कोई मौलिक या क्रान्तिकारी परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता। अतः विदेशनीति पर आन्तरिक तथा बाह्य वातावरण में सीमाएं निर्धारित कर देता है, जो सामान्य राजनैतिक परिवर्तन की स्थिति में अप्रभावित रहती है। इन सीमाओं को तोड़ने का प्रयास राजनीतिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिये खतरनाक हो सकता है। अतः कोई भी सत्ताधारी दल, चाहे वह पूर्व सरकार की विदेशनीति का कितना ही प्रबल आलोचक क्यों न रहा हो, सत्ता में आने पर उस विदेशनीति में आमूलचूल परिवर्तन का दुस्साहस नहीं कर सकता। यह एक राजनीतिक यथार्थ है। यह बात अलग है कि राजनीतिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन या किसी क्रान्तिकारी विचारधारा के आधार पर होने वाले सत्ता परिवर्तन (जैसे रूस में 1917 तथा चीन में 1949 की साम्यवादी क्रान्तियाँ) का विदेशनीति पर भी व्यापक प्रभाव पड़ता है एवं विदेशनीति के विद्यार्थी के लिये उसमें निरन्तरता ढूँढ़ना सम्भव नहीं हो पाता।

इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि सत्ता-परिवर्तन के प्रभाव से विदेशनीति कतई अछूती रही है। परिस्थितियों द्वारा निर्धारित सीमाओं में रहते हुए नया सत्तारूढ़ दल अथवा विदेशनीति सम्बन्धी निर्णय लेने वाले व्यक्तियों द्वारा विदेशनीति के सिद्धान्तों में से ही कुछ पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है जिन्हें पूर्व सरकार ने महत्वपूर्ण न माना हो। अतः विदेशनीति के शोधकर्ता को इस तथ्य का भी ध्यान रखना चाहिए।

उल्लेखनीय है कि भारत की केन्द्रीय सरकार में स्वतन्त्रता के बाद पहला परिवर्तन मार्च, 1977 में हुआ जब स्वतन्त्रता के पूर्व से ही चला आ रहा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का केन्द्र सरकार से नियन्त्रण समाप्त हुआ और जनता दल की सरकार ने सत्ता संभाली। यहां इस परिवर्तन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करना तर्कसम्मत एवं समीचीन होगा।

1977 के पूर्व 1971 में हुए लोकसभा चुनावों में केन्द्र में श्रीमती गांधी की सरकार बनी थी। इस सरकार को दो-तिहाई बहुमत प्राप्त था। केन्द्र की अतिरिक्त प्रान्तों में भी लगभग सभी जगह कांग्रेस सरकारें सत्ता में आई थीं। इस तरह कांग्रेस का देशभर पर असाधारण नियन्त्रण था। 1971 में विदेशनीति के क्षेत्र में श्रीमती गांधी को प्राप्त उपलब्धियों ने उन्हें लोकप्रियता के चरम स्थान पर आसीन कर दिया था किन्तु धीरे-धीरे भारतीय

जनता इन उपलब्धियों को भूलती चली गई और 1974-75 तक आते-आते देश में बढ़ती हुई महगाई, बेरोजगारी, राजनीतिक भ्रष्टाचार आदि के विरुद्ध तीव्र असन्तोष विकसित होता चला गया।

यह असन्तोष सर्वप्रथम गुजरात में छात्रों के आन्दोलन से प्रारम्भ हुआ और फिर यह छात्र-आन्दोलन बिहार में फैल गया। इन आन्दोलनों में भ्रष्ट राजनेताओं को अपना निशाना बनाते हुए व्याप्त समस्याओं के हल के लिए अपने सकल्प घोषित किये। यह आन्दोलन दल-बदल के भी विरुद्ध था तथा चुने हुए प्रतिनिधियों को वापस बुलवाने के जनता के अधिकार की माग भी इसमें सम्मिलित थी। गुजरात से बिहार तक पहुँचने वाले इस गैर-भारतीय साम्यवादी सर्वदलीय छात्र-आन्दोलन का जब सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण ने अपना वयोवृद्ध एव अनुभवी नेतृत्व देना स्वीकार कर लिया तो इस आन्दोलन ने व्यापक स्वरूप ग्रहण कर लिया। इस छात्र-आन्दोलन के पृष्ठ में विपक्षी दलों ने भी जयप्रकाश नारायण का नेतृत्व स्वीकारते हुए बिहार आन्दोलन को राष्ट्र व्यापी आन्दोलन का रूप दे दिया।

इसी बीच रायबरेली निर्वाचन क्षेत्र में श्रीमती गाधी की विजय के विरुद्ध राजनारायण ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में जो याचिका प्रस्तुत की थी उसका फैसला देते हुए 12 जून 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने श्रीमती गाधी का चुनाव अवैध घोषित करते हुए 6 वर्ष के लिए चुनाव लड़ने की पात्रता निरस्त कर दी।

न्यायपालिका का यह निर्णय न केवल देश के लिए वरन विश्वभर के लिए अप्रत्याशित तथा सनसनीखेज था। इस निर्णय के बाद श्रीमती गाधी का प्रधानमत्री पद से त्यागपत्र देने तथा न देने के पक्ष में देशभर से माग की जाने लगी। जहा श्रीमती गाधी के समर्थकों ने प्रदर्शन तथा रैलिया आयोजित कर यह माग की कि उन्हे प्रधानमत्री बने रहना चाहिए। तथा जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में विपक्षी दलों ने तत्काल त्यागपत्र की माग की। इस पर भी श्रीमती गाधी ने जब त्यागपत्र नहीं दिया तो विपक्ष ने ससद के घेराव की घोषणा की। वैसे भी ज पी आन्दोलन ने राष्ट्र-व्यापी स्तर पर समस्त गैर-साम्यवादी विपक्षी दलों को एक मच पर ला दिया था तथा ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तेजी से चल रही थी। आन्दोलन का जनाधार भी निरन्तर व्यापक होता चला जा रहा था। श्रीमती गाधी के त्यागपत्र न देने के निर्णय से इस आन्दोलन की शक्ति में तेजी से वृद्धि हुई। और अचानक 26 जून 1975 को देश में (कथित) आन्तरिक सकट से उत्पन्न स्थितियों का सामना करने के लिए आपातकाल की घोषणा कर दी।

इस घोषणा के लागू होते ही देश के सभी प्रमुख विपक्षी नेता जेलों में बन्द कर दिये गए, जिनमें जयप्रकाश नारायण भी सम्मिलित थे। इसी क्रम में राष्ट्रीय स्तर पर विपक्ष के नेताओं और कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी का दौर तेजी से चलाया गया। कठोर प्रेस सेन्सरशिप की घोषणा कर दी गई। आन्तरिक सुरक्षा कानून और भारत रक्षा कानून का

अंधाधुंध प्रयोग किया गया। इस आपातकाल की विश्वभर के लोकतांत्रिक राष्ट्रों में तीव्र आलोचना की गई थी। इस स्वतंत्रता के बाद का "काला-अध्याय" निरूपित किया गया। आपातकाल में श्रीमती गांधी की सरकार ने मनचाहे संवैधानिक संशोधन किये। यद्यपि उच्चतम न्यायालय ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय का निर्णय निरस्त कर दिया था, फिर भी भारी-भरकम संविधान संशोधनों से संविधान की आत्मा को नष्ट करने के प्रयत्न किये गए।

इस सब की प्रतिक्रिया स्वरूप तथा सम्पूर्ण गैर-साम्यवादी विपक्ष के नेता जेलों में बंद होने के कटु अनुभवों ने जयप्रकाश के नेतृत्व में विपक्षी दलों में निकटता स्थापित हुई तथा श्रीमती गांधी की सरकार का विकल्प देने के लिये एक नये दल के गठन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसमें लोकदल, संगठन कांग्रेस, भारतीय जनसंघ, समाजवादी दल तथा युवातुर्कों के नाम से विख्यात विद्रोही कांग्रेस जन सम्मिलित हुए। इसी बीच श्रीमती गांधी ने जब चुनावों की घोषणा जनवरी 1977 में की तो दल नये निर्माण की यह प्रक्रिया एकदम तेज हो गई। उधर लोकतांत्रिक कांग्रेस के नाम से नया दल बनाते हुए आपातकाल में श्रीमती गांधी के साथ रहने वाले जगजीवन राम, बहुगुणा तथा नंदनी सतपथी आदि नेताओं ने कांग्रेस छोड़ने की घोषणा की। आगे चलकर बनी जनता पार्टी में यह दल भी विलीन हो गया। इस तरह इन गैर-साम्यवादी विपक्षी दलों ने अपने पूर्व दलों का अस्तित्व समाप्त करने की घोषणा करते हुए जयप्रकाश के आशीर्वाद से बनी जनता पार्टी में अपने को विलीन कर दिया।

उल्लेखनीय है कि इन सभी दलों में आन्तरिक तथा विदेशनीति के प्रश्नों पर व्यापक मतभेद व दृष्टिकोणों की भिन्नता स्वतंत्रता के बाद से ही लगातार बनी हुई थी। किन्तु विपरीत परिस्थितियों ने इन्हें नजदीक ला दिया। तथा एक गांधीवादी समाजवादी लोकतांत्रिक कार्यक्रम की रूपरेखा पर ये सब दल सहमत हुए तथा इसी आधार पर चुनाव घोषणापत्र भी जारी किया गया, जिसमें विभिन्न घटकों से मिलकर बने इस नये राष्ट्रीय दल ने विदेशनीति के प्रति भी अपनी दृष्टि को स्पष्ट किया गया। जनता पार्टी के चुनाव घोषणापत्र में भारत की भावी विदेशनीति को स्पष्ट करते हुए कहा गया था कि

"जनता पार्टी की विदेश नीति द्वारा राष्ट्र के ज्ञानोदय की प्रवृत्ति की झलक रहेगी। यह किसी भी प्रकार के उपनिवेशवाद को स्वीकार न करेगी। यह उपनिवेशवाद नवउपनिवेशवाद तथा प्रजातिभेद के सभी रूपों का भी विरोध करेगी। यह वास्तविक गुटनिरपेक्षता पर दृढ़ रहेगी, यह किसी भी महाशक्ति के गुट में न शामिल होने का निर्णय लेगी। यह सभी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का हल शान्तिपूर्ण समझौते द्वारा करेगी और अन्य गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के साथ नवीन और उचित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति में सहयोग करेगी।"[1]

इस तरह जनता पार्टी ने अपने चुनाव घोषणापत्र में भारत की विदेशनीति को राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु संचालित करने का संकल्प व्यक्त किया। उपनिवेशवाद नव-उपनिवेशवाद तथा प्रजातिभेद के सभी रूपों के प्रति विरोध को भी अपने उद्देश्यों में सम्मिलित करते हुए पूर्व सरकार की इस सन्दर्भ में अपनाई गई नीति को ही अपनाया। किन्तु असंलग्नता की नीति को और अधिक वास्तविक रूप में अपनाने का आग्रह व्यक्त किया। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण हल तथा तीसरी दुनिया के देशों के साथ मिलकर व नई न्यायपूर्ण विश्व अर्थ व्यवस्था के निर्माण हेतु प्रयास करने की बात भी कही गई।

अन्तत मार्च 1977 में जनता पार्टी ऐतिहासिक सफलता के साथ चुनाव में विजयी होने के बाद केन्द्र में सत्तारूढ़ हुई। यह वर्ष भारत की स्वतन्त्रता के बाद का एक ऐतिहासिक युगान्तरकारी वर्ष था। एक शान्तिपूर्ण लोकतान्त्रिक क्रान्ति के माध्यम से सत्ताधारी राजनीतिक दल द्वारा विरोधी पक्ष को सहज रूप से सत्ता के हस्तान्तरण को स्वतन्त्रता प्रेमियों ने सर्वत्र प्रशंसा की।[2]

यद्यपि इन निर्वाचनों में विदेशनीति विवाद का विषय नहीं थी। वरन भी विभिन्न विरोधी घटकों से मिलकर बनी हुई पार्टी में आम सहमति के आधार पर विदेशनीति संचालित होना ही थी इसीलिये नई सरकार के गठन के बाद के महीनों में अनेक अवसरों पर भारत की विदेशनीति की निरन्तरता की बहुत स्पष्ट शब्दों में पुष्टि की गई।[3]

लेकिन प्राथमिकताओं पर बल देने की दृष्टि से तो विदेशनीति पर प्रभाव पड़ा ही।

उदाहरणार्थ यह स्वीकार किया गया कि तनाव को कम करने और सद्भाव तथा विश्वास का एक सामान्य वातावरण तैयार करने के लिये निकट पड़ोसियों के साथ अपने सम्बन्धों पर अधिक ध्यान देने और इनकी परिधि का विस्तार करने की आवश्यकता है। विश्व समुदाय में भारत कोई प्रभावशाली भूमिका तभी अदा कर सकता है जबकि पड़ोसी देशों से उसके सम्बन्ध शान्तिपूर्ण मैत्रीपूर्ण और लाभप्रद हों। स्पष्ट और वास्तविक गुटनिरपेक्षता की नीति का अनुसरण करते हुए अपने निर्णय की स्वतन्त्रता को अभिव्यक्त करके भारत को सम्मान प्राप्त हुआ।

हम पूर्व में कह चुके हैं कि प्रजातान्त्रिक राजनैतिक व्यवस्थाओं में सत्ता परिवर्तन का विदेशनीति निर्धारण पर कोई क्रान्तिकारी प्रभाव नहीं पड़ता। जनता सरकार ने यदि पड़ोसी देशों पर विशेष बल देने की विदेशनीति पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया था तो इसमें भी कोई नवीनता नहीं थी। शास्त्री ने 1965 में मुख्य जोर इसी बिन्दु पर दिया था साथ ही 1972 में श्रीमती गांधी ने भी द्विपक्षवाद के आधार पर ही मैत्री सम्बन्धों को स्थापित करने के प्रयास किये थे। इसी तरह शेष मुद्दों पर भी विदेशनीति के नैरन्तर्य को सिद्धान्त और व्यवहार को जनता सरकार के युग में स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

हाँ, सिद्धान्त के स्तर पर जिसे हम नवीनता कह सकते हैं वह था 'सही असंलग्नता' अथवा 'वास्तविक असंलग्नता' का विचार। जो प्रथम दृष्टि में ही यह आभास देता है कि

पूर्व सरकार ने मुख्य रूप से 1971 की भारत-रूस संधि के बाद असंलग्नता को सही रूप मे क्रियान्वित नही किया था तथा इसी के लिए जनता सरकार प्रतिबद्ध थी।

अब सिद्धान्त और व्यवहार के स्तर पर जनता सरकार की विदेशनीति के विभिन्न महत्वपूर्ण पहलुओ की समीक्षा करगे

1 सही असलग्नता का विचार

जनता पार्टी ने चुनाव से पूर्व घोषणापत्र मे, जनता पार्टी के नेता मोरारजी भाई ने चुनाव से पूर्व के अपने भाषणो मे तथा चुनाव के बाद जिस बिन्दु पर निरन्तर बल दिया था वह था वास्तविक गुटनिरपेक्षता का विचार।

अपने घोषणा पत्र मे जनता पार्टी ने स्पष्ट किया था कि जनता पार्टी वास्तविक गुटनिरपेक्षता के लिये प्रतिबद्ध रहेगी तथा किसी भी शक्तिगुट के प्रभाव मे नही रहेगी।[4]

इसी तरह मोरारजी देसाई न चुनाव के बाद की अपनी अपनी पत्रकार वार्ता मे इसी विचार पर जोर देते हुए कहा था

"देसाई ने सत्ता म आते ही अपनी सम्पूर्ण आस्था असलग्नता की नीति पर ही व्यक्त की।[5] किन्तु इस नीति के सन्दर्भ मे अपनी मान्यता स्पष्ट करते हुए कहा कि" यह असलग्नता उचित असलग्नता की नीति होगी।"[6]

इस 'उचित' शब्द को स्पष्ट करते हुए देसाई ने कहा था कि यह पूर्णत असलग्न होगी, किसी के भी प्रति किसी तरह की सलग्नता का कोई सन्देह शेष नही रहेगा। हम किसी भी देश से कोई विशेष सम्बन्ध नही रखेगे।[7]

लोकसभा को सम्बोधित करते हुए 29 जून, 1977 को भारतीय विदेशमत्री ने वास्तविक गुटनिरपेक्षता के सन्दर्भ मे कहा था कि --

"जनता पार्टी ने घोषित किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षत्र मे हम वास्तविक गुटनिर्पेक्ष नीति का पालन करेगे। यह प्रश्न उठ सकता है कि जनता पार्टी वास्तविक गुटनिर्पेक्ष नीति का आग्रह क्यो कर रही है ? मेरा विनम्र निवेदन यह है कि हम अपनी इस नीति पर पूर्ण आस्था से अटल है। यदि हम कोई अन्य दृष्टिकोण अपनाते है तो यह सशय हो सकता है कि हम किसी महाशक्ति की ओर झुक रहे है और अपनी प्रभुसत्ता के अधिकार को गुट विशेष के हाथो मे सौप कर उनके इशारे पर चल रहे हैं। ऐसा करना गुट निर्पेक्ष नीति के कठिन रास्ते से मुँह मोडना और दूर हटना कहलायेगा। जनता पार्टी ऐसा नीति का कभी अनुसरण न करेगी।"[8]

इस तरह वाजपेयी ने इस बात पर बल दिया कि भारत को न केवल असलग्न रहना चाहिए वरन् यह सभी को लगना भी चाहिए कि भारत असलग्न है। उनका आशय किसी भी एक पक्ष की ओर विशेष झुकाव नहीं रहने से था।

असंलग्नता के विचार के प्रादुर्भाव के समय से ही इस सिद्धान्त के संबंध में व्यापक राष्ट्रीय सहमति थी किन्तु सन् 1971 में भारत-सोवियत मैत्री संधि के बाद से इस विचार की सत्यता पर देश-विदेश में प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया जाने लगा था।

संधि के आलोचकों का मत था कि यह संधि कर भारत ने असंलग्नता की नीति का अन्त कर दिया है और भारत खुले आम एक महाशक्ति के साथ पूरी तरह संलग्न हो गया। तत्कालीन संसद सदस्य के रूप में देसाई ने कहा था कि -- "मुझे संधि की विवेकशीलता में सन्देह है क्योंकि यह 'कमजोर' और सशक्त के बीच की गई संधि है। इसका लाभ सशक्त 'रूस' को ही होगा।[9]

इसी तरह तत्कालीन विपक्ष के अधिकांश नेताओं ने संधि की इन्हीं आधारों पर आलोचना की थी। यद्यपि वाजपेयी ने तत्कालीन स्थितियों में संधि का स्वागत किया था।

संधि-जनित भारत-सोवियत संघ संबंधों की निकटता के प्रति विपक्षी नेताओं के मन में स्वाभाविक आक्रोश तब तीव्रता से विकसित हुआ जब सोवियत संघ आपातकाल के दौर में भारतीय सत्तारूढ़ दल का खुला समर्थन करता रहा।

वस्तुतः सही असंलग्नता का विचार इन्हीं परिस्थितियों में जनता नेताओं ने विकसित किया किन्तु सत्तारूढ़ होने के बाद भारत-सोवियत संधि को बनाए रखना राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से आवश्यक समझा गया। यद्यपि ये आशंकाएं देश-विदेश में इन्हीं नेताओं के वक्तव्यों के कारण विद्यमान थी कि जनता सरकार सोवियत संघ से संबंधों को शिथिल कर देगी।

किन्तु सत्तारूढ़ होने के बाद राजनीतिक यथार्थ से परिचित हो जाने के कारण सोवियत संघ से नई सरकार के सम्बन्धों में कोई शिथिलता नहीं लाई जा सकी। इसके विपरीत पूर्व सरकार की तरह ही सोवियत संघ से नैकट्य बनाए रखने की नीति विकसित की। हां, दूसरी ओर भारत सोवियत संघ विशिष्ट संबंधों से उत्पन्न झुकाव को सन्तुलित करने के लिये जनता पार्टी सरकार ने अमेरिका के साथ भी उसी स्तर पर संबंध स्थापना के सकारात्मक प्रयास आरम्भ कर दिये। जनता पार्टी सरकार इस तरह अमरिकी एवं पाश्चात्य देशों की सरकारों के मन में भारत सोवियत संबंधों के प्रति जो भ्रांत धारणा थी उसे कुछ सीमा तक दूर करने में सफल हुई।

सही असंलग्नता के विचार का यही सार था।

जनता पार्टी के सत्तारूढ़ होने के बाद देश-विदेश में यह आशंका व्यक्त की जाने लगी थी कि भारत का झुकाव सोवियत संघ से हटकर अमरिका की ओर हो जाएगा किन्तु वास्तव में भारत ने जनता शासन काल में अमेरिका व सोवियत संघ दोनों के सन्दर्भ में ही वास्तविक असंलग्नता की नीति का पालन किया।

जैसा कि एम० एस० राजन ने कहा है कि

"पूर्व सत्ता की नीतियों में फेर बदल करने के कारण जनता पार्टी की गतिविधियों ने संशय और आशा के भ्रम में डाल दिया था। इसकी नीति में संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी महाशक्ति से अधिक मधुर संबंध स्थापित करने का प्रयास था अन्य महाशक्ति सोवियत संघ से सामान्य मैत्री संबंध स्थापित रखने की ही नीति अपनायी गयी थी। अमेरिका के प्रति जनता पार्टी की वास्तविक गुट निरपेक्ष नीति ही का व्यवहार रहा था। बिना उसकी ओर झुके उससे दोस्ताना संबंध बनाये रखने की नीति को ही अपनाया गया था। जनता पार्टी ने समानता के आधार आपसी हितों के प्रति पूर्व सत्ता की तरह कोई पहल करना उचित न समझा था।"[10]

इस तरह जनता पार्टी सरकार ने विदेशनीति के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन की अपेक्षा करने वाले लोगों को न केवल आश्चर्यचकित किया अपितु उन्हें निराश भी किया। मोटे तौर पर नई सरकार ने आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने की पुरानी शैली को ही जारी रखने की नीति को पसन्द किया। यह हम यह भी कह सकते हैं कि नई सरकार के पास इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था क्योंकि भारत गत 30 वर्षों से राष्ट्रीय सहमति पर आधारित इसी नीति का पालन करता आ रहा था।

(2) पड़ोसी देशों से सम्बन्धों को प्राथमिकता

जनता पार्टी ने अपने चुनाव घोषणापत्र में पड़ोसी देशों से सम्बन्धों को बेहतर तथा मैत्रीपूर्ण बनाने की नीति को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का संकल्प किया था।

28 जनवरी 1978 को विदेशमंत्री वाजपेयी ने अपने एक भाषण में कहा था कि

"स्मरण होगा कि जनता पार्टी की चुनाव घोषणा में पड़ोसी देशों के साथ अच्छे संबंध स्थापित रखने की सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी थी। पड़ोसियों के साथ विश्वास और सहयोग के सेतु बनाने का यथाशक्ति श्रमशील और सार्थक प्रयास इस दिशा में किये गये थे। जिसके उल्लेखनीय परिणाम सर्वविदित है। इस दिशा इतना और जोड़ने की आवश्यकता है कि पड़ोसियों के भौगोलिक सीमाओं का मान कर एक अच्छे पड़ोसी के मित्रवत व्यवहार की ओर प्रयास किया गया था। और यह भी प्रयास किया गया था कि अतीत की घटनाओं से प्रस्तुत कटुतापूर्ण संबंधों का सुधार जाय।[11]

विदेशमंत्री का पद ग्रहण करने के बाद अपने कई वक्तव्यों में वाजपेयी ने पड़ोसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को प्राथमिकता की जनता सरकार की नीति का उन्होंने निरन्तर उल्लेख किया था। विदेशमंत्री बनने के एक सप्ताह बाद ही उन्होंने निकटतम पड़ोसियों को सर्वोच्च प्राथमिकता देने की बात कही।[12]

लोकसभा में 29 जून 1977 को विदेशमंत्री द्वारा दिये गए प्रथम वृहत् वक्तव्य में सर्वोच्च प्राथमिकता को विस्तार से स्पष्ट किया था। उन्होंने कहा था

"निकट पड़ोसियों के साथ सहयोग और अच्छे संबंध स्थापित रखना और उनसे

विश्वास अर्जित करना हमारी प्राथमिक आवश्यकता है। हम अपनी सीमाओं के लिए सावधान अवश्य रहें पर किसी की राष्ट्रीय गरिमा को आतंकित न करें। हमारा विश्वास है कि यह हमारे व्यक्तिगत और आपसी हित में है कि हम अपने सम्बन्ध भौगोलिक सीमा और आर्थिक सहयोग की शक्ति के आधार पर इस उपमहाद्वीप में कायम रखें। यदि हम इस उद्देश्य में सफल हो गये तो हम इस क्षेत्र की जनता का बहुत बड़ा बोझ हल्का कर सकेंगे। हम जनता को तनावग्रस्त जीवन से मुक्ति दिलाकर रचनात्मक कार्य क्षेत्र में लगा सकते हैं और इस सम्पूर्ण क्षेत्र में सभी के शत्रु गरीबी और परम्परा से चली आने वाली अधोगति से छुटकारा दिला सकेंगे।"[13]

विदेशमंत्री ने यहां तक कहा था कि -- "उनकी सरकार पड़ोसी देशों से मैत्री तथा सद्भावपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना के लिए पूर्ववर्ती सरकार से अधिक गम्भीरता से कार्य करेगी।[14]

इसी तरह प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने पड़ोसी देशों को अपने से अनुज मानकर उनके प्रति दृष्टिकोण विकसित किया था। उनका वक्तव्य रहा करता था कि "हम बड़े भाई की भूमिका निभाते हैं क्योंकि हम एक बड़े देश हैं हमें उदार होना ही होगा।"[15]

कुल मिलाकर जनता पार्टी के चुनाव घोषणापत्र से लेकर शासकीय स्तर पर विदेशमंत्री तथा प्रधानमंत्री के वक्तव्यों से यह स्पष्ट होता है कि जनता सरकार पड़ोसी देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को खोज पूर्ण करने के लिए कृत-संकल्प थी। यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इसी बिन्दु को सर्वोच्च प्राथमिकता भारत के द्वितीय प्रधानमंत्री श्री शास्त्री ने भी प्रदान की थी और वे अन्तत: असफल रहे। 1971 के बाद श्रीमती गांधी ने भी शिमला समझौते के साथ ही उपमहाद्वीप तथा दक्षिण एशियाई पड़ोसी देशों के साथ द्विपक्षवाद के आधार पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना के लिए स्वयं निर्भीक होकर प्रयत्न किये किन्तु पड़ोसी देशों की भारतीय नीति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया।

इसी तरह जनता सरकार ने भी पड़ोसी देशों की भारत के सन्दर्भ में व्याप्त भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयत्न करते हुए लाभदायक द्विपक्षवाद के आधार पर मैत्री और सद्भावनापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना के प्रयास किये। ये प्रयास कितने सफल हुए यह देखने से पूर्व हम इन प्रयासों का विभिन्न पड़ोसियों के सन्दर्भ में वर्णन करेंगे।

सर्वप्रथम हम भारत के विशाल पड़ोसी देश चीन के प्रति जनता सरकार की नीति की समीक्षा करेंगे।

उल्लेखनीय यह है कि जब भारत में 1977 में श्रीमती गांधी की सरकार सत्ता-च्युत हुई तथा जनता पार्टी की सरकार सत्तारूढ़ हुई तो चीन सहित अनेक क्षेत्रों में यह आशा जागी कि नई सरकार का सोवियत संघ के प्रति झुकाव या विशेष मैत्री नहीं रहेगी। इसीलिये चीन ने भारतीय सत्ता परिवर्तन पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की।[16] भारतीय प्रधानमंत्री तथा विदेशमंत्री द्वारा 'उचित' तथा 'सही' असंलग्नता का चीन ने यही आशय

निकाला लेकिन शीघ्र ही चीन का नई सरकार के प्रति उत्साह कम हो गया। यद्यपि भारतीय विदेशमंत्री चीन से सम्बन्धों को सुधारने के लिये विशेष रूप से उत्सुक थे किन्तु इस उत्सुकता के बाद भी चीन, भारत विरोधी वक्तव्य जारी करता रहा। चीन के नेता काश्मीर को पाकिस्तान का अंग मानने की अपनी नीति पर चलते रहे। चीन ने 1962 की घटनाओं के लिये एक बार पुन भारत को दोषी ठहराया।[17]

इसी के साथ चीनी नेता भारतीय विदेशमंत्री के चीन से सम्बन्धों को सामान्य बनाने सम्बन्धी वक्तव्यों पर भी अपनी टिप्पणी करते रहे।

मई, 1977 में चीन गणराज्य के उपविदेशमंत्री ने कहा कि सीमाविवाद पर बातचीत प्रारम्भ हुए बिना भी चीन तथा भारत के राजनीतिक सांस्कृतिक तथा वाणिज्यिक सम्बन्धों को बेहतर बनाया जा सकता है।[18]

मई, 1978 में भी चीनी उपविदेशमंत्री यू चान ने कहा कि दोनों पक्षों के मध्य तर्कसम्मत समझौता होना चाहिए। दोनों पक्ष कई क्षेत्रों में एक-दूसरे को व्यापक सहयोग कर सकते हैं। सीमा विवाद को इसमें बाधक नहीं होना चाहिए।[19]

इसी तरह के कई वक्तव्य चीनी नेता देते रहे। वे भारत के सम्बन्ध सुधारने की पहल से तो सहमति व्यक्त करते थे किन्तु उनकी दृष्टि में सीमा विवाद प्राथमिकता का विषय नहीं था। दूसरी ओर चीन की नीति दक्षिण एशिया में भारत के प्रभाव को नियंत्रित करने के लिये भारत के पड़ोसी राज्यों (पाकिस्तान, बंगलादेश, नेपाल तथा श्रीलंका) में अपना प्रभाव बढ़ाने की भी रही। भारत से सम्बन्ध सुधार कर वह सोवियत प्रभाव को भी सीमित करना चाहता था।

"दक्षिण एशिया और चीन आदि पड़ोसी देशों ने संबंधों को सामान्य बनाने की पहल का स्वागत किया है। भारत की इस नीति ने अपने पड़ोसी देशों के साथ अच्छे राजनीतिक संबंध जोड़ने का मौका दिया है। यह नीति भारत पर सोवियत संघ के वर्चस्व को हल्का कर देगी। इसके साथ ही इस नीति ने भारत की परिरेखा को अन्य पड़ोसी देशों के साथ मजबूती से जोड़ा है, पाकिस्तान, बंगलादेश, नेपाल और श्रीलंका के हितों के समर्थन और उनकी मजबूती के प्रयास से भारत के प्रति उनकी भ्रान्ति दूर करने का प्रयास किया गया है। दक्षिण एशिया में चीन के उपप्रधानमंत्री तंग हेंगिआओ पिंग की नेपाल यात्रा, ली हेसिन निन की बंगलादेश से सम्पर्क और कंग प्याओ की पाकिस्तान और श्रीलंका की सन् 1978 के आरम्भ में सद्भाव यात्रा ने चीन के राजनीतिक आचरण को दोहरा लाभ पहुँचाया है। एक ओर यह भारत के साथ संबंधों को सामान्य बनाने की पहल है और दूसरी ओर अन्य पड़ोसी देशों और भारत के संबंधों को आपसी तौर पर एक सूत्र में बाँधने का प्रयास है।"[20]

चीन के सन्दर्भ में भारतीय विदेशमंत्री अपने ही दल के कई नेताओं की इच्छा के विरुद्ध सम्बन्धों के सामान्यीकरण हेतु विशेष रूप से उत्सुक थे। चीनी राजनय की हल्पूर्ण

शैली को समझे बिना विदेशमंत्री ने 30 अक्टोबर, 1978 का चीन जाने का कार्यक्रम बनाया। चीन के सन्दर्भ में उग्र दृष्टिकोण रखने वाले नेताओं ने तो यहां तक सलाह दी थी कि वाजपेयी अपनी चीन यात्रा स्थगित कर दें तथा तिब्बत की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न करें।[21] विदेशमंत्री के अचानक अस्वस्थ हो जाने से उनकी चीन यात्रा का कार्यक्रम स्थगित हो गया।[22] किन्तु फरवरी, 1979 में अनन्त अधिकांश क्षेत्रों में होने वाले विरोध के बाद भी वाजपेयी 12 फरवरी, 1979 को चीन पहुँचे।[23]

वाजपेयी की इस यात्रा का उद्देश्य चीन से सम्बन्धों को सामान्य बनाना तो था ही साथ ही सीमा के प्रश्न का हल खोजना भी था। वाजपेयी पाँच दिन तक चीनी नेताओं से कई दौरों में वार्ता करते रहे। उन्होंने 1962 की अप्रिय घटनाओं की ओर भी चीनी नेताओं का ध्यान आकृष्ट करते हुए भारत के शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया।[24] जहां तक चीनी नेताओं का प्रश्न है वे सीमा के प्रश्न को निरन्तर टालते रहे तथा उसे अधिक महत्व तथा प्राथमिकता न देने की बात करते रहे।[25]

चीन, सीमा के प्रश्न के अतिरिक्त अन्य विषयों में रुचि ले रहा था। भारत की रुचि अन्य प्रश्नों की अपेक्षा सीमा विवाद के प्रश्न में अधिक थी। कुल मिलाकर चीन भारतीय अतिथि द्वारा रखे हुए प्रस्तावों के प्रति विपरीत और दृढ़ दृष्टिकोण अपनाए हुए था।

और सामान्यीकरण की खोज में ये वार्ताएं चल ही रही थी कि चीन ने अपनी प्रकृति के अनुसार ही एक असामान्य हरकत की। भारत के मित्र देश वियतनाम पर अचानक आक्रमण कर दिया। यह सरासर भारत का अपमान था। सम्भवतः यह आक्रमण जानबूझकर भारत पर दबाव डालने के उद्देश्य से किया गया था।[26] विदेशमंत्री प्रतिक्रिया स्वरूप अपनी यात्रा अधूरी छोड़कर भारत लौट आए तथा उन्होंने इस आक्रमण की तीव्र निन्दा की।[27]

वैसे भी विदेशमंत्री की चीन-यात्रा अतिउत्साह का परिणाम थी। यदि चीन, वियतनाम पर आक्रमण नहीं करता तो भी इस यात्रा से कोई ठोस उपलब्धियाँ प्राप्त होने की सम्भावना नहीं थी। जो समझौते होते, उसके लिये अधिकारी स्तर की बातचीत भी पर्याप्त थी।

चीन यात्रा की इस अचानक समाप्ति के बाद 21 फरवरी, 1979 को विदेशमंत्री ने संसद के समक्ष अपनी चीन यात्रा का विवरण देते हुए कहा कि मंत्री स्तर पर द्विपक्षीय सम्पर्क की पुनः स्थापना एक-दूसरे के दृष्टिकोण को अधिक अच्छी तरह समझने में उपयोगी होगी।[28]

अपने इस वक्तव्य में विदेशमंत्री ने चीनी विदेशमंत्री तथा उपप्रधानमंत्री से अपनी विस्तृत बातचीत का उल्लेख किया तथा प्रधानमंत्री से अपनी मुलाकात का भी जिक्र किया। अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के कई प्रश्नों पर दोनों देशों के बीच सहमति की बात भी विदेशमंत्री ने कही। भारत-चीन सम्बन्धों के विभिन्न प्रश्नों पर वाजपेयी ने भारत का दृष्टिकोण स्पष्ट

किया।[29] कुल मिलाकर यद्यपि विदेशमंत्री अपनी यात्रा अधूरी छोड़कर चले आए तथा कोई संयुक्त विज्ञप्ति तक जारी नही की गई, फिर भी इस यात्रा का विदेशमंत्री ने अपने उद्देश्यों में सफल तथा संतोषप्रद बतलाते हुए चीन से बेहतर सम्बन्धो की स्थापना की आशा प्रकट की। साथ ही विदेशमंत्री ने यह भी कहा कि "जो लोग मेरी इस यात्रा के कतई पक्ष मे नही थे, उन्हे यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि हमने अपने राष्ट्रीय गौरव, स्वतत्रता और राष्ट्रीय हितों को किसी भी तरह क्षतिग्रस्त नहीं होने दिया है।"[30]

इस यात्रा के बाद वियतनाम पर चीनी आक्रमण के कारण सारे भारत में चीन विरोधी भावनाए स्वत तेजी से उभरी। सम्बन्धो के सामान्यीकरण की प्रक्रिया भी प्रभावित हुई। आर्थिक क्षेत्रों मे मई, 1979 मे दोनो के बीच सक्रियता बढी। जुलाई, 1979 मे भारतीय पर्यटकों के लिये चीन के दर्शनीय स्थलो को भी चीन ने खोल दिया।

इसके बाद जनता सरकार का पतन ही हो गया। कार्यवाहक सरकार के समय भी यथास्थिति बनी रही।

जनता सरकार की पाक-नीति भी उसकी उदारता के लिए स्मरण की जाएगी। जब वाजपेयी विदेशमंत्री बने तो उनका पूर्व जनसंघ से सम्बन्ध होने के कारण यह आशका थी कि भारत, पाकिस्तान के प्रति कठोर रवैया अपनाएगा। किन्तु इसके विपरीत विदेश मत्रालय सभालते ही वाजपेयी ने सम्बन्धो की स्थापना और उन्हें मजबूती प्रदान करने मे अपने पड़ौसी देशों को जब प्राथमिकता दी जो पाकिस्तान को इस दिशा में शीर्ष पर ही रखा तथा और अधिक उदार दृष्टिकोण से प्रस्तुत होते हुए भारत-पाक सम्बन्धों को सशक्त आधार देने का प्रयास किया।

इस नीति की चरम परिणति फरवरी, 1978 में विदेशमंत्री की पाकिस्तान यात्रा के रूप में हुई। विगत 12 वर्षो में किसी भारतीय विदेशमंत्री की यह पहली पाकिस्तान यात्रा थी। अटल बिहारी बाजपेयी ने पाकिस्तानी नेताओं को यह स्पष्ट किया कि भारत, शिमला समझौते के प्रति अभी भी प्रतिबद्ध है और इस क्षेत्र में न किसी नेतृत्व की कामना करता है और न दावा रखता है कि और ऐसी कोई भूमिका हथियाना तो कदापि नहीं चाहता।[31]

अपनी इस यात्रा मे विदेशमंत्री ने पाकिस्तानी नेताओं को निश्चय ही प्रभावित किया। विदेशमंत्री ने भारत की पाकिस्तान से मैत्री की इच्छा प्रकट करते हुए कहा कि "मैं पाकिस्तान मे दोनो देशों के बीच मित्रता व आपसी समझ के एक नये युग का सूत्रपात करने आया हूँ। हम इस दिशा मे अपनी इच्छानुसार किन्तु सावधानी से आगे बढे एव अपने उद्देश्य की प्राप्ति मे कोई रुकावट न आने दे।[32]

विदेशमंत्री के इन प्रयासो को सफलता मिली। पाक-जनरल जिया ने संवाददाताओं से कहा था कि "मैं विदेशमंत्री बाजपेयी एव प्रधानमंत्री देसाई के सद्भावपूर्ण दृष्टिकोण एव भारत के पड़ोसी देशों के प्रति नेक इरादो से बहुत प्रभावित हुआ हूँ।"[33]

वाजपेयी की इस यात्रा से जिस सद्भाव परस्पर विश्वास के वातावरण का निर्माण हुआ था उससे भारत व पाकिस्तान के बीच वर्षा से लम्बित समस्याओ को सुलझाने का मार्ग प्रशस्त हुआ।[34]

इस दिशा मे सलाल-समझौता उल्लेखनीय सफलता थी। इस समझौत से भारत-पाकिस्तान के बीच 1970 से चले आ रहे एक विवादास्पद प्रश्न का हल हुआ। सलाल बिजलीघर के निर्माण क साथ ही निश्चय किया गया कि इस योजना से उत्पन्न बिजली का प्रयोग भारत करेगा तथा चिनाब नदी का जल उपयोग करन का अधिकार पाकिस्तान का होगा।[35] यह द्विपक्षीय सम्बन्धों की स्थापना के लिये आदान-प्रदान का श्रेष्ठ उदाहरण है।

पाकिस्तान के विदशमत्री आगाशाही की भारत यात्रा इस समझौते के साथ ही भारत-पाक मैत्री की दिशा म यह महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

इस अवधि में पाक नीति की बडी सफलता इस बात मे निहित है - कि द्विपक्षीय सम्बन्धो के सचलित एव विकास के प्रयासो से काश्मीर समस्या को पृथक रखा गया और इससे यथास्थिति जारी रही। यह यथास्थिति वस्तुत भारत के पक्ष म थी। यह जनता शासन की पाक-नीति की उपलब्धि मानी जा सकती है।[36]

जनता सरकार ने पाकिस्तान से आर्थिक सास्कृतिक, सचार आदि क विभिन्न क्षेत्रो में कई महत्वपूर्ण समझौते करते हुए दोनों को निकट लाने म अपनी प्रभावी भूमिका निभाई।

जब पाकिस्तान म पूर्व प्रधानमत्री भुट्टो का फासी दिय जान का निर्णय लिया गया तब भारत के बुद्धिजीवियो तथा समाचार-पत्रो के दबाव के बाद भी भारत सरकार ने कोई *वक्तव्य नही दिया तथा फॉसी दिय जाने पर कोई टिप्पणी नही की जबकि विश्वभर के* नेताओ ने जनरल जिया से क्षमादान की अपील की थी। इसके लिये जनता सरकार की बहुत आलोचना हुई यहा तक कि इसे जनता सरकार की 'साम्प्रदायिक चुप्पी' तक कहा गया।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जनता सरकार ने जो इस विषय पडोसी देश के आन्तरिक मामला मान रही थी द्विपक्षीय सम्बन्धो को मजबूती प्रदान करने के लिये इस विषय में कुछ टिप्पणी न करना ही उचित समझा।

बगलादेश के प्रति भी भारतीय विदेशमत्री श्री देसाई की बड़े भाई की उदारता के विचार से ही प्रेरित रही। उल्लेखनीय है कि नई सरकार का बगलादेश से बिगडे हुए तथा तनावपूर्ण सम्बन्धो की विरासत मिली थी। यह कहा जा सकता ह कि भारतीय राजनय के प्रयासो से ही नई सरकार बगलादेश की सैनिक सरकार को फरक्का विवाद के हल के लिये समझौते हेतु तैयार कर सकी जिससे बगलादेश ने इस प्रश्न के अन्तर्राष्ट्रीयकरण का प्रयास त्याग दिया।

5 नवम्बर, 1977 को दोनो देशों के मध्य सम्पन्न फरक्का समझौते से पिछले कुछ वर्षों से दोनों देशों के बीच सम्बन्धों के सामान्यीकरण की बाधा को दूर कर लिया गया।[37]

इस समझौते को श्री देसाई ने भारतीय राजनय की परीक्षा की घड़ी निरुपित किया तथा कहा कि फलस्वरुप भारत और बंगलादेश की सदाशयता में लोगों का विश्वास जगा है। यह समझौता इस बात का एक अच्छा उदाहरण है कि विकासशील देश अपने विकास को प्रभावशाली करने वाली समस्याओं को आपसी वार्ता द्वारा किस तरह सुलझा सकते है।[38]

इसके अतिरिक्त श्रीलंका, नेपाल, अफगानिस्तान, बर्मा, भूटान आदि पड़ौसी देशों से भी सम्बन्धों की दृढ़ता हेतु भारत सरकार ने प्रयास करते हुए अपनी विदेशनीति में इन पड़ौसी देशों को पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

श्रीलंका तथा भारत दोनों ही देशों मे सरकारों का परिवर्तन हुआ था। भंडारनायके के स्थान पर जुलाई, 1977 में जयवर्धने राष्ट्रपति बने। 1978 मे जयवर्धने ने भारत की यात्रा की तथा 1979 में देसाई श्रीलंका गए। इन शीर्ष नेताओं की यात्रा से दोनों के मध्य मैत्री और सद्भाव का वातावरण बना।[39]

नेपाल जो भारतीय विदेशनीति का संवेदशील पहलू है, जनता सरकार ने सास्कृतिक आधार पर दोनों देशों के सम्बन्धों को मजबूती प्रदान करने का प्रयास किये।

भारत और नेपाल के मध्य पूर्ण समझ विकसित करने के प्रयास मुख्यत: देसाई की नेपाल यात्रा से सफल हुए। देसाई की नेपाल यात्रा के अन्त में व्यापार के क्षेत्र में दो समझौते हुए। भारत ने नेपाल सरकार द्वारा किये गए विकास कार्यक्रमों में सहयोग की पेशकश की। इस यात्रा पर टिप्पणी करते हुए द इकॉनामिक टाइम्स ने लिखा था कि :

"जनता पार्टी की सत्तासीन सरकार के प्रधानमंत्री श्री मोरराजी देसाई की इस यात्रा ने वास्तव में दोनों देशों के बीच सबंधों को घनिष्ट बनाने का प्रयास किया था। वर्षों से पड़े अनिर्णीत विवादों का हल इस दौरान निकाला जा सका था, सबसे अधिक उल्लेखनीय मुद्दा श्री मोरारजी देसाई द्वारा पड़ौसी देशों के बीच राजनीतिक एवम् आर्थिक सहयोग की आम समस्या के हल करने के उपायों की खोज था।"[40]

नेपाल के प्रधानमंत्री बिस्ट ने भी अप्रैल, 1978 में भारत की यात्रा की तथा कई महत्वपूर्ण समझौते किये। इस यात्रा के अवसर पर उन्होंने स्वीकार किया था भारत और नेपाल के बीच इतने अच्छे सम्बन्ध कभी नहीं रहे जितने कि अब है।[41]

विदेशमंत्री बाजपेयी ने भी 1978 में ही नेपाल यात्रा की तथा सम्बन्धों को मजबूती प्रदान की। 1979 के प्रारम्भ मे जब नेपाल में लोकतान्त्रिक आन्दोलन ने आन्तरिक असन्तोष को विकसित किया तब भी भारत ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न करते हुए पड़ौसी देशों के मामलों में हर-स्थिति में अहस्तक्षेप की नीति का दृढ़ता से पालन किया।

भूटान के साथ भी जनता सरकार ने भारत-भूटान पारम्परिक मैत्री का ही विकसित किया। भूटान नरेश ने 1977 व 1978 में दो बार भारत-यात्रा की। इन यात्राओं में भारत ने भूटान को आर्थिक सहयोग देने की अपनी नीति जारी रखी। विदेशमंत्री वाजपेयी भी भूटान गए।[42] अगस्त, 1978 में भारत ने भूटान के नई दिल्ली स्थित मिशन को पूर्ण दूतावास का स्तर प्रदान करते हुए भूटान के सम्मान में वृद्धि की तथा सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाया। इसी तरह बर्मा से भी भारत ने सम्बन्धों को मजबूत बनाने के प्रयास तेज किये। *वाजपेयी ने बर्मा यात्रा की जिसने सम्बन्धों के मैत्रीपूर्ण आधार को सशक्त बनाया।*[43]

अफगानिस्तान में राजनीतिक अस्थिरता का दौर 1977 के बाद निरन्तर चलता रहा। जनता सरकार के सत्तारूढ़ होने के समय राष्ट्रपति दाउद थे। मार्च, 1978 में उन्होंने भारत यात्रा की, समझौते हुए।[44] किन्तु मई 1978 में साम्यवादी क्रान्ति ने उन्हें सत्ता से हटा दिया। नूर मोहम्मद तराकी नये प्रधानमंत्री बने। आन्तरिक घटनाओं पर टिप्पणी करने की नीति का अनुसरण करते हुए भारत सरकार ने नई सरकार से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की ही आशा प्रकट की। सितम्बर, 1978 में वाजपेयी काबुल गए तथा सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाए रखने में इस यात्रा के माध्यम से अपनी भूमिका निभाई।

इस तरह भारत ने पड़ौसी देशों को प्रधानता प्रदान करने की अपनी नीति का निरन्तर अनुसरण किया।

(3) जनता सरकार और महाशक्तियाँ

जैसा कि हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं कि जनता सरकार ने 'वास्तविक' अथवा 'सही' असंलग्नता का विचार प्रतिपादित करते हुए अपनी विदेशनीति का क्रियान्वयन प्रारम्भ किया था। 'वास्तविक' शब्द का प्रयोग मुख्यतः महाशक्तियों के सन्दर्भ में ही किया गया था। स्वयं जनता नेताओं के सत्ता में आने के पूर्व दिये गये वक्तव्यों तथा उनकी वैचारिक प्रतिबद्धताओं के कारण यह आशंका व्याप्त हो गई थी कि जनता सरकार पूर्व सरकार द्वारा सोवियत संघ के प्रति झुकाव तथा अमेरिका के प्रति निर्मित दूरी को समाप्त करने का प्रयास करेगी, किन्तु बड़े पैमाने पर ये आशंकाएं निर्मूल सिद्ध हुईं। यह सही है कि जनता नेताओं की सोवियत संघ से श्रीमती गांधी की तरह एकदम वैयक्तिक निकटता स्थापित नहीं हो सकी फिर भी सोवियत संघ के प्रति झुकाव को बहुत बड़े स्तर पर समाप्त नहीं किया जा सका क्योंकि यह कथित झुकाव राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की भारत के राष्ट्रीय हितों के सन्दर्भ में जनता नेताओं ने भी अनुभव किया कि 'असंलग्नता' के अपने आदर्श का समझौता अथवा समर्पण किये बिना भी भारत सोवियत मैत्री को निरन्तर सुदृढ़ आधार मिला है। दूसरी ओर जनता नेताओं ने अमेरिका के प्रति पूर्व में उनके मन में भले ही कितना भी आकर्षण रहा हो, वे अमेरिका और भारत के बीच विद्यमान खाई को पाटने में बहुत अधिक सफल नहीं हो सके। या यह कहा जाए

कि 'सही असंलग्नता' के विचार का क्रियान्वयन उन्होंने अमेरिका के सन्दर्भ में भी किया। इसका भी यही कारण रहा कि अमेरिका से पूर्व सरकार की दूरी का कारण बड़े पैमाने पर आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से निर्मित होने वाले राष्ट्रीय हितों की रक्षा में ही निहित था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विभिन्न समस्याओं के प्रति भारत और अमेरिका के दृष्टिकोण का मूल अन्तर जनता सरकार के सत्तारूढ़ होने के बाद भी समाप्त नहीं हुआ। यही कारण था कि जनता नेता सोवियत संघ की तरह ही अमेरिका से उतनी ही निकटता स्थापित नहीं कर सके। अन्ततः वास्तविक गुट-निरपेक्षता के विचार से यह अर्थ तो निकाला ही नहीं जा सकता था कि जनता नेता दोनों महाशक्तियों को 'समान दूरी' पर रखना चाहते थे।

अब यह यहाँ दोनों महाशक्तियों से भारत के जनता सरकार युगीन सम्बन्धों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करेंगे।

(1) भारत और सोवियत संघ

पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि जनता सरकार के सत्ता में आने पर भारत तथा भारत के बाहर यह विचार किया जाने लगा था कि सोवियत संघ से भारत के विशेष सम्बन्ध समाप्त हो जाएंगे। इस आशंका को अस्वाभाविक इसलिये नहीं कहा जा सकता था कि जनता नेता सत्तारूढ़ होने के पूर्व भारत की सोवियत नीति के प्रखर विरोधी रहे थे। उन्होंने भारत-सोवियत संधि को भी असंलग्नता की नीति से बिदाई तक की संज्ञाएं दे डाली थीं। स्वयं मोरारजी देसाई ने कई बार अपनी चुनाव सभाओं में तथा अन्य वक्तव्यों में यह निरन्तर जाहिर किया था कि उनकी सरकार बनने पर सोवियत संघ की ओर यह झुकाव समाप्त कर दिया जाएगा। दूसरी ओर आपात्काल के दौर में सोवियत संघ द्वारा श्रीमती गांधी की सरकार को दिये गए खुले तथा प्रबल समर्थन तथा विपक्ष को आन्तरिक प्रतिक्रियावादी निरूपित करने के कारण भी इन आशंकाओं को शक्ति मिल रही थी। सोवियत संघ ने चुनावों पर टिप्पणी करते हुए जनता पार्टी को घोर प्रतिक्रियावाद का उपकरण तथा जमींदारों, ब्याजखोरों एवं स्थानीय तथा विदेशी मुनाफाखोरों की रक्षक बताया था।[45]

ऐसी स्थिति में जनता नेताओं की भावी सोवियत नीति में उसके प्रति प्रतिक्रिया होने के अनुमान असहज नहीं थे किन्तु जनता सरकार बनने के बाद अचानक तस्वीर की प्रस्तुती दूसरे ही रूप में हुई। सोवियत संघ के समाचार पत्रों ने जनता पार्टी की चुनावों में विजय को श्रीमती गांधी की ज्यादतियों तथा संजय गांधी की नीतियों का परिणाम बतलाया।[46] तथा प्रधानमंत्री बनते ही सोवियत प्रधानमंत्री कोसीगिन ने मोरारजी देसाई को बधाई-सन्देश भेजते हुए दोनों देशों के सम्बन्धों में उत्तरोत्तर वृद्धि की कामनाएं की।[47] साथ ही बिना विलम्ब किये तथा तत्परता दिखाते हुए सोवियत विदेशमंत्री ग्रोमिको की भारत

यात्रा की घोषणा[48] करते हुए नई सरकार की ओर सोवियत मैत्री का हाथ तेजी से बढाया। पूर्व के अध्यायो मे भी स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत और सोवियत संघ शक्ति की दृष्टि से असमान होते हुए भी परिस्थितियो के कारण समान धरातल पर आकर ही एक दूसरे के निकट आए हैं। भारत को अपने हितो के कारण यदि सोवियत सहयोग और मैत्री आवश्यक हुई है तो सोवियत संघ को भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय हितो के लिये तथा अन्तत राष्ट्रीय हितो के लिये भारतीय मैत्री अपरिहार्य रही है। यदि यह तर्क निराधार होता तो अपनी पसन्द की सरकार के सत्तारूढ होने के बाद भी सोवियत नेताओ ने नई सरकार से मैत्री के लिये इतनी अप्रत्याशित व्यग्रता क्या दिखाई ? ग्रोमिको नई सरकार के सत्तारूढ होने के बाद भारत की धरती पर उतरने वाले प्रथम महत्त्वपूर्ण विदेशी अतिथि थे। अप्रैल, 1977 मे सोवियत विदेशमंत्री ग्रामिको की भारत यात्रा से सोवियत संघ के साथ भारत का मैत्रीपूर्ण सम्पर्क और द्विपक्षीय सहयोग परिलक्षित हुआ। इस यात्रा के दौरान आर्थिक एव तकनीकी सहयोग, व्यापार और दूर-सचार के सम्बन्ध मे तीन समझोतो पर हस्ताक्षर हुए।[49] भारतीय विदेशमंत्री ने भारत सोवियत मैत्री का ऐतिहासिक तथा परिस्थितियों की उपज बताते हुए कहा कि इन सम्बन्धो का भविष्य किसी व्यक्ति या पार्टी के भविष्य पर निर्भर नही है।[50]

1977 मे ही सत्तारूढ होने के छ माह बाद भारतीय प्रधानमंत्री देसाई तथा विदेशमंत्री वाजपेयी सोवियत संघ की यात्रा पर गए। इस यात्रा के पूर्व भी प्रधानमंत्री और विदेशमंत्री विभिन्न वक्तव्यो के माध्यम से यह स्पष्ट संकेत भी देने लगे थे कि सोवियत संघ के प्रति मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण ही उनकी सरकार अपनाएगी।[51]

अक्टोबर, 1977 मे प्रधानमंत्री तथा विदेशमंत्री की सोवियत यात्रा के दौरान भारत सोवियत सम्बन्धों तथा प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर विचार विनिमय किया गया। दोनो पक्षों ने स्वीकार किया कि भारत-सोवियत मित्रता किन्ही अस्थाई मान्यताओ पर आधारित नहीं है वस्तुत यह मित्रता एशिया एव समस्त विश्व मे शाति और स्थिरता के लिये एक महत्वपूर्ण घटक है। यह महत्वपूर्ण समझा गया कि इस मित्रता को न सिर्फ कायम रखा जाए बल्कि इसे और मजबूत किया जाए।[52]

सोवियत नेताओं ने भारतीय नेताओ का इस यात्रा मे जोरदार स्वागत किया जिससे भारतीय नेताओ की सोवियत संघ सम्बन्धी आशकाए समाप्त हो गई।[53] इस यात्रा मे ब्रेजनेव ने हमेशा की तरह अपने एशियाई सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त की चर्चा भी नही की न ही भारत से यह अपेक्षा की कि प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर वह सोवियत दृष्टिकोण का ही समर्थन करे।[54]

यात्रा के अन्त में प्रकाशित सयुक्त विज्ञप्ति मे कहा गया – भारत तथा सोवियत संघ के सम्बन्ध 1971 की भारत-सोवियत सधि की भावना के अनुसार उत्तरोत्तर मजबूत होगे जिससे शाति और स्थिरता मे वृद्धि हुई है तथा जो दोनों में से किसी भी पक्ष के

तीसरे देश से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के लिये बाधक नहीं है।[55]

इस यात्रा के बाद सोवियत संघ के साथ मैत्री की दिशा में जनता सरकार निरन्तर आगे बढ़ती गई।

अक्टोबर – नवम्बर 1978 में जब भारतीय विदेशमंत्री की चीन यात्रा का कार्यक्रम तय हुआ तो चीन जाने से पूर्व वे सितम्बर, 78 में सोवियत संघ गए। अपनी इस सोवियत यात्रा में बाजपेयी द्वारा दिया गया यह वक्तव्य कि "भारत सोवियत मैत्री की कीमत पर से वे चीन से सम्बन्ध स्थापित करना पसन्द नहीं करेंगे।[56] इस बात को स्थापित करता है कि भारतीय विदेशनीति निर्माण में सोवियत संघ का महत्व लगभग यथावत् बना हुआ था। बाजपेयी की इस यात्रा में सोवियत संघ ने पुनः अपने एशियाई सामूहिक सुरक्षा योजना का प्रश्न उठाया।[57] जिसके प्रति किसी किस्म का कोई विरोध भी बाजपेयी ने प्रदर्शित नहीं किया। इस यात्रा के बाद भी हुए समझौतों मे द्विपक्षी आर्थिक सम्बन्धों को और अधिक विस्तार दिया गया।

अक्टोबर, 1978 मे तो बाजपेयी के अस्वस्थ हो जाने से चीन यात्रा स्थगित हो गई किन्तु फरवरी, 1979 मे बाजपेयी चीन गए। चीन से उनकी अधुरी रही यात्रा से आने के बाद के अगले माह – 2 मार्च 79 को सोवियत प्रधानमंत्री कोसीगिन भारत आए।[58] पूर्व मे प्रस्तावित चीन यात्रा के पूर्व विदेशमंत्री का सोवियत संघ जाना तथा उनकी चीन यात्रा के तत्काल बाद सोवियत प्रधानमंत्री का भारत आना, कहीं न कहीं अन्त सम्बद्धता रखता है। दोनों ही देश अपने सम्बन्धों के मध्य चीन के प्रभाव प्रवेश के प्रति सतर्क थे।

कोसीगिन की भारत यात्रा के पूर्व ही चीन द्वारा वियतनाम पर आक्रमण किया जा चुका था जिसकी भारत ने तीखी आलोचना की थी। वियतनाम सोवियत संघ का मित्र राष्ट्र है। इस प्रश्न पर भारत तथा सोवियत संघ के दृष्टिकोण की समानता ने द्विपक्षीय सम्बन्धों को और अधिक मजबूत बनाया। कोसीगिन का इस यात्रा में अभूतपूर्व स्वागत किया गया। 9 मार्च, 1979 को भारतीय संसद मे भाषण देते हुए जहां भारत सोवियत मैत्री के सुदृढ़ आधारों की कोसीगिन ने विस्तार से चर्चा की।[59] वहीं चीन के वियतनाम पर आक्रमण की कड़े शब्दों में निन्दा की तथा चीनी हमले को 'सौदेबाजी', 'अपराध' तथा 'नान आक्रमण' निरूपित किया।[60] प्रधानमंत्री श्री देसाई ने चीन की बाजपेयी यात्रा की ओर संकेत देते हुए कहा कि उससे भारत सोवियत मैत्री मे कोई बाधा नहीं आएगी। यात्रा के अन्त में घोषित संयुक्त विज्ञप्ति मे द्विपक्षीय सम्बन्धों को मजबूत बनाने की बात कहीं तथा कहा गया कि भारत और सोवियत संघ के बीच परस्पर लाभप्रद और न्यायसंगत सहयोग और बढ़ेगा तथा इसे और गति मिलेगी।[61]

इस विज्ञप्ति मे वियतनाम पर चीन के आक्रमण की निन्दा तो की गई किन्तु चूंकि वियतनाम- कम्पूचिया विवाद मे भारत तटस्थ था इसलिये विज्ञप्ति मे सोवियत इच्छा के बाद भी कम्पूचिया का उल्लेख तक नहीं किया गया।[62]

कोसीगिन की इस भारत यात्रा का महत्व इसलिये भी बढ़ गया था कि गत वर्ष ही अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर की भारत यात्रा को अपेक्षित सफलता नही मिली थी।[63]

कोसीगिन की इस यात्रा के दौरान सास्कृतिक आर्थिक वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग के पाँच समझौते पर हस्ताक्षर किये गए। रूस ने भारत को 6 लाख टन तेल देने का वादा किया।[64] तथा सयुक्त विज्ञप्ति मे दीर्घावधि कार्यक्रमो और आर्थिक सहयोग को और अधिक गति प्रदान करने की बात कही गई।[65]

भारत-सोवियत व्यापार मे दुगुनी वृद्धि के प्रस्ताव तथा जनवरी, 1979 मे सम्पन्न पारम्परिक शातिपूर्ण परमाणु सहयोग के समझौते[66] स यह स्पष्ट हो जाता है कि जनता सरकार भारत-सोवियत सम्बन्धों को उस मुकाम से आगे ले गई, जहाँ इन्दिरा सरकार ने छोडा था।[67]

इसके अतिरिक्त हम देखते है कि यद्यपि भारत और सोवियत सघ क मध्य सहयोग का विस्तार अवश्य हुआ किन्तु 'अफगानिस्तान' तथा 'कम्पूचिया' के सोवियत सघ से जुडे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भारत का दृष्टिकोण स्वतत्र ही रहा तथा देसाई ने अपनी जून 79 की मास्को यात्रा मे निर्भीक तरीके से अपने विचार इन प्रश्नो पर रखे।

अफगानिस्तान के सन्दर्भ मे स्पष्ट शब्दो म देसाई ने ब्रजनव स कहा कि -- "अफगान सरकार को सारा दोष पाकिस्तान के सिर मढने की अपेक्षा जनता क मध्य लोकप्रियता और वैधता प्राप्त करनी चाहिए।[68] इसी तरह कम्पूचिया के सन्दर्भ म एक पत्रकार के प्रश्न का उत्तर देते हुए देसाई ने साफ शब्दो मे कहा कि -- नॉम पेन्ह की सरकार का स्थिति पर पूर्ण नियत्रण नही है और जब तक यह नही होता हम कम्पूचिया को मान्यता नही दे सकते।[69] किन्तु फिर भी सयुक्त विज्ञप्ति म यह कहा गया कि दोनो देश अफगानिस्तान को लोकतात्रिक गणतत्र से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढाना चाहते हैं और उसके आन्तरिक मामलो मे बाहय शक्तियो के हस्तक्षेप का विरोध करते है।[70]

इस तरह अपने 'सही' असलग्नता के विचार को कुछ प्रश्नो मे जनता सरकार ने सोवियत सघ के सन्दर्भ मे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करते हुए भी सोवियत सघ स मैत्री को प्रगाढ बनाए रखा।

(2) भारत और अमेरिका

भारत-सोवियत सघ सम्बन्धों के अतिरिक्त नई सरकार के समक्ष उनके 'उचित' अथवा 'सही' असलग्नता के विचार के सन्दर्भ मे भारत अमेरिकी सम्बन्ध दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष था।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि 1947 से 1977 तक अमरिका के साथ भारत के सम्बन्ध अच्छे नही रहे थे। इस पूरी अवधि मे य सम्बन्ध केवल 1962 क चीन आक्रमण के समय अमेरिका द्वारा बिना शर्त दी गई सैन्य व आर्थिक सहायता के समय ही मैत्रीपूर्ण थे

लेकिन शीघ्र ही भारत की सहायता के लिये अमरिका द्वारा जो वचन दिए गये थ उनके व्यवहार मे परिणत न होन के कारण य सम्बन्ध पुन विषम स्थितियो मे पहुँचते चले गए। उल्लेखनीय यही है कि पूर्व क तीनो प्रधानमत्रियो क काल म भारत अमेरिका सम्बन्धो मे सामान्यत दरार तथा मनमुटाव की स्थिति ही बनी रही। पाकिस्तान को अमेरिकी अस्त्रों की भारी मात्रा म पूर्ति तथा वियतनाम क प्रश्न पर भारतीय दृष्टिकोण ने इन सम्बन्धो को और अधिक खराब कर दिया था। बगलादेश की घटनाओ तथा अमेरिकी रुख ने बाद राजनय ने इस सम्बन्धो को विकृति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। भारत द्वारा अणु-अप्रसार सधि पर हस्ताक्षर न करने हुए 1974 क अणु विस्फोट न अमेरिका को भारत स और अधिक दूर कर दिया। इसी तरह कई अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो एव समस्याओ क प्रति भारतीय अमेरिकी दृष्टिकोण की भिन्नता भी विषम सम्बन्धो का कारण थी। श्रीमती गाधी द्वारा घोषित आपातकाल की अमेरिका द्वारा तीखी आलोचना भी वैमनस्य का एक कारण बनी। इस तरह हम देखते हैं कि 1977 तक (1962 की घटनाओं को अपवाद माने तो) निरन्तर भारत-अमेरिकी दूरी विद्यमान ही रही।

अब जब 1977 मे आपातकाल क विरुद्ध प्रतिक्रिया क रूप म श्रीमती गाधी क दल की पराजय हुई तथा नव-गठित जनता दल ने केन्द्र म सत्ता सभाली तो यह आभास होने लगा कि नई सरकार के नेतृत्व मे भारत और अमेरिका को एक दूसरे क निकट आने तथा समझने की स्थितियाँ बनेगी। फिर भी जनता दल द्वारा जब सही असलग्नता क विचार का प्रतिपादन किया गया तो उससे इस अनुमान को स्वाभाविक रूप स बल मिला।

मार्च, 1977 क आम चुनावो को जो कि लोकतात्रिक सस्थाओ म भारत क लोगो की आस्था का प्रतीक था सयुक्त राज्य अमेरिका क समाचार-पत्रो तथा आधिकारिक क्षेत्रो मे व्यापक स्वागत हुआ। सयुक्त राज्य अमेरिका की काग्रेस न एक प्रस्ताव पारित करके भारत मे लोकतत्र की पुन स्थापना का स्वागत किया।[71] राष्ट्रपति कार्टर न भारतीय प्रधानमत्री के नाम भेजे गये अपने सन्देश म समान आदर्शो तथा समान राजनीतिक पद्धति मे अपनी आस्थाओ के कारण दोनो देशो क मध्य मैत्री की स्थापना की आशा प्रकट की।[72] इसी के साथ राष्ट्रपति कार्टर के विशेष दूत तथा बाद मे उनके विदेश मत्री ने भारत की यात्रा की।[73] इस प्रक्रिया की चरम परिणति राष्ट्रपति कार्टर तथा श्रीमती कार्टर की भारत यात्रा मे हुई जबकि वे 1 से 3 जनवरी, 1978 तक यहा ठहरे।[74] आइजन हावर व निक्सन के बाद वे तीसरे राष्ट्रपति थे, जो भारत आए, कार्टर की भारत यात्रा से भारत को बहुत अपेक्षाए थी। इस यात्रा के दौरान कार्टर न विभिन्न विषयो पर विचार-विमर्श किया और यह घोषणा भी की कि उन्होंने तारापुर परमाणु बिजली सयत्र के लिये श्रेष्ठ यूरेनियम का एक और खेप भेजने का प्राधिकार दे दिया है।[75]

प्रधानमत्री श्री देसाई तथा राष्ट्रपति कार्टर के बीच जब शीर्ष वार्ता हुई तो भारतीय अणुनीति के प्रति देसाई के दृढ दृष्टिकोण के कारण वार्ता के दौरान तनाव के भी क्षण

आए। देसाई ने स्पष्ट शब्दों मे कार्टर को बतला दिया कि भारत न तो अणुअप्रसार संधि पर हस्ताक्षर करेगा न ही अमेरिका को अपने परमाणु सयत्रों की निगरानी का अधिकार देगा।[76] कार्टर को मोरारजी से यह अपेक्षा न थी। अस्तु उनका भारत के प्रति उत्साह कम हो गया यद्यपि यात्रा के अन्त मे जारी की गई दिल्ली घोषणा म आधारभूत स्वतत्रता और लोकतात्रिक पद्धति के प्रति दोनों देशों के सम्मान की पुष्टि करते हुए यह बात स्वीकार की गई कि अपनी राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक नीतियां स्वय निर्धारित करने का प्रत्येक राष्ट्र का अधिकार है। दोनों देशों ने आपसी विवादों के हल के लिये सौहार्दपूर्ण तरीके अपनाने का सकल्प लिया।[77]

यह तथ्य है कि कार्टर की यह यात्रा इसीलिये महत्वपूर्ण रही कि निक्सन प्रशासन स चले आ रहे भारत-अमरिकी मतभेदों तथा तदजनित तनावों को कम करते हुए सहज सामान्य सम्बन्ध बनाने की पेशकश हुई। फिर भी जैसी अपेक्षा व आशाए भारतीय जनता को थी, उसके अनुरूप कोई महती घटना इस यात्रा को नहीं माना जाएगा। प्राफेसर गाल ने इस यात्रा पर टिप्पणी करते हुए लिखा है

"राष्ट्रपति कार्टर भारत को कोई ठोस सहायता न दे सके थे। व तारापुर अणु सयत्र के लिए लम्बे अर्से तक यूरेनियम प्रदाय का पक्का वादा भी न कर सके थे। अत कुल मिला कर भारत यात्रा मे जनता के उत्साहपूर्ण स्वागत के बावजूद भी भारत-अमरिकी सबधों को वे भद्दे स्तर पर ही छोडकर चले गये।"[78]

यहा अमेरिका के प्रति निजी रूप से भारतीय प्रधानमत्री का कुछ भी दृष्टिकोण रहा हो, सैद्धान्तिक स्तर पर उनकी दृढता के कारण अणुनीति के सन्दर्भ मे राष्ट्रीय हितों को ही प्राथमिकता देते हुए कार्टर के समक्ष स्पष्ट तथा दो टूक बात रखी। जबकि देसाई के प्रधानमत्री बनने पर इस सन्दर्भ मे आशकाए की गई थी

"सन् 1977 ई मे श्रीमती गाधी की आम चुनाव मे पराजय के बाद मोरारजी देसाई की सरकार से वास्तविक गुटनिर्पेक्षता की नीति पर चलने की बहुत कुछ सभावना थी, विदेश नीति में अमेरिका से विनम्रता पूर्वक व्यवहार करने तथा भारत के अणु परीक्षा पर रोक की अमेरिकी इच्छा के पालन का भी इस काल मे अनुसरण किया गया था किन्तु भारत की पूर्ण सुरक्षा प्राप्ति की सभावनाओं पर यह सरकार दृढ रही थी।"[79]

कार्टर की सम्भवत उनके उद्देश्यों की दृष्टि से यह यात्रा सफल नहीं रही। यद्यपि कई समझौते इस यात्रा के साथ ही सम्पन्न हुए। किन्तु मतभेदों के भारत अमेरिकी इतिहास में आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी, शैक्षणिक क्षेत्रो मे अनगिनत समझौते हुए हैं फिर भी इस आधार पर सम्बन्धों मे मजबूती कभी नही आई।

कार्टर की भारत यात्रा के बाद प्रधानमत्री देसाई तथा विदेशमत्री वाजपेयी ने जून, 1978 में अमेरिका की यात्रा की। इस यात्रा मे भी विगत शीर्ष वार्ता की ही बातें दोहराई गई। अणु अप्रसार सधि पर हस्ताक्षर न करने तथा भारतीय आणविक सयत्रों पर

अमेरिकी निगरानी स्वीकार न करने के अपने विचार पुन देसाई ने व्यक्त किये।[80] यात्रा के अन्त मे जारी सयुक्त घोषणापत्र मे दोनों पक्षो ने अफ्रीकन लोगों के आत्म-निर्णय के वैध अधिकार का समर्थन करते हुए प्रजातिभेद के किसी भी रुप की निन्दा की।[81]

इस यात्रा के बाद भी तारापुर के लिये यूरेनियम की पूर्ति का प्रश्न सुलझाया नहीं जा सका।[82] देसाई ने हिन्द महासागर से भी सैन्य शक्ति को शीघ्र ही हटा लेने का आग्रह महाशक्तियों से किया।[83]

यहा यह उल्लेखनीय है कि भारतीय अतिथियो को अमेरिका मे विशेष महत्व राजकीय स्तर पर प्रदान नही किया गया। इस सन्दर्भ मे सोवियत सघ द्वारा भारतीय नेताओं को दिया गया महत्व अधिक प्रभावशाली था।

इस तरह हम देखते है कि जनता सरकार के युग मे यद्यपि भारत व अमेरिका के सम्बन्ध सामान्य हुए वह भी उस देश मे डेमोक्रेटिक राष्ट्रपति के सत्तारुढ होने के कारण। किन्तु फिर भी इन सम्बन्धों को सशक्त तथा अत्यधिक मैत्रीपूर्ण नही कहा जा सकता।

(4) आणविक नीति --

भारत की आणविक नीति के उद्देश्य बहुत स्पष्ट रहे है। भारत ने हमेशा शातिपूर्ण आणविक विस्फोट के अपने अधिकार को सुरक्षित रखते हुए आणविक शक्ति के सैनिक व [illegible]नक प्रयोग मे स्पष्ट अन्तर किया है। भारत चाहता है कि वर्तमान आणविक शस्त्रागार में कमी की जाए, आणविक शस्त्र परीक्षण पर रोक लगाते हुए पूर्ण नि शस्त्रीकरण के उद्देश्य की प्राप्ति की ओर बढा जाए। भारत, परमाणु अस्त्र निर्माण में निहित आर्थिक बोझ से पूर्णत परिचित है। अत भारत सरकार बार-बार दोहराती है कि वह परमाणु अस्त्रों का निर्माण नही करेगी।

जनता पार्टी के सत्तारुढ होने पर भी भारत की परमाणुनीति मे कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया गया। जनता पार्टी की आणविक नीति के चार आधार स्तम्भ थे .

1 भारत परमाणु शक्ति का उपयोग केवल शातिपूर्ण उद्देश्यों के लिये करेगा एव किसी भी हालत में आणविक अस्त्रों का निर्माण नहीं करेगा।

2 भारत अणु-अप्रसार सधि पर तब तक हस्ताक्षर नही करेगा जब तक परमाणु शक्तिया अपने परमाणु हथियारों को त्याग नहीं देतीं।

3 भारत स्वयत्तशासी एव नियत्रित घरेलु आणविक सुविधाओं के जाच की अनुमति प्रदान नहीं करेगा। तथा,

4 जनता सरकार शातिपूर्ण आणविक विस्फोट की उपयोगिता पर प्रश्न-चिन्ह लगाते हुए भविष्य में शातिपूर्ण विस्फोट नहीं करेगी।[84]

जनता सरकार की अणुनीति के पहले तीन आधार पूर्व-सरकार की नीति से पूर्णत मेल खाते हैं किन्तु चौथे आधार के सम्बन्ध में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। श्रीमती

गाधी ने यद्यपि दूसरे अणु विस्फोट की सम्भावना पर विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि "जब इस तरह की आवश्यकता अनुभव की जाएगी तभी दूसरा विस्फोट किया जाएगा। इस तरह उन्होंने अपने परमाणु विस्फोट विकल्प को पूर्णत खुला रखा था।"[85]

नई सरकार ने शातिपूर्ण उद्देश्यो के लिये आणविक विस्फोट पर प्रतिबन्ध लगाकर विपक्ष की आलोचना के रास्ते खोल दिये।

भारत की परमाणु नीति के सम्बन्ध मे तीन महत्त्वपूर्ण सवाल उठते हैं।
पहला -- क्या पोखरन विस्फोट के बाद से भारत को एक परमाणु शक्ति माना जाए ?
दूसरा -- क्या भारत को परमाणु-अप्रसार संधि या इसी तरह की अन्य व्यवस्था मे सम्मिलित होकर अप्रसार के उद्देश्यों को प्राप्त करने मे सहभागी होना चाहिए ? तथा
तीसरा -- वे कौनसे दबाव हैं जो भारत को आणविक शक्ति के सैनिक प्रयोग के विकल्प को चुनने को प्रेरित कर सकते है ?

1974 में भारत ने परमाणु विस्फोट किया किन्तु उसकी सामरिक सम्भावनाओ से जब इनकार कर दिया तब एक असहज स्थिति का निर्माण हुआ था। पहली बार किसी देश ने अपनी आणविक तकनीकी का उपयोग सैन्य उद्देश्यों के लिये न करते हुए शातिपूर्ण उद्देश्यों के लिये किया था। वर्तमान विश्व की पाँचों परमाणु शक्तियो ने घोषित रूप से अपने परमाणु कार्यक्रमों का उद्देश्य अपनी सैनिक शक्ति मे वृद्धि करना बताया था। और बाद मे इस शक्ति के शातिपूर्ण उपयोग के महत्व का प्रतिपादन किया था। इसलिये दुनिया के देशों को भारत के परमाणु शक्ति के उपयोग के सम्बन्ध मे घोषित नेक इरादों को समझने तथा स्वीकारने मे कठिनाई होती है।

भारतीय परमाणु उर्जा आयोग के अध्यक्ष ने भारतीय आणविक नीति के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था कि, अगर भारत के परमाणु हथियार बनाने के पीछे सैनिक उद्देश्य होते तो वह विस्फोट के प्रभाव का विश्लेषण करने के लिये भूमि की अपेक्षा अन्तरिक्ष मे विस्फोट करता।[86] यहाँ यह दोहराने की आवश्यकता नही है कि भूमिगत विस्फोट के उर्जा, गर्मी व धमाके की शक्ति व प्रभाव का अध्ययन नही किया जा सकता है।

प्रधानमंत्री देसाई ने समय-समय पर अपनी सरकार की परमाणु अस्त्र नही बनाने की नीति पर बल दिया है। एक जर्मन पत्र के संवाददाता को दी गई भेंट मे देसाई ने कहा था कि "मैं आपको लिख कर दे सकता हूँ कि हम परमाणु अस्त्र नही बनाएगे। यदि सारी दुनिया भी बम बना ले तो भी हम वैसा नही करेंगे। यदि मेरे देश के लोग मुझ पर बम बनाने के लिये दबाव डालेंगे तो मैं अपने पद से इस्तीफा दे दूँगा।"[87]

अपने इसी दृष्टिकोण को और अधिक स्पष्ट करते हुए देसाई ने लोकसभा मे कहा था कि "भारत शातिपूर्ण कार्यो के लिये अब और परमाणु विस्फोट करना आवश्यक नही समझता। उनके अनुसार पोखरन मे किया गया परमाणु परीक्षण वैज्ञानिक कम, राजनीतिक

अधिक था। जिसके कारण वैज्ञानिक जानकारी मे कोई विशष वृद्धि नही हुई। मै मानता हूँ कि उसके विस्फोट द्वारा प्राप्त जानकारी स जितना लाभ हुआ है इसस अधिक क्षति अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत का धक्का लगन स हुआ है। तथा उसक परिणाम स्वरुप हमार शातिपूर्ण परमाणु अनुसधान और विकास क कार्य पर भी असर पडा है।"[88]

परमाणु अप्रसार सधि पर अपन दृष्टिकोण की व्याख्या करत हुए देसाई ने अमरीकी दूरदर्शन को एक भेंट म कहा कि जब तक पश्चिम क परमाणु आयुध सम्पन्न राष्ट्र निम्नलिखित शर्ते नही मानग, भारत न तो सधि पर हस्ताक्षर करगा न ही अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु निगरानी स्वीकार करगा। ये चार शर्ते है --

1 समस्त परमाणु आयुध सम्पन्न राष्ट्र परमाणु परीक्षण बन्द कर।
2 व अपने परमाणु हथियारो की सख्या बढाना बन्द कर।
3 उनके पास जो भी परमाणु हथियार है उन्ह खत्म करे।
4 व स्वत अपने परमाणु सयत्रो पर अन्तर्राष्ट्रीय निगरानी स्वीकार कर।[89]

विदेशमत्री वाजपेयी न परमाणु विस्फोट क बार म अपनी सरकार की नीति को स्पष्ट करत हुए कहा था कि -- परमाणु विस्फोटो क बार म हम सारी दुनिया म घोषणा करेंगे कि देखिये, हम शातिपूर्ण कार्यो क लिय य विस्फोट या अन्य विस्फोट या धमाका करेंगे और यदि कोई उन्ह दखना चाहता है तो उनका स्वागत है। यह हमारी नीति है भारत अपने परमाणु विकल्पो का हमेशा के लिय बन्द नही कर सकता था। जहा तक परमाणु हथियारो से होने वाल लाभो का प्रश्न है आप जानत है कि म उस पार्टी का सदस्य हूँ तो बम-समर्थक थी।[90]

इस तरह हम देखत हैं कि जनता-शासन काल म जनता सरकार क इन दोनो नेताओं के वक्तव्यो म विरोधाभास था। प्रधानमत्री किसी भी स्थिति म बम विस्फोट के विरोधी थे जबकि विदेशमत्री श्रीमती गाधी की तरह परमाणु विस्फोट क शातिपूर्ण उद्देश्यो के लिय परमाणु विस्फोट के पक्षधर थ।

संदर्भ-सूची

1 टेक्स्ट ऑफ द जनता पार्टीज इलेक्शन मेनीफेस्टो, द टाइम्स ऑफ इडिया, 11 फरवरी, 1977।
2 प्रस्तावना, रिपोर्ट, भारत सरकार, विदेश मत्रालय नई दिल्ली, 1977-78।
3 -वही-
4 जनता पार्टी घोषणापत्र के मूल पाठ से टाइम्स ऑफ इडिया -- 11 फरवरी, 1977।

5 टाइम्स ऑफ इंडिया -- 25 मार्च, 1977।
6 इंडियन एण्ड फारन रिव्यू -- 1 अप्रैल 1977, पृष्ठ 16।
7 -वही-
8 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 30 जून, 1977।
9 -वही- 12 अगस्त, 1971।
10 राजन, एम एस उद्धृत - मिश्रा के पी - जनताज फॉरेन पॉलिसी पृष्ठ 20।
11 वाजपेयी, अटल बिहारी न्यू डाइमेंशन्स ऑफ इंडियन फॉरेन पॉलिसी, वीजन बुक 1979 पृष्ठ 34।
12 हिन्दुस्तान टाइम्स (नई दिल्ली) -- 2 अप्रैल 1977।
13 फॉरेन अफेयर्स रेकार्ड जून 1977 पृष्ठ 91-92।
14 -तथैव- पृष्ठ 107।
15 उद्धृत -- मार्गेट अल्वा -- जनताज फारेन पालिसी ए क्रिटिक पीस एण्ड सोलिडेरिटी खण्ड-9 सितम्बर 1978 पृष्ठ 19।
16 द टाइम्स आफ इंडिया -- 31 मार्च, 1977।
17 द इंडियन एक्सप्रेस -- 28 नवम्बर, 1977।
18 रामचन्द्रन के० एन० -- साइनो-इंडियन रिलेशन्स उद्धृत -- मिश्रा के० पी० (सम्पादित) -- जनताज फारेन पालिसी विकास 1979 पृष्ठ 200।
19 -वही-
20 रामचन्द्रन क एन , पूर्वोक्त पृष्ठ 199।
21 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 20 अक्टोबर 1978।
22 द टाइम्स आफ इंडिया -- 31 अक्टोबर 1978।
23 -वही- 13 फरवरी, 1979।
24 इंडियन एक्सप्रेस -- 14 फरवरी, 1979।
25 टाइम्स आफ इंडिया -- 15 फरवरी, 1979।
26 -वही- 19 फरवरी, 1979।
27 टाइम्स आफ इंडिया -- 20 फरवरी 1979।
28 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 22 फरवरी, 1979।
29 द टाइम्स आफ इंडिया -- 22 फरवरी 1979।
30 -वही-
31 रिपोर्ट, विदेशमंत्रालय भारत सरकार 1977 - 78 पृष्ठ 19।
32 इंडियन एण्ड फारन रिव्यू -- 15 फरवरी, 1978 अंक-15 क्र०-9 पृष्ठ 7।
33 उद्धृत - जयरामुलु, पी० एम० -- इंडियन जर्नल आफ पालिटिकल स्टडीज, खण्ड-3, क्र०-1, जनवरी, 1979, पृष्ठ 74।

34 गगल, एस० सी० -- सक्सेसफुल विजिट, इंडियन एक्सप्रेस, 14 फरवरी, 1978।
35 द टाइम्स आफ इंडिया -- 12 अप्रैल, 1978।
36 जयरामुलु -- पूर्वोक्त, पृष्ठ 74।
37 रिपार्ट, विदेश मत्रालय, भारत सरकार, 1977-78, पृष्ठ 15।
38 देसाई, उद्धृत -- जयरामुलु, पूर्वोक्त, पृष्ठ 75।
39 रिपोर्ट, विदेश मत्रालय भारत सरकार, 1977-78 पृष्ठ 16।
40 द इकॉनामिक टाइम्स (बम्बई) 13 दिसम्बर, 1977।
41 टाइम्स आफ इंडिया -- 14 अप्रैल, 1978।
42 रिपोर्ट, विदेशमत्रालय भारत सरकार, 1977-78 पृष्ठ 16।
43 -वही- पृष्ठ 17।
44 -वही- पृष्ठ 15।
45 पेट्रियाट -- 14 मार्च 1977।
46 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 23 मार्च, 1977।
47 द टाइम्स आफ इंडिया -- 26 मार्च, 1977।
48 द टाइम्स आफ इंडिया -- 6 अप्रैल, 1977।
49 रिपोर्ट, विदेशमत्रालय, भारत सरकार, 1977-78, पृष्ठ 36।
50 द टाइम्स आफ इंडिया -- 27 अप्रैल, 1977।
51 पेट्रियाट -- 19 जून, 1977 तथा गगल, एस० सी० -- ट्रेण्ड्स इन इंडियाज फारेन पालिसी, उद्धृत -- मिश्रा, के० पी० -- जनताज फारेन पालिसी, 1979, पृष्ठ 3।
52 रिपोर्ट, विदेशमत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1977-78, पृष्ठ 36।
53 द टाइम्स आफ इंडिया -- 22 अक्टोबर, 1977।
54 -वही- 23 अक्टोबर, 1977।
55 सयुक्त घोषणा का मूल पाठ - द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 27 अक्टोबर 77।
56 टाइम्स आफ इंडिया -- 14 सितम्बर, 1978।
57 हिन्दुस्तान टाइम्स -- 13 सितम्बर 1978।
58 -वही- 3 मार्च, 1979।
59 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 10 मार्च, 1979।
60 द टाइम्स आफ इंडिया -- 10 मार्च 1979।
61 -वही-
62 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 16 मार्च 1979।
63 वैदिक, वेदप्रताप -- भारतीय विदेशनीति नये दिशा सकेत, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1980, पृष्ठ 69।
64 -वही-

65 टाइम्स आफ इंडिया -- 16 मार्च, 1979।
66 -वही- 23 जनवरी, 1979।
67 वैदिक, वेदप्रताप -- पूर्वोक्त। पृ 69
68 हिन्दुस्तान टाइम्स -- 13 जून, 1979।
69 टाइम्स आफ इंडिया -- 13 जून, 1979।
70 -वही- 15 जून, 1979।
71 रिपोर्ट, विदेश मंत्रालय, भारत सरकार, 1977-78, पृष्ठ 40।
72 इंडियन एण्ड फारेन रिव्यू -- 1 अगस्त, 1977 पृष्ठ 8।
73 रिपोर्ट, विदेश मंत्रालय, भारत सरकार, 1977-78, पृष्ठ 40।
74 -वही-
75 -वही-
76 टाइम्स आफ इंडिया -- 3 जनवरी 1978।
77 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 4 जनवरी, 1978।
78 गगल एस सी - ट्रेण्ड्स इन इंडियाज फारेन पॉलिसी कांट्रड फ्राम - मिश्रा - के० पी० (एड) जनताज फारेन पॉलिसी"
79 गौतम, आर एस, न्यूक्लियर पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान कॉटिल्य जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइस, खंड 1, अंक 1, जुलाई 1982, पृष्ठ 44।
80 द टाइम्स आफ इंडिया -- 16 जून, 1978।
81 -वही-
82 इंडियन एक्सप्रेस -- 16 जून, 1978।
83 -वही-
84 चारी, पी० आर० - इंडियाज न्यूक्लियर पॉलिसी उद्धृत -- मिश्रा, के० पी० -- जनताज फारेन पालिसी, पृष्ठ 61।
85 द हिन्दू (मद्रास) -- 7 मई, 1976।
86 रिपोर्ट, आणविक उर्जा विभाग उद्धृत -- चारी, पी० आर० - -पूर्वोक्त-
87 टाइम्स आफ इंडिया -- 22 जून 1977।
88 द ट्रिब्यून -- 1 अगस्त, 1977।
89 स्टेट्समैन -- 5 जनवरी, 1978।
90 ब्लिट्ज -- 3 फरवरी, 1979।

अध्याय - 6

1980 के बाद भारतीय विदेशनीति
कम्पूचिया को मान्यता
अफगानिस्तान का प्रश्न
पड़ौसी देशों के प्रति भारतीय नीति
अमेरिका से संवाद
सोवियत संघ के प्रति नीति
गुटनिरपेक्ष सम्मेलन · आन्दोलन के नेतृत्व का दायित्व

1980 के बाद भारतीय विदेशनीति

1 कम्पूचिया को मान्यता
2 अफगानिस्तान का प्रश्न
3 पड़ौसी देशों के प्रति भारतीय नीति
4 अमेरिका से सवाद
5 सोवियत सघ के प्रति नीति
6 गुटनिरपेक्ष सम्मेलन आन्दोलन के नेतृत्व का दायित्व

जुलाई, 1979 में जनता-सरकार अपने दल के आन्तरिक सघर्ष का शिकार होकर सत्ता-विहीन हो गई तथा दल का विभाजन हो गया। अगस्त, 1979 में केन्द्र मे चरणसिंह के नेतृत्व में स्वतत्रता के बाद की प्रथम कार्यवाहक सरकार सत्तारूढ हुई। जनता सरकार के समापन के साथ ही विदेशनीति में आशिक परिवर्तन की शैली भी समाप्त हो गई।

चरणसिंह की सरकार कार्यवाहक सरकार थी, इसलिये राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों पर उसे महत्वपूर्ण निर्णय लेने का अधिकार नहीं था। श्यामनन्दन मिश्र को विदेशमत्री बनाया गया। इस काल को हम भारतीय विदेशनीति का भी निष्क्रिय अथवा शून्यकाल कहा जा सकता है। यद्यपि इस बीच सितम्बर, 1979 में हवाना मे गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का छठा सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन मे पहली बार भारत की भूमिका नगण्य रही। सम्मेलन ने कोलम्बो प्रस्तावो की ही भावना का अनुसरण करते हुए विभिन्न प्रस्ताव पारित किये। इसके अतिरिक्त इस काल की महत्वपूर्ण घटना अफगानिस्तान मे सोवियत सैन्य हस्तक्षेप के रूप मे दिसम्बर, 1979 में घटी। भारत के प्रधानमत्री ने सोवियत हस्तक्षेप को अनुचित ठहराया।[1] इसके अतिरिक्त विदेशनीति के सन्दर्भ में कोई उल्लेखनीय घटना नही घटी।

जनवरी, 1980 में लोकसभा के आमचुनाव हुए। 1977 की विजयी सयुक्त जनता पार्टी विभाजित हो चुकी थी तथा इस विभाजन ने स्वतत्रता के बाद पहली बार केन्द्र मे राजनीतिक अस्थिरता का दृश्य उपस्थित हुआ था। श्रीमती गाधी ने इस 'राजनीतिक अस्थिरता' को ही चुनाव का प्रमुख मुद्दा बनाया तथा देश को राजनीतिक स्थायित्व एव एकता प्रदान करने का सकल्प मतदाताओं के समक्ष रखा। विभाजित जनता पार्टी

मत-विभाजन के व्यापक प्रभाव के कारण चुनावों में बुरी तरह पराजित हो गई। 1977 के चुनावों में संयुक्त कांग्रेस को 154 स्थानों पर सफलता मिली थी जबकि जनता पार्टी 298 स्थानों पर विजयी रही थी। 1980 के चुनावों मे कांग्रेस आई ने 351 स्थानों पर विजय प्राप्त करते हुए अद्भुत सफलता अर्जित की जबकि जनता पार्टी केवल 31 स्थानों पर विजयी रही। लोकदल ने तो जनता पार्टी से अलग हुआ था 41 स्थान प्राप्त किये। कांग्रेस (यू) को 13 स्थान मिले।[2] शेष स्थानों पर निर्दलीय तथा अन्य दल विजयी रहे।

इन चुनावों के बाद श्रीमती गांधी पुन एक सशक्त प्रधानमंत्री के रूप में सत्तारूढ हुईं। उन्होंने चुनावों में जनता सरकार की विदेशनीति की भी आलोचना करते हुए दावा किया था कि उस अवधि में विश्व में भारत की प्रतिष्ठा कम हुई थी। जनता सरकार ने विदेशनीति क्रियान्वयन में राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करते हुए पडोसी राष्ट्रों से सम्बन्धों को सामान्य बनाने की असफल कोशिश की। यह उनका मत था।

श्रीमती गांधी ने सत्तारूढ होने के बाद पुन 1977 मे छोड़ी हुई विदेशनीति को अपनी ही शैली मे क्रियान्वित करना प्रारम्भ हुआ। पी० वी० नरसिंहराव को विदेशमंत्री बनाया गया तथापि विदेशनीति के महत्वपूर्ण विभाग पर प्रधानमंत्री ने पुन इस कार्यकाल मे भी विशेष ध्यान देना प्रारम्भ किया। यह कहा जा सकता है कि अपने इस कार्यकाल मे श्रीमती गांधी ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे भारत की भूमिका को और अधिक गतिशील रूप प्रदान किया। सोवियत संघ से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का युग पुन तेजी से प्रारम्भ हुआ, यद्यपि जनता सरकार भी अमेरिका की अपेक्षा सोवियत संघ के अधिक निकट ही रही फिर भी अफगानिस्तान और कम्पूचिया जैसे प्रश्नो पर इस सरकार ने सोवियत संघ के प्रति स्पष्टवादिता बरती थी। श्रीमती गांधी के सत्तारूढ होने के बाद भारत की कम्पूचिया तथा अफगानिस्तान नीति मे परिवर्तन दृष्टिगत हुआ। श्रीमती गांधी ने अमेरिका की यात्रा कर सम्बन्धों सामान्य और सहज बनाने का प्रयत्न किये। वे सोवियत संघ भी गई मैत्री को और प्रगाढ बनाया। चीन, पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका, नेपाल, भूटान आदि देशों से संवाद स्थापित किये, निकटता के प्रयत्न भी किये। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में भारत की भूमिका का विस्तार हुआ। अब तक की अपेक्षा अधिक दायित्व भारत का प्राप्त हुआ। दक्षिण-पूर्व एशिया, पश्चिम एशिया, यूरोप आदि के देशों की यात्रा कर सम्बन्धों को मजबूत बनाने, विश्व में तनाव की कमी करने, नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को मूर्तमान करने के प्रयासों को तीव्रता प्रदान की। सम्पन्न और विपन्न राष्ट्रों के बीच हुए उत्तर-दक्षिण संवाद में अपनी भूमिका निभाई। संयुक्त राष्ट्र तथा राष्ट्र मंडल के मंचों से गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के अध्यक्ष के रूप में वर्तमान विश्व में विद्यमान समस्याओं के हल के लिये अपनी बात रखी। कहा जा सकता है कि प्रधानमंत्री इन तीन वर्षों की अवधि में अपने पूर्व कार्यकाल की अपेक्षा अधिक सक्रिय रही।

अब 1980 से अब तक घटित भारतीय विदेशनीति की उपर्युक्त घटनाओं में से महत्वपूर्ण मुद्दों का विश्लेषण करेंगे।

(1) कम्पूचिया को मान्यता --

श्रीमती गाधी के सत्तारूढ होने के पूर्व महाशक्तियों तथा चीन की राजनीति, दक्षिण एशिया तथा हिंदचीन में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास कर रही थी। कम्पूचिया सकट भी इसी प्रभाव स्पर्धा के प्रयासों का एक परिणाम था। कम्पूचिया मे चीन समर्थक पोलपोट सरकार ने नृशस अत्याचारो का एक लम्बा दौर चलाकर 20 लाख लोगों को अपनी स्वेच्छाचारी नीतियो के कारण मौत के घाट उतार दिया था।[3] उधर वियतनाम सोवियत सघ का मित्र देश होने से कम्पूचिया से निरन्तर दो वर्षो तक सघर्ष की मुद्रा में रहा। इधर कम्पूचिया मे साम्यवादी मुक्ति मोर्चे तथा सिहानुक की सेनाओं के मध्य गृहयुद्ध की स्थिति बनी रही। इस गृहयुद्ध मे चीन, पोलपोत सरकार को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करता रहा। साथ ही कम्पूचिया, चीन-समर्थन से वियतनाम पर निरन्तर आक्रमण करता रहा और जब सघर्ष चरम पर पहुचा तो 7 जनवरी, 1979 को वियतनाम की सेनाओ ने कम्पूचिया की राजधानी नामपेन्ह पर आक्रमण करते हुए उस पर अधिकार कर लिया तथा साम्यवादी मुक्ति मोर्चे की सरकार हेग सामरिन के नेतृत्व मे स्थापित कर दी।[4] इस युद्ध मे पोलपोत सरकार पराजित हुई। उसके बाद भी पोलपोत समर्थक सेनाए सामरिन सरकार की सेनाओ से छापामार तथा गुरिल्ला युद्ध करती रही। धीरे-धीरे सामरिन सरकार का जो यद्यपि विदेशी सैन्य सहयोग से बनी तथा प्रतिनिधिक सरकार नही थी, कम्पूचिया के बडे भाग पर कब्जा हो गया। इसी बीच चीन ने वियतनाम पर भी आक्रमण कर दिया लेकिन यह आक्रमण अपने उद्देश्यो मे असफल रहा। जनता सरकार ने सामरिन सरकार को मान्यता प्रदान नही की थी। जनता सरकार, चीन से मैत्री के प्रयास कर रही था तथा कम्पूचिया का प्रश्न चीन की प्रतिष्ठा से जुडा हुआ था। प्रारम्भ में प्रधानमत्री देसाई ने यह अवश्य कहा था कि भारत, सामरिन सरकार के मान्यता के आग्रह को स्वीकार कर लेगा।[5] जब कम्पूचिया की ओर से यह आग्रह किया गया[6] तो इस आधार पर मान्यता का प्रश्न टाल दिया गया कि पोलपोत की कुछ फौजें मुक्ति मोर्चे से सघर्ष कर रही थीं।[7] और अन्तत भारत ने मान्यता उस समय प्रदान नहीं की। इसके बाद 1 वर्ष के अन्तराल मे सामरिन की सरकार का प्रभुत्व स्थापित हो गया। यद्यपि वियतनाम की सेनाए वापस नही गई किन्तु यह उन दोनो के मध्य का आन्तरिक मामला था।

अन्तत श्रीमती गाधी की सरकार ने कम्पूचिया की हेग सामरिन सरकार को मान्यता प्रदान कर दी।[8]

मान्यता की घोषणा करते हुए विदेशमंत्री पी० वी० नरसिंहाराव ने हर्षध्वनि के बीच लोकसभा में कहा कि "हम यथाशीघ्र हेंग सामरिन के नेतृत्व में गठित नामपेन्ह की जनवादी गणतांत्रिक कम्पूचियाई सरकार से राजनयिक सम्बन्धों की स्थापना कर रहे हैं।"[9]

कम्पूचिया को भीषण चुनौतियों का सामना करने के लिये विश्व समुदाय के हर सम्भव सहयोग की आवश्यकता है। इसी के यह देश अपनी अर्थव्यवस्था का विकास, आन्तरिक संसाधनों की पुनर्स्थापना तथा सम्प्रभु, स्वतंत्र एवं असंलग्न राष्ट्र के रूप में स्थापित हो सकेगा।[10]

दक्षिण-पूर्व एशिया की चर्चा करते हुए विदेशमंत्री ने कहा कि दक्षिण पूर्व एशिया में तनाव में कमी करने तथा क्षेत्रीय स्थिरता का विस्तार करने की आवश्यकता है जिससे उस क्षेत्र के सभी देश अपने समाज तथा अर्थव्यवस्थाओं के विकास के लक्ष्य प्राप्त कर सकें।[11]

इस तरह भारत ने कम्पूचिया को मान्यता प्रदान कर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से भी उसे सहयोग की अपील की। संयुक्त राष्ट्र में कम्पूचिया के प्रश्न पर हुई बहस में भी भारतीय प्रतिनिधि ब्रजेश मिश्रा ने कम्पूचिया के प्रति भारतीय मैत्री का उल्लेख करते हुए सामरिन सरकार का समर्थन किया।[12]

इस तरह हम देखते हैं कि सरकार परिवर्तन का प्रभाव कम्पूचियाई नीति में परिवर्तन के रूप में हुआ। भारत और कम्पूचिया के मध्य कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना हुई। यद्यपि कम्पूचिया की मान्यता के निर्णय के प्रति अन्य राष्ट्रों के अतिरिक्त गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के एक समूह ने भी विरोध किया किन्तु भारतीय नीति यथार्थवादी तथा राष्ट्रीय हितों पर आधारित ही रही।

(2) अफगानिस्तान का प्रश्न --

1980 के पूर्व के दो वर्षो में अफगानिस्तान निरन्तर सत्ता परिवर्तनों के दौर से गुजर रहा था। 1978 अप्रैल तक मोहम्मद दाऊद राष्ट्रपति थे जिनसे भारत के सहज सामान्य सम्बन्ध थे। अप्रैल, 1978 में अफगानिस्तान में हुई एक हिंसक क्रान्ति में दाउद की हत्या कर दी गई और उसके स्थान पर साम्यवादी गुट के नेता नूर मोहम्मद तरक्कई राष्ट्रपति बने। भारत ने तरक्कई की सरकार को कूटनीतिक मान्यता भी प्रदान कर दी। तरक्कई सरकार में बाबरक करमाल प्रधानमंत्री थे तथा हफीजुल्ला अमीन विदेशमंत्री। बहुत शीघ्र ही अमीन निरंकुश शक्ति की ओर बढ़ने लगे और एक के बाद एक उन्होंने साम्यवादी दल में अपने खल्की गुट को मजबूत करते हुए परचिमी नेताओं को सरकार से हटाना प्रारम्भ कर दिया। जिसमें बाबरक करमाल सहित सभी महत्त्वपूर्ण नेता थे। इन्हें हटाने के बाद अमीन ने तरक्कई को अपने रास्ते से हटाया। तरक्कई सोवियत समर्थक थे। 14 सितम्बर, 79 को तरक्कई की हत्या कर दी गई।[13] राष्ट्रपति अमीन ने सत्ता सम्भाली। किन्तु 27 सितम्बर, 79 को अमीन की भी हत्या कर दी गई और बाबरक

करमाल प्रधानमंत्री बने। 27 सितम्बर, 1979 की रात्रि को ही सोवियत संघ के हजारों सैनिक अफगानिस्तान की सीमा में प्रवेश कर गए तथा अफगानिस्तान के प्रमुख नगरों पर नियत्रण कर लिया।

"27 सितम्बर की रात्रि के समय अफगानिस्तान के राज्याध्यक्ष हाफिजुल्ला अमीन का तख्ता पलट दिया गया था विद्रोहियों ने उन्हें पद च्युत करके करमाल के हाथों राज सत्ता सौंप दी थी, उसी समय सोवियत संघ के हवाई सैनिक अफगानिस्तान में घुस आये थे, अगले महीने की शुरुआत से सोवियत सैनिकों ने अफगानिस्तान के प्रमुख नगरों में डेरा डाल दिए थे। सोवियत सैनिकों ने काबुल के हवाई अड्डे बगराम पर सैनिक सुरक्षा तैनात कर दी थी और शहर की प्रमुख सड़कों पर गश्त लगाना आरम्भ कर दिया था।"[14]

सोवियत संघ ने अपनी सैन्य कार्यवाही को उचित घोषित करते हुए कहा कि राष्ट्रपति ने सोवियत-अफगान संधि के प्रावधानों के अन्तर्गत सोवियत सेनाओं को सहयोग के लिये बुलाया था। इसकी पुष्टि 29 दिसम्बर 79 को बाबरक करमाल ने सत्तारूढ होने के बाद की।[15]

इसके बाद सोवियत सेनाओं ने करमाल सरकार की सहायता करते हुए अफगान विद्रोहियों का सफाया करना प्रारम्भ कर दिया, जिन्होंने तर्जी से पाकिस्तान में शरण ली।

अफगानिस्तान में सोवियत संघ की इस सैनिक कार्यवाही की विश्वभर में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। सोवियत संघ ने पूर्व में 1956 में हंगरी तथा 1968 में चेकोस्लोवाकिया में इसी तरह का सैन्य-हस्तक्षेप किया था किन्तु वे वारसा संधि के देश थे। अफगानिस्तान एक असलग्न राष्ट्र था तथा सोवियत संघ से उसकी पारम्परिक मैत्री थी इसीलिये सोवियत संघ को इस कार्यवाही के लिये विश्व जनमत में प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। यहा उसका विस्तार आवश्यक नहीं। हम इस सकट के प्रति भारतीय नीति की समीक्षा करेंगे।

इस समस्या के प्रश्न पर भारत की नीति में निरन्तर परिवर्तन हुआ है। सकट के समय तो प्रधानमंत्री चरणसिंह थे जिन्होंने सोवियत संघ के सैन्यहस्तक्षेप को अनुचित घोषित करते हुए सोवियत संघ से सेनाएं लौटाने की अपील की थी।[16] 27 दिसम्बर, की रात्रि में ही भारत में सोवियत राजदूत ने विदेशसचिव आर डी साठे को सूचित किया था कि अफगानिस्तान के राजनेताओं के हस्तक्षेप को रोकने के लिए सोवियत-सैनिकों को अफगानिस्तान में भेज दिया गया है।

श्रीमती गांधी की चुनाव में विजय तथा प्रधानमंत्री का पद संभालने के पूर्व संयुक्त राष्ट्र महासभा में इस सकट पर भारत की ओर से कहा कि "इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अफगानिस्तान में सोवियत सेनाएं अफगान-सरकार के आग्रह पर गई है, हम आशा करते हैं कि सोवियत सेनाएं वहां अधिक समय तक नहीं रहेंगी।"[17] यही नहीं भारत ने संयुक्त राष्ट्र द्वारा सोवियत हस्तक्षेप के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा पारित प्रस्ताव के मतदान में भाग नहीं लिया।[18] लेकिन भारत की नीति में समस्या के विभिन्न पहलुओं

से परिचय होने के बाद निरन्तर परिवर्तन होता चला गया।

"23 जनवरी, 1980 को लोकसभा में विदेशमंत्री ने कहा कि, प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि हम किसी भी देश में विदेशी सेनाओं तथा अड्डों की उपस्थिति के विरोधी हैं। हमने आशा व्यक्त की है कि अफगानिस्तान से सोवियत सेनाएं हटा ली जाएगी।"[19]

इसके बाद भारत ने पहले अफगानिस्तान में किसी भी किस्म के विदेशी हस्तक्षेप का विरोध करने की नीति निरन्तर घोषित की। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सन्दर्भ में विश्वमचों पर श्रीमती गांधी लगातार कहती रही हैं कि हम अफगानिस्तान में किसी किस्म का विदेशी हस्तक्षेप नहीं चाहते। 1982 में अमेरिका की यात्रा के समय भी कहा था कि भारत ने सोवियत संघ के अफगानिस्तान में हस्तक्षेप की सार्वजनिक रूप से आलोचना की है। किन्तु उन शब्दों का प्रयोग नहीं किया है जो पश्चिमी देश करते है।[20] सेनाओं की वापसी के प्रश्न पर भी श्रीमती गांधी ने कहा कि यदि किसी भी रूप से समस्या के हल हेतु वार्ता प्रारम्भ हुई तो सोवियत संघ की वापसी के अवसर बढ़ेंगे।[21]

यहां तक कि अपनी सोवियत संघ की यात्रा के समय भी श्रीमती गांधी ने सोवियत संघ से अनुरोध किया कि अफगानिस्तान की समस्या का शीघ्र ही शांतिपूर्ण समाधान खोजा जाना चाहिए तथा सेनाएं वापस बुला ली जानी चाहिए।[22]

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के मंच पर भी श्रीमती गांधी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि, भारत अफगानिस्तान में विदेशी सैन्य उपस्थिति तथा किसी भी किस्म के हस्तक्षेप का विरोधी है। इस तरह भारत ने राष्ट्रीय हितों के आधार पर अफगानिस्तान के प्रश्न पर अपनी नीति विकसित की है। इस नीति के औचित्य को भी समझना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इस तरह की कई घटनाएं घटित हुईं। इन घटनाओं में सभी देशों ने जो दृष्टिकोण अपनाया है वह हमेशा सापेक्षिक ही रहा है। फॉकलैण्ड पर ब्रिटेन का आक्रमण, वियतनाम पर वर्षों तक अमेरिकी बमबारी, ग्रेनेडा में अमेरिका का हस्तक्षेप, अलसल्वाडोर का प्रश्न ऐसे कई प्रश्न हैं जिनमें पश्चिम की वे ही शक्तियां अपराधी रही है जिन्होंने सोवियत संघ के अफगानिस्तान में हस्तक्षेप का तूफान खड़ा करने की कोशिश की। इस हस्तक्षेप के राजनीतिक प्रश्न को मास्को ओलंपिक से जोड़कर खेलों का बहिष्कार करते हुए खेल-भावना पर प्रहार किये।

भारत की अफगान-नीति भी उसके राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करके नहीं बनाई जा सकती थी। अफगानिस्तान में 'सोवियत हस्तक्षेप' का लाभ उठाकर 'पाकिस्तान' को आधुनिकतम शस्त्रों से सुसज्जित करने की जो स्पर्धा चल रही है वह क्या भारत के विरुद्ध भावी तैयारी का प्रतीक नहीं है ? अरबों डालर की सैनिक सहायता या एफ - 16 से हारपून मिसाइलों का उपयोग पाकिस्तान, चीन, ईरान अथवा सोवियत संघ जैसे पड़ौसियों के विरुद्ध करेगा ? क्या पाकिस्तान में सोवियत शक्ति से टक्कर लेने का साहस

है ? इन सब प्रश्नों का नकारात्मक उत्तर है। पाकिस्तान, चीन व अमेरिका की धुरी का जब एक बार फिर अफगानिस्तान के सन्दर्भ में निर्माण होता दिखाई दिया तो भारत को अपने निकट अतीत के कड़वे अनुभवों का स्मरण हो आना अस्वाभाविक तो नहीं कहा जा सकता। अफगान विद्रोहियों का यदि इस धुरी के राष्ट्रों द्वारा सैन्य सहयोग दिया जाना बंद कर दिया जाए तो सोवियत संघ की सेनाएं क्यों व्यर्थ अपना अस्तित्व वहां बनाए रखेंगी। चारों ओर से घेराबंदी के बाद सोवियत संघ की सुरक्षा क्या अफगानिस्तान की धरती पर चीनी-अमेरिकी प्रभुत्व की स्थापना से खतरे में नहीं पड़ जाएगी। यही कारण था कि भारत ने अपनी नीति सोच-समझकर ही विकसित की। भारत ने सोवियत सेना के अफगानिस्तान में बने रहने का समर्थन कभी नहीं किया है। सदैव ही यह स्पष्ट किया है कि वहां किसी भी किस्म का विदेशी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। आशय यही है कि यदि सोवियत हस्तक्षेप नहीं हो तो पाक-चीन-अमेरिकी धुरी को भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सिद्धान्ततः हस्तक्षेप गलत है। यदि सभी हस्तक्षेप कर रहे हों तो फिर उसकी 'मात्रा' का प्रश्न उतना महत्व नहीं रखता। श्रीमती गांधी ने कहा था कि इस समस्या का राजनैतिक हल खोजा जाना चाहिए। तथा यह उन लोगों की उपेक्षा करके सम्भव नहीं है जो इस समस्या से गहरे जुड़े हुए है।[23]

भारत की स्पष्ट धारणा रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का सैनिक समाधान विश्वशांति के लिये घातक है। भारत ने अमेरिका से आग्रह किया है कि वह अफगानिस्तान समस्या के लिये कूटनीतिक एवं राजनैतिक समाधान खोजने का प्रयास करे। सोवियत संघ से भारत निरन्तर आग्रह करता रहा है कि वह यथाशीघ्र अगस्त्य अफगानिस्तान से अपनी सेनाएं हटा ले। भारत का यह भी विचार है कि पाकिस्तान को अफगानिस्तान से सीधी वार्ता द्वारा समस्याओं का हल निकालना चाहिए एवं उसे इस समस्या के सन्दर्भ में चीन-अमेरिका के हस्तक्षेप का साधन नहीं बनना चाहिए।[24] ये विश्वसनीय नहीं है। इसका कटु अनुभव 1971 की घटनाओं के बाद भी पाकिस्तान को नहीं हुआ, यही आवश्चर्यजनक है।

(3) पड़ोसी देशों के प्रति भारतीय नीति -

श्रीमती गांधी की वापसी के बाद उन्होंने पड़ोसी देशों से सम्बन्धों को मजबूत बनाए रखने के लिये निरन्तर प्रयास किये।

श्रीमती गांधी के पुनः सत्तारूढ होने के बाद भी तथा इसके पूर्व वाजपेयी की चीन की अधूरी यात्रा के छोड़े हुए सूत्र पुनः जुड़ने की स्थिति मे पहुँचने लगे। जून, 1980 मे चीनी नेताओं ने सीमा समझौते के लिये बातचीत करने का प्रस्ताव भारत के समक्ष रखा।[25] चीन के उपप्रधानमंत्री देंग सियाओं तग ने एक साक्षात्कार मे भारत से सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने की इच्छा व्यक्त की।[26] उनका दृष्टिकोण था कि दोनो पक्षो मे विभिन्न

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर कोई गम्भीर मतभेद नही है।[27] उन्होंने यह भी कहा कि -- हम श्रीमती गाधी की इस इच्छा से परिचित हैं कि वे चीन से सम्बन्ध सुधारने चाहती हैं।[28]

अपनी कश्मीर नीति मे परिवर्तन का आभास देते हुए देंग ने कहा कि यह भारत और पाकिस्तान के बीच का मामला है जिसे सद्भावनापूर्ण हल किया जा सकता है। भारत के पडौसी देशों के प्रति मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हुए उन्होंने भा[illegible] सम्बन्धों के सन्दर्भ में पचशील का स्मरण कराया जिससे विश्व की समस्याएं हल हो सकती हैं।[29] भारत ने इस वक्तव्य का स्वागत किया तथा बातचीत के आधार पर चीन से सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने के प्रस्ताव को स्वीकृति दी।

उप-प्रधानमत्री देंग द्वारा भारत से सम्बन्धों का सुधारने के सन्दर्भ में दिये गए इस वक्तव्य के लगभग 6 माह बाद चीन के उप-विदेशमत्री ने भी उन्हीं बातो को दोहराते हुए कहा कि चीन-भारत सीमा विवाद का समाधान वार्ता के माध्यम से एक-दूसरे के सम्मान के आधार पर खोजा जा सकता है।[30] उप-विदेशमत्री ने भारत से मैत्री की चीन की प्रबल इच्छा को अपने इस वक्तव्य में दोहराया। इसी दिन भारत-चीन के मध्य समाचारों के आदान-प्रदान के लिये हिशुआ तथा प्रेस ट्रस्ट आफ इडिया के मध्य एक समझौते पर भी हस्ताक्षर हुए।[31]

इसके बाद दोनों पक्षो की ओर से सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने की इच्छा समय-समय पर व्यक्त की जाती रही। प्रधानमत्री ने बेलेसबर्ग तथा बेलग्रेड मे चीनी नेताओं से मुलाकात की, जिससे सामान्यीकरण की दिशा मे सहायता मिली। इसी क्रम मे 28 जून, 1981 को चीन के विदेश मत्री हुआग हुआ एक शासकीय यात्रा पर नई दिल्ली पहुँचे जहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया।[32]

इस यात्रा में द्वैत्य सम्बन्धों के विभिन्न पक्षो पर विचार-विमर्श हुआ। सीमा विवाद के अतिरिक्त चीन के तीर्थस्थानो के लिये भारतीय यात्रियो का चीन द्वारा खोले जाने की जानकारी भी विदेशमत्री ने दी। विदेशमत्री ने चीनी प्रधानमत्री द्वारा भारतीय प्रधानमत्री श्रीमती गाधी को भेजा गया चीन यात्रा का निमत्रण, उनसे हुई मुलाकात के समय भी दिया गया।[33]

चीनी नेता ने स्वीकार किया कि भारत और चीन के बीच सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने के लिये सीमा समस्या का हल पहली आवश्यकता है जिसे बातचीत के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि दोनो सीमा के सन्दर्भ म अपने दावों से अलग नहीं हुए किन्तु तीन-दिवसीय वार्ता के अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि द्विपक्षीय सम्बन्धो के सामान्यीकरण के लिये यह आवश्यक है कि सीमा विवाद पर वार्ता शीघ्र ही प्रारम्भ की जाए।[34]

यात्रा के अन्त म दानो पक्षों के प्रवक्ताओ ने कहा कि भारत और चीन के हितों के लिये विभिन्न क्षेत्रो मे सम्बन्धों को सुधारना आवश्यक है। इस वार्ता मे वार्षिक स्तर पर सास्कृतिक, वैज्ञानिक, तकनीकी तथा आर्थिक क्षेत्रों म परस्पर सहयोग एव विनिमय की आवश्यकता अनुभव की गई। समय-समय पर द्विपक्षीय सम्बन्धो की प्रगति क लिय दोनो देशो के प्रतिनिधि मिलते रहग यह भी तय किया गया।[35]

इस तरह द्विपक्षीय सम्बन्धो म सद्भाव का वातावरण बनता गया।

1982 म सीमा विवाद क प्रश्न पर वातचीत के लिये तीन दौर हुए। विदेश मत्रालय की रिपोर्ट में कहा गया था कि "भारत न चीन से सम्बन्धों के सुधार की दिशा म प्रयास किये तथा शासकीय स्तर पर वार्ताओ के दो दौर दोनो देशों के मध्य सम्पन्न हुए जिनमें सीमा के मूल प्रश्न सहित अन्य सभी द्विपक्षीय विषयो पर चर्चा हुई। यह सही है कि इन वार्ताओ में सीमा के प्रश्न पर कोई समझौता नही हो सका जिसका मुख्य कारण प्रकट रूप मे यह था कि चीन सीमा का एक मुश्त समझौता करना चाहता था, भारत क्षेत्रवार।

सीमा समस्या के अतिरिक्त दानो देशों ने विगत 2 वर्षों में हुए व्यापारिक सम्बन्धों के विकास की समीक्षा की तथा उस पर सन्तोष व्यक्त किया। साथ ही आर्थिक सहयोग क नये क्षेत्रों का पता लगाने की आवश्यकता दोनों पक्षो ने प्रकट की।[36]

सम्बन्धों के सुधार का क्रम चलता रहा। चीन ने भारत-पाक सयुक्त आयोग के गठन पर अपनी प्रसन्नता जाहिर की। यद्यपि इन बेहतर स्थितियों से पूर्ण सामान्यीकरण तथा मैत्री के इन प्रयासो को उस समय अवश्य आघात लगा था, जब एशियाड 82 के आयोजन के समय अरुणाचल प्रदेश के नर्तक दल के प्रति चीनी खिलाड़ी दल ने अपना विरोध प्रकट किया था जो निश्चय ही भारत की प्रादेशिक अखण्डता क सम्मान के विरुद्ध था तथा भारत सरकार ने इस घटना पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की तथा वार्ताओं के कार्यक्रम को रद्द कर दिया था। लेकिन शीघ्र ही स्थितिया सामान्य बन गई। तथा वार्ताओं का उपर्युक्त दौर समाप्त हुआ।

24 अक्टोबर 83 स प्रारम्भ हुए वार्ता क दौर म चीन न अप्रत्याशित रूप स पिछली तीन वार्ताओ म पैदा किय गए अपन गतिरोध का दूर करते हुए सीमा क प्रश्न पर होने वाली वार्ता के लिये अनुकूल दृष्टिकोण अपनाया है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, चीन विवाद का एक मुश्त समझौता चाहता था तथा भारत क्षेत्रवार। 30 अक्टोबर को चीनी उप-विदेशमत्री तथा भारत क विदेशसचिव ने एक समझौते पर हस्ताक्षर करते हुए सीमा विवाद के क्षेत्रवार हल के लिये अपनी सहमति प्रकट की है।[37]

चीन द्वारा क्षेत्र-प्रति-क्षेत्र बातचीत को स्वीकार कर लिया गया। दोनो पक्षो में इस बात पर भी सहमति हुई कि सीमा समस्याओ को सुलझाते समय ऐतिहासिक साक्ष्यो और वहा की परम्पराओ को भी ध्यान मे रखा जाएगा तथा क्षेत्रों के अधिग्रहण के लिये सेना का प्रयोग नही किया जाएगा।[38]

एक अधिकृत भारतीय प्रवक्ता ने जानकारी देते हुए कहा कि क्षेत्र-प्रतिक्षेत्र समाधान से चीन के सहमत हो जाने से एक बड़ी बाधा दूर हो गई है। वार्ता का अगला दौर 1994 में बिजिंग में होगा। सीमा समझौते के प्रश्न पर इस सहमति के अतिरिक्त व्यापार आर्थिक मामले, सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा विज्ञान और तकनीकी क्षेत्रों में सहयोग की आवश्यकता को पुनः स्वीकार किया गया।[34]

इस तरह 1980 के बाद से भारत ने अपने स्वाभिमान को सुरक्षित रखते हुए समान स्तर पर चीन से समझौते की दिशा में निरन्तर प्रगति की।

पाकिस्तान के सन्दर्भ में श्रीमती गांधी ने शिमला समझौते की भावना के आधार पर ही द्विपक्षीय सम्बन्धों को शक्तिशाली बनाने के प्रयास किये। यद्यपि दोनों देशों के मध्य असहमति और तनाव की स्थितियां भी बनी। ये तनाव पाकिस्तान द्वारा अमेरिका से भारत मात्रा में हथियार खरीदने के प्रश्न को लेकर पैदा हुआ। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप के बाद से पाकिस्तान ने अपनी सुरक्षा का खतरा दिखाकर निरन्तर हथियार एकत्रित करने का सुनियोजित कार्यक्रम बनाया है। उसने अमेरिका से एफ-16 जैसे भयावह विमानों से लेकर हारपून्स मिसाइल तक एकत्रित करने की सफल योजना क्रियान्वित कर ली है। स्वतन्त्रता के बाद का भारत का अनुभव इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि पाकिस्तान ने अब तक प्राप्त सभी हथियारों का प्रयोग भारत के विरुद्ध ही किया है। 1947 से अब तक पाकिस्तान ने भारत के ही विरुद्ध युद्ध किये हैं और आगामी भविष्य में भी इन हथियारों की प्राप्ति के बाद पुनः उपमहाद्वीप में एक और युद्ध का जन्म देगा यह भारतीय आशंका *अस्वाभाविक नहीं है।*

पाकिस्तान को अमेरिका द्वारा एफ-16 विमानों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए भारतीय रक्षा राज्यमंत्री पाटिल ने कहा था कि एफ-16 सहित अन्य आधुनिकतम हथियारों को प्राप्त करने के पाकिस्तान के निर्णय से उपमहाद्वीप में शक्ति-सन्तुलन पाकिस्तान के पक्ष में चला जाएगा। इस निर्णय के परिणाम स्वरूप उपमहाद्वीप में पुनः शस्त्र-स्पर्धा प्रारम्भ हो जाएगी।[40]

श्रीमती गांधी ने इस सन्दर्भ में कहा था कि भारत स्वीकार करता है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा का अधिकार है तथा इस हेतु वह शस्त्र प्राप्त करने का भी अधिकारी है। लेकिन यह शस्त्र प्राप्ति न्यायोचित तथा आवश्यकता के अनुसार ही होनी चाहिए। प्रश्न यह है कि पाकिस्तान एफ-16 का क्या उपयोग करेगा ? उन्होंने कहा है कि (पाक शासकों ने) पाकिस्तान इनका प्रयोग सोवियत संघ के विरुद्ध नहीं करेगा तो क्या वह अफगानिस्तान के विरुद्ध इनका प्रयोग करेगा।[41] श्रीमती गांधी ने कहा था कि इन हथियारों से चिन्तित होना स्वाभाविक है।[42]

विदेशमंत्री राव ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया में कहा था अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को *अनावश्यक रूप से सैनिक सामग्री प्रदान करने से भारतीय जनमत पर विपरीत प्रभाव*

पड़ेगा एव भारतीय उपमहाद्वीप में शीतयुद्ध का वातावरण उत्पन्न हो जाएगा।[43]

इस तरह पाकिस्तान के सैन्यीकरण ने एक बार फिर इस उपमहाद्वीप मे सन्देह की स्थितियों को जन्म दिया जिसे दूर करने के उद्देश्य से पाक जनरल जिया उल हक ने भारत के साथ 'अयुद्ध सधि' का प्रस्ताव रखा। पाकिस्तान ने इस प्रस्ताव को स्वय भारत के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया वरन् अमेरिका से उन व्यक्तियों के लिये वह वक्तव्य दिया जो अमेरिकी प्रशासन द्वारा पाकिस्तान को 3 2 बिलियन डालर की सैनिक सहायता देने के समझौते के विरोधी थे।[44] उसके बाद में 22 नवम्बर को पाकिस्तान सरकार ने इस अयुद्ध सधि के प्रस्ताव की औपचारिक रुप से पुष्टि करते हुए भारत सरकार को पत्र लिखा।[45]

उल्लेखनीय है कि भारत 1949 से निरन्तर पाकिस्तान के समक्ष अनाक्रमण सधि का प्रस्ताव रखता आया था जिसे किसी पाक-शासक ने स्वीकार नहीं किया था। सर्वप्रथम 22 दिसम्बर, 1949 को नेहरु ने अनाक्रमण सधि का प्रस्ताव पाकिस्तान के समक्ष रखा जिसे उन्होने बाद में कई बार दोहराया। उसके बाद 1965 मे शास्त्री ने, 1968 मे श्रीमती गाधी ने, 1977 में मोरारजी देसाई ने और पाकिस्तान की ओर से अचानक यह ताजा प्रस्ताव आने से ठीक पूर्व 1980 फरवरी मे भारतीय विदेश सचिव ने पाकिस्तान यात्रा के समय अनाक्रमण अथवा अयुद्ध सध के प्रस्ताव को नये सिरे से रखा गया था।[46]

जिया उल हक ने ही इस तरह कि किसी सधि को कागज का टुकड़ा मात्र कहा था जिस पर इस तरह की सधिया लिखी जाती हैं। इतिहास प्रमाण है कि कई अयुद्ध एव अनाक्रमण सधिया तथा शाति सधिया निरर्थक ही सिद्ध हुई है।[47]

भारत इस प्रस्ताव पर स्वाभाविक रुप से स्वय को सतर्क करने पर विवश हुआ। उसका मुख्य कारण पाकिस्तान द्वारा इस प्रस्ताव का प्रस्तुत करने की पृष्ठभूमि था। लेकिन यह भी सम्भव नहीं था कि भारत इस प्रस्ताव को एकदम अस्वीकार कर दे इसलिये भारत ने इस कूटनीतिक तरीके से रखे गये अयुद्ध सधि के प्रस्ताव का उत्तर कूटनीतिक शैली मे ही देते हुए अयुद्ध सधि के स्थान पर शाति सधि का प्रस्ताव रख दिया।

इन दोनो देशों के प्रस्तावो के बारे मे वार्ताओं के दौर दिसम्बर, 1982 मे प्रारम्भ हुए। दोनो पक्ष यद्यपि युद्ध की आशका को सर्वथा निर्मूल करने के किसी भी प्रस्ताव पर सहमत नहीं हो सके किन्तु यह स्पष्ट हो गया कि इस बारे मे दोनों को एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझने मे सफल रहे। तथा इन प्रस्तावों पर आगे भी विचार किया जाएगा।[48]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जिस शैली मे जिया उल हक ने अयुद्ध शैली का जाल भारत को भ्रमित करने के उद्देश्य से फैका था, उसे भारतीय प्रधानमत्री ने ठीक-ठीक पहचानते हुए शाति सधि का प्रस्ताव महज इसलिये रख दिया कि पाकिस्तान अयुद्ध सधि न करने का आरोप लगाने का लाभ उठाकर अन्तर्राष्ट्रीय जगत में शाति के

मसीहा की अपनी छवि नही बना सके या भारत को साम्राज्यवादी या शानि विरोधी घोषित न कर सके। और फिर यदि पाकिस्तान शानि क साथ ही भारत से रहना चाहता है तो शिमला समझौता ही इस उद्देश्य के लिये पर्याप्त है। इस तरह अयुद्ध संधि बनाम शाति संधि की भारत-पाक राजनीति स्वत ही शीनगृह मे चली गई। हा, शिमला समझौते क बाद दोनों देशों के मध्य एक-दूसर क साथ विभिन्न क्षत्रों मे सहयोग का जा क्रम विकसित हुआ है, उसकी परिणति भारत-पाक सयुक्त आयोग के रूप मे हुई।[49]

भारत-पाक सयुक्त आयोग का कार्यक्षेत्र स्पष्ट करत हुए कहा गया कि यह आयोग आर्थिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्षेत्रो में परस्पर सहयोग का विकास करने के लिये काम करेगा।[50]

दोनों देशो के विदेश सचिवो द्वारा आयोग के गठन क इस समझौते पर हस्ताक्षर करते हुए यह कहा गया कि वर्ष म एक बार बारी-बारी से आयोग की बैठक इस्लामाबाद व नई दिल्ली म होगी।[51]

सयुक्त आयाग वाणिज्य व्यापार, उद्योग शिक्षा स्वास्थ्य सस्कृति, दौत्य सम्बन्ध, पर्यटन, सूचना तथा विज्ञान एव तकनीकी के क्षेत्रो मे द्विपक्षीय सम्बन्धो को मजबूती प्रदान करेगा।[52]

इस तरह भारत-पाक सम्बन्धो के क्षेत्र मे निरन्तर प्रगति हुई। इन सम्बन्धो म कई बार तब क्षणिक गतिरोध अवश्य पैदा हो जाता है। जब कभी पाकिस्तान द्वारा काश्मीर का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय मचों पर उछाल दिया जाता है जिसका कारण सम्भवत पाक-शासको की पारस्परिक काश्मीर-नीति मे ही देखा जा सकता है। उधर पाक-शासक वक्तव्य जारी करते हैं, इधर भारत की ओर से विरोध स्वरूप प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है और फिर कुछ दिनो मे स्थिति सामान्य हो जाती है। इसी तरह गाहे-बगाहे दोनो देशों के शासक एक-दूसरे के अन्य आन्तरिक प्रश्नो में 'सम्बद्ध' होने का आरोप लगाते है (यथा लोकतत्र बहाली के पाक-दलो के आन्दोलन मे भारत का हाथ है या खालिस्तान आन्दोलन मे पाकिस्तान का हाथ है, आदि) और पुन आरोप-प्रत्यारोप की रस्म अदायगी के बाद दोनो देश सामान्य स्थितियों की ओर लौट जाते है। वास्तव मे घृणा की बुनियाद पर दोनो देशों का विभाजन तथा काश्मीर का अनुलझा प्रश्न इस तरह की स्थितियों को स्वाभाविक रूप से जन्म देता रहता है। इसके अतिरिक्त 'राजनताओं' का सत्ताप्रेम' भी दोनो राष्ट्रो के मध्य कई बार कृत्रिम घृणा को जन्म देता रहा है। महाशक्तियों का राजनीतिक कुचक्र भी द्विपक्षीय सम्बन्धों के स्थाई सामान्यीकरण का एक बाधक कारक है।

बगलादेश के साथ भी भारत के सम्बन्धों का 1980 के बाद से विवादो से ही प्रारम्भ हुआ। श्रीमती गाधी ने फरक्का समझौते के बारे में यह प्रतिक्रिया व्यक्त की थी कि इसमे भारत के हितो का समझौता किया गया है।

उनके सत्तारूढ होने के बाद सीमा का विवाद प्रारम्भ हो गया। भारत और बगलादेश की 3 हजार वर्गमील सीमा पर ऐसे कोई स्थान नहीं है जहा किसी प्रकार के बन्धन हों। सीमा पार स शरणार्थियों का आना भी परेशानी का कारण रहा है। सीमा के प्रश्न पर दोनों देशों के मध्य अक्टोबर, 1980 म समझौता हो गया।[53]

बगलादेश ने न्यूमूर द्वीप को लेकर भी भारत का विवाद उत्पन्न हो गया।

"फरक्का विवाद ही की तरह मूर विवाद भी भारत-बगलादेश क बीच हाल ही का मामला है। यह एक छोटा सा टापू है जो कि बगाल की खाडी म सन् 1971 के आसपास उभर आया था, सन 1970 मे बगाल की खाडी म लहरा की उथल-पुथल म अर्धचद्राकार धरती उभर आयी थी इसका क्षेत्रफल 12 वर्ग किलोमीटर है, भारत के पूर्वी किनारे से इसका फासला करीब 5 किलो मीटर और बगलादेश तट स साढे सात किलोमीटर है इस द्वीप को सन् 1979 मे भारत ने खोजा था।"[54]

"न्यूमूर की समस्या मई 1981 में विस्फोटक बन गयी थी जबकि बगलादेश शासन ने भारतीय जहाज आइ एन एस सान्धयक की वहाँ उपस्थिति पर आपत्ति की थी।"[55]

अक्टोबर, 1982 म बगलादेश के नये राष्ट्रपति लेफ्टिनन्ट जनरल इरशाद की भारत यात्रा के बाद से दोनो देशो क मध्य सामान्यीकरण तथा मैत्री की स्थापना मे वृद्धि हुई। उनकी इस यात्रा म फरक्का के सन्दर्भ म सन्तोषजनक प्रगति हुई तथा सीमा-समस्या, आर्थिक एव व्यापार पहलुओं पर भी सहमति हुई। तकनीकी और वैज्ञानिक शोध के समझौते पर भी हस्ताक्षर हुए। इसके बाद से दोनो देशों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का ही विकास हो रहा है।

नेपाल और भारत के सम्बन्धों मे सामान्य स्थितियों मे मैत्री और सहयोग बना रहता है। श्रीमती गाधी की वापसी के बाद भी इन सम्बन्धों मे मैत्रीपूर्ण स्थितिया बनी रहीं। 1981 मे नेपाल नरेश ने भारत की सद्भावना यात्रा की। भारत के राष्ट्रपति इसी वर्ष के अन्त मे नेपाल गए। नेपाल ने पिछले कुछ वर्षो मे जिस शाति क्षेत्र की बात करना प्रारम्भ किया है उसे पुन दोहराया गया है किन्तु भारत सम्पूर्ण दक्षिण एशियाई क्षेत्र को शातिपूर्ण घोषित करने का पक्षधर है।

इसी तरह श्रीलका के साथ भारत के सम्बन्धों मे भी श्रीमती गाधी ने पुन सत्तारूढ होने के बाद सामान्य स्थितिया बनी रही किन्तु अगस्त 1983 मे अचानक भारतीय मूल के तमिल नागरिकों तथा श्रीलका के सिंहली निवासियों के मध्य हुए हिंसक सघर्ष तथा बाद में तमिल नेताओ द्वारा स्वायत्ता की माग को लेकर हुए क्रमिक सघर्ष ने स्थितिया बहुत विपरीत कर दी। तमिलों पर हुई हिंसा से भारत का चिन्तित होना अत्यन्त स्वाभाविक था। भारत इस सदर्भ मे खामोश नही रह सकता था। जब भारत ने समस्या में शातिपूर्ण समाधान हेतु हस्तक्षेप का प्रस्ताव रखा तो श्रीलका के राष्ट्रपति ने पहले तो इस समस्या का अन्तर्राष्ट्रीय करण करते हुए चीन, पाकिस्तान तथा अमेरिका से सैन्य सहायता की माग

की किन्तु इस पर जब श्रीमती गाधी ने समस्या के समाधान क लिय शान्तिपूर्ण प्रयासो का अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया तो राष्ट्रपति ने इसी तरह के प्रयासो का उचित समझते हुए वार्ता का दौर प्रारम्भ किया। राष्ट्रपति जयवर्धने ने अपने भाई को भारत भेजा। उधर तमिल मुक्ति मोर्चे के नेता अमृतलिंगम् भी भारत आए। वार्ताओं का राजनय सक्रिय हुआ। श्रीमती गाधी ने अपने विशेष दूत जी० पार्थसारथी को नवम्बर, 1983 मे श्रीलका की इस समस्या के सवैधानिक एव राजनीतिक हल खोजने क प्रयासों हेतु भेजा जो प्रयास अन्तत सफल हुए।[56] भारत यह नही चाहता कि श्रीलका का विभाजन हो किन्तु यह भी नही चाहता कि तमिलो के सवेधानिक अधिकारो स उन्हे वचित किया जाए। इसक बाद राष्ट्रपति जयवर्धने की भारत यात्रा के अवसर पर श्रीमती गाधी न समस्या क हल के लिये बातचीत की।[57] जिससे दोनो पक्षो को एक-दूसर को समझने म मदद मिली। दोनो पक्ष तमिल मुक्ति मोर्चे के नेताओं के साथ कोई सम्मानजनक समझौते हेतु प्रयत्नरत हैं। श्रीलका के राष्ट्रपति का भारत के ईमानदार प्रयासो क कारण भारत क सन्दर्भ म उत्पन्न हुआ भ्रम दूर हो गया। इससे भारत श्रीलका सम्बन्धो का नया अध्याय प्रारम्भ होने की आशा बढी।

इस तरह पडौसी देशो से विवादो के रहते हुए भी सम्बन्धों को सामान्य तथा मैत्रीपूर्ण बनाए रखने के लिये भारत निरन्तर प्रयत्नशील रहा है।

(4) अमेरिका से सवाद -

1980 मे श्रीमती गाधी के सत्तारूढ होने क बाद के प्रारभिक दौर मे भारत और अमेरिका के सम्बन्धों मे तनाव की स्थिति निर्मित करने वाली घटनाए ही घटी। जैसा कि पूर्व में भारत-पाक सम्बन्धों के सन्दर्भ मे कहा जा चुका है कि अमेरिका ने 1981 म पाकिस्तान को भारी मात्रा मे शस्त्र देने का निर्णय लिया था। अमेरिका के साथ भारत क विपरीत सम्बन्धों का मूल कारण उसके द्वारा प्रारम्भ से ही निरन्तर किया जाने वाला शस्त्रीकरण रहा है। हमेशा अमेरिकी शासको ने शस्त्र देने के साथ ही यह भी कहा है कि वे हथियार पाकिस्तान को भारत के विरुद्ध युद्ध हेतु नही दिये जा रहे हैं किन्तु अनुभव स्वय प्रमाण देता है कि भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को प्राप्त अमरिकी हथियारो ने उपमहाद्वीप में शाति की स्थापना म सदैव बाधा उत्पन्न की है। एक बार पुन पाकिस्तान को उसकी सुरक्षा आवश्यकताओ से कई गुना अधिक शस्त्र देने के अमेरिकी निर्णय से निश्चय ही भारत अमेरिकी सम्बन्धों पर हमेशा की तरह विपरीत प्रभाव पडा है।

वस्तुत रीगन प्रशासन भारत के प्रति श्रीमती गाधी की वापसी के बाद और अधिक कठोर हो गया। अमेरिका ने भारत को तारापुर के लिय दिये जाने वाले यूरेनियम की आपूर्ति बद करने का निर्णय भी लिया तथा भारत को जब विश्व-बैंक से 5 हजार करोड रुपये के ऋण का भी विरोध किया--

"रेगन प्रशासन ने भारत के आई एम एफ तीन वर्षीय सावधि ऋण का रोकने की धमकी दी थी। यह ऋण पंचास लाख डालर मूल्य का था। विश्व बैंक की योजनानुसार ऊर्जा के लिए कम ब्याज की दर पर इंडियन आयरन को दिये जाने वाले ऋण को रोकने के लिये विशेषाधिकार का भी प्रयोग किया तथा उसने रियायती दर पर विश्व बैंक को अपना अंश दान भी बंद कर दिया था। इस प्रशासन ने अमेरिका में बने, तारापुर संयत्र में काम आने वाले अटॉमिक रियेक्टर को ईंधन देना भी बन्द कर दिया था। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान को बेहिसाब शास्त्रों से मजबूत करने की योजना पर अमल किया था। अमरीकी शस्त्रों से पाकिस्तान की ताकत बढ़ाई जा रही थी जिससे भारत की सुरक्षा को सीधा खतरा था। सन् 1980 के बाद से पाकिस्तान के लिये अमेरिकी सैन्य उपकरण सहायता और आर्थिक मदद में दुगनी-तिगुनी बढ़ोतरी कर दी गयी थी। किन्तु भारत की खाद्य और विकास योजना में आर्थिक सहयोग की राशि में कटौती कर 210 मिलियन डालर तक ही सीमित कर दी गयी थी।"[58]

इस तरह पूरी अवधि में अमेरिका, भारत के प्रति अपनी अमैत्रीपूर्ण कार्यवाहियां ही करता रहा जिससे भारत अमेरिका को तनावपूर्ण ही रखा।

22-23 अक्टोबर को मेक्सिको के नगर कानकुन में आयोजित "उत्तर-दक्षिण संवाद" सम्मेलन में श्रीमती गांधी की यात्रा के समय राष्ट्रपति रीगन से पहली भेंट हुई।

कानकुन सम्मेलन में श्रीमती गांधी और रीगन की मुलाकात की कल्पना भिन्न रुप से की गई थी। रीगन के कुछ सलाहकारो को आशंका थी कि श्रीमती गांधी नाराजगी का तीखा इजहार करेंगी। उन्होंने विवादों की चर्चा तक नही की तो आश्चर्य हुआ। दोनों ने आभास दिया कि बातचीत का सिलसिला आगे बढ़ाया जा सकता है।[59]

ऐसा लगता है कि तीसरे विश्व में भारत के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव को देखते हुए अमेरिकी राष्ट्रपति ने भारत से संवाद को अपनी नीति में सम्मिलित किया। इसी मुलाकात में रीगन ने श्रीमती गांधी को अमेरिका यात्रा के लिये आमंत्रित किया।

श्रीमती गांधी 28 जुलाई 1982 को अमेरिकी की नौ दिन की यात्रा पर पहुँची।[60]

29 जुलाई को एक भव्य समारोह में राष्ट्रपति रीगन ने व्हाइट-हाउस में स्वागत किया।[61]

राष्ट्रपति रीगन ने श्रीमती गांधी का स्वागत करते हुए इस बात पर बल दिया कि भारत और अमेरिका दो शक्तिशाली स्वतंत्र और प्रभावशाली राष्ट्र है। दोनो के सम्बन्ध राष्ट्रीय हितों पर आधारित रहे है।[62]

श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति रीगन से अपनी बातचीत में पाकिस्तान को अमेरिका द्वारा की गई शस्त्र आपूर्ति पर भारत की चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि इससे भारत को भी अपने रक्षा व्यय में वृद्धि करनी होगी। उन्होने अमेरिका के इस तर्क को पूर्णत अस्वीकार कर दिया कि ये हथियार सोवियत संघ के विरुद्ध अफगानिस्तान के प्रश्न पर इस्तेमाल

किये जाएगे।[63]

श्रीमती गाधी ने इस वार्ता के अवसर पर विभिन्न विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के प्रति भारत के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया तथा भारत अमेरिका के मध्य सहयोग के विभिन्न क्षेत्रों पर भी विचार किया।[64]

दोनों नेताओ की वार्ता सद्भावनापूर्ण और पूर्णत शान्तिमय वातावरण मे हुई।[65]

पत्रकारों से अपनी मुलाकात मे श्रीमती गाधी ने भारतीय विदेशनीति के विभिन्न पहलुओं पर दो टूक बातचीत की।

30 जुलाई को नेशनल प्रेस क्लब मे श्रीमती गाधी ने घोषणा की कि भारत के पास आणविक अस्त्र नही हैं। न ही भारत अपनी आणविक सुविधाओं की अन्तर्राष्ट्रीय निगरानी का विरोधी है किन्तु भारत चाहता है कि वही अन्तर्राष्ट्रीय निगरानी रखी जाए जो दूसरे देशों के लिये है। भारत ने अणु अप्रसार सधि पर इसीलिये हस्ताक्षर नही किय है कि वह राष्ट्रों मे विभेद करती है।[66]

इसी तरह पडौसी देशो से भारत के सम्बन्धो के सुधारो के प्रयास की चर्चा करते हुए श्रीमती गाधी ने अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को शस्त्रों की आपूर्ति को उपमहाद्वीप मे सैन्य असतुलन पैदा करने वाला बतलाया। पाकिस्तान के साथ अयुद्ध सधि के सन्दर्भ मे श्रीमती गाधी ने कहा हम 1949 से पाकिस्तान के साथ अयुद्ध सधि का प्रस्ताव रख रहे हैं। हम गम्भीरतापूर्वक यही चाहते हैं कि उपमहाद्वीप के दोनों देशों का अपनी समस्याओ के समाधान के लिये शस्त्रों के स्थान पर बातचीत का ही रास्ता अपनाना चाहिए।

इस तरह श्रीमती गाधी ने यह यात्रा सम्पन्न की। उनकी इस यात्रा के बाद भारतीय ससद को सम्बोधित करते हुए विदेशमंत्री ने कहा कि "श्रीमती गाधी की अमेरिका यात्रा से अमेरिका को एशियाई तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के सन्दर्भ मे भारत की भूमिका को अमेरिका ने स्वीकार किया है।"[67] उन्होंने कहा कि श्रीमती गाधी ने इस यात्रा मे असहमति के बिन्दुओं पर निर्भीकतापूर्वक विचार रखते हुए राष्ट्रपति रीगन से सहमति के बिन्दुओं पर विचार किया है। जिससे द्विपक्षीय सम्बन्धों का विकास हो सके।[68]

इसके बाद श्रीमती गाधी जब 1983 मे सयुक्त राष्ट्र के मच पर गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के अध्यक्ष के रूप मे विचार-विमर्श हेतु अमेरिका गई तब भी श्रीमती गाधी ने राष्ट्रपति रीगन से भेट कर विश्व-स्थिति पर वार्ता की।[69]

यद्यपि राष्ट्रपति रीगन से विश्व-अर्थव्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नो पर मतभेद प्रकट हुए।

इस तरह हम देखते है कि श्रीमती गाधी व राष्ट्रपति रीगन की निरन्तर मुलाकात होती रही है किन्तु सैद्धान्तिक मतभेदो तथा विपरीत हितों के कारण दोनों देशों के मध्य स्थापित किये गए इस सवाद के कोई प्रभावी परिणाम सामने नही आए।

(5) सोवियत संघ के प्रति नीति -

भारत और सोवियत संघ के सम्बन्ध 1970-71 की घटनाओं के बाद से निरन्तर मैत्री और सहयोग की भावना पर आधारित रहे हैं। 9 अगस्त 1971 की बीस-वर्षीय भारत सोवियत संधि ने इन सम्बन्धों को सशक्त आधार प्रदान किया है। श्रीमती गाधी पर तो यह आरोप लगाया जाता रहा है कि उनका झुकाव सोवियत संघ की ओर विशेष रूप से बना रहा है। 1977 से 1979 तक जनता सरकार के सत्तारूढ़ रहने पर भी दोनो देशों के सम्बन्धों मे कोई बहुत अधिक अन्तर नहीं आया। यह सही है कि जनता सरकार ने कम्पूचिया और अफगानिस्तान के प्रश्नो पर सोवियत हितो की तरफदारी नहीं की किन्तु जहा तक दोनो महाशक्तियो से जनता सरकार की सम्बन्ध स्थापित करने की नीति का प्रश्न है हम देखते है कि सोवियत संघ अमरिका की अपेक्षा अधिक निकट रहा। इससे यह प्रमाणित होता है कि जब राष्ट्रीय हितो के परिप्रेक्ष्य मे विदेशनीति का संचालन होता है तो सामान्य रूप से होने वाले सरकार परिवर्तन विदेशनीति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालते। यही बात भारत की सोवियत नीति पर भी न्यूनाधिक रूप मे क्रियान्वित होती है।

श्रीमती गाधी की सरकार की पुनर्स्थापना के बाद यह अनुमान लगाना स्वाभाविक ही था कि सोवियत संघ के प्रति कथित झुकाव का युग पुन प्रारम्भ हो जाएगा।

जनवरी, 80 मे सत्तारूढ़ होने के कुछ ही दिनो बाद सोवियत विदेशमंत्री आंद्रे ग्रोमिको ने भारत की यात्रा की।[70]

ग्रोमिको ने भारतीय नेताओ से मुलाकात कर अफगानिस्तान पाकिस्तान तथा ईरान की ताजा घटनाओ के सन्दर्भ मे सोवियत नीति को स्पष्ट किया।[71] भारतीय प्रधानमंत्री तथा विदेशमंत्री ने सोवियत अतिथि से कहा कि भारत दक्षिण एशिया की स्थिति का अध्ययन कर रहा है तथा शीघ्र ही इस क्षेत्र के तनाव को कम करने की आवश्यकता पर विचार कर रहा है। उल्लेखनीय है कि यात्रा के अन्त मे जारी की गई संयुक्त विज्ञप्ति मे अफगानिस्तान के संकट की चर्चा नहीं की गई न ही वहा से सोवियत सेनाओ की वापसी के लिये कोई समय निश्चित किया गया।[72]

ग्रोमिको की इस यात्रा मे भी दोनो देशों ने मैत्री के पारस्परिक सम्बन्धो को भारत सोवियत मैत्री संधि के आधार पर विकसित करने का संकल्प किया।[73]

ग्रोमिको ने सोवियत राष्ट्रपति ब्रेजनेव की ओर से भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती गाधी को सोवियत-यात्रा का निमंत्रण दिया।[74]

इसी यात्रा के दौरान कृषि के क्षेत्र मे वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग के एक समझौते पर भी हस्ताक्षर हुए।[75]

श्रीमती गाधी के सत्तारूढ़ होने के बाद प्रारम्भ मे तो अफगानिस्तान के प्रश्न पर भारत ने सोवियत संघ समर्थक दृष्टिकोण अपनाया तथा यह कहा कि अफगान-आग्रह पर सोवियत सेनाए वहा गई हैं। संयुक्त राष्ट्र मे भी अनुपस्थित रहकर सोवियत विरोधी

प्रस्ताव से असहमति प्रकट की किन्तु थोड़े ही समय बाद भारत ने इस प्रश्न पर तथ्यों की वास्तविक जानकारी मिलने पर अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया।

"श्रीमती गांधी की सरकार ने अफगानिस्तान के मामले में सोवियत कार्यवाही का समर्थन किया था लेकिन शीघ्र ही उसे स्पष्टीकरण देना पड़ा। भारतीय नीति निर्माताओं की स्थिति भिन्न थी, सोवियत संघ के लिये भी यह कार्यवाही सकटमय सिद्ध हुई थी। यह स्थिति हमारी अथवा पाकिस्तानियों से बहुत भिन्न थी। एक तो यह हादसा हिन्दुस्तान के ऐन दरवाजे पर हुआ था और सारे गुट निरपेक्ष राष्ट्र मास्को को दोषी ठहरा रहे थे पश्चिमी देशों में भी इस घटना के खिलाफ आवाज उठने लगी थी। भारत को अपनी राय बदलनी पड़ी थी कि सोवियत संघ को अफगानिस्तान से फौज हटा लेनी चाहिए तथा अन्य विदेशी ताकतों को भी अपनी दखलदाजी इस मामले में नहीं करनी चाहिए।"[76]

सोवियत संघ से भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होते हुए भी जब भारत ने यह अनुभव किया अफगानिस्तान की वास्तविक स्थिति किस तरह की है तो अपनी नीति में परिवर्तन का आभास दिया। राष्ट्रीय हितों का ध्यान रखते हुए संयत किन्तु स्पष्ट वक्तव्य देना प्रारम्भ किया।

इस तरह यद्यपि भारत ने अफगानिस्तान के प्रश्न पर अपनी नीति में क्रमिक परिवर्तन का आभास दिया फिर भी अमेरिका जैसे देशों ने इस नीति की प्रशंसा करना तो दूर उल्टे पाकिस्तान को शस्त्रों की भारी आपूर्ति करने का निर्णय ले लिया जैसे पाकिस्तान उन शस्त्रों से सोवियत संघ की अफगानिस्तान में उपस्थिति को चुनौती दे देगा।

पाकिस्तान को अमेरिका तथा चीन द्वारा दिये जाने वाले सैन्य सहयोग का प्रभाव सीधा ही भारतीय सुरक्षा हितों पर पड़ता रहा है। इसलिये ऐसी स्थिति में यदि भारत का झुकाव सोवियत संघ की ओर होता है तो उसे अस्वाभाविक तो नहीं कहा जा सकता फिर भी भारत ने अफगान-समस्या पर निरन्तर यही दृष्टिकोण बनाए रखा कि वहां वह किसी भी किस्म के बाह्य हस्तक्षेप का पक्षधर नहीं है। इसी दृष्टिकोण का प्रयोग असंलग्न राष्ट्रों के मंच पर भी किया जिन्होंने इसी मत को अन्ततः स्वीकार किया है।

भारत सोवियत सम्बन्ध दोनों देशों की परिस्थितियों द्वारा विकसित किये गए हैं। सोवियत संघ भारत को हर स्थिति में अपना मित्र बनाए रखना चाहता है। इस तर्क की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि भारत में सरकार परिवर्तन के बाद सोवियत संघ ने अपनी ओर से प्रयास कर भारत से मैत्री सम्बन्धों को बनाए रखने में भूमिका निभाई थी। भारत अपनी निर्णय लेने की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखते हुए सोवियत संघ से मैत्री को बहुमूल्य मानता रहा है। दिसम्बर, 1980 में सोवियत राष्ट्रपति ब्रजनेव की भारत यात्रा भी उन्हीं प्रयासों का एक और महत्वपूर्ण पड़ाव थी।

8 दिसम्बर, 1980 को सोवियत राष्ट्रपति ब्रजनेव 3 दिन की भारत यात्रा पर नई दिल्ली आए।[77] सोवियत राष्ट्रपति की भारत यात्रा पर उनका भव्य स्वागत किया गया

किन्तु भारतीय नीति को स्पष्ट करते हुए भारत के राष्ट्रपति संजीव रेड्डी ने स्पष्ट किया कि भारत इस क्षेत्र के आन्तरिक मामलों में गुप्त अथवा खुले विदेशी हस्तक्षेप का विरोधी रहा है। उन्होंने भारत के आसपास हो रहे संघर्ष एवं तनावपूर्ण स्थितियों पर अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए समस्याओं का अहिंसा तथा सहयोग की भावना के आधार पर हल करने का आग्रह किया।[76]

ब्रेजनेव ने इस अवसर पर अफगानिस्तान के प्रश्न का स्पर्श नहीं किया तथा भारत-सोवियत सम्बन्धों को और अधिक मजबूत बनाने पर जोर दिया।

उल्लेखनीय है कि भारत तथा सोवियत संघ के मध्य ब्रेजनेव की इस यात्रा के अवसर पर अफगानिस्तान संकट के हल के सन्दर्भ में दृष्टिकोणों में अन्तर था इसलिये यात्रा के अन्त में जारी की गई संयुक्त विज्ञप्ति में अफगानिस्तान की कोई चर्चा नहीं की गई।[79]

दक्षिण-पश्चिम एशिया में सभी प्रकार के बाह्य हस्तक्षेप से उत्पन्न स्थिति पर सामान्य रूप में ही चिन्ता व्यक्त की गई। अफगानिस्तान में सोवियत सेनाओं की उपस्थिति के प्रश्न पर ब्रेजनेव एवं श्रीमती गांधी के मध्य मतभेद होने के कारण अफगानिस्तान की स्पष्ट चर्चा नहीं की गई।[80]

श्रीमती गांधी अपनी वार्ता के दौरान लगातार इस बात पर बल देती रही कि सोवियत संघ को अफगानिस्तान से अपनी सेनाएं हटा लेना चाहिए क्योंकि इनकी निरन्तर उपस्थिति के इस क्षेत्र पर विशेषकर भारत पर गम्भीर प्रभाव होंगे।[81]

इस सन्दर्भ में सोवियत राष्ट्रपति स्पष्ट शब्दों में कह चुके थे कि जब तक अफगानिस्तान सरकार से उसके दक्षिणी पड़ौसी देश अच्छे पड़ौसी सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेते सोवियत सेनाएं अफगानिस्तान में ही बनी रहेंगी।[82]

यात्रा के अन्त में जारी किये संयुक्त घोषणा पत्र में दोनों देशों के सम्बन्धों को सशक्त बनाने, अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों के गिरते हुए स्वरूप के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हुए शांति हेतु प्रयास करने, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व को दोनों पक्षों के द्वारा स्वीकृत किये गए विचारों के आधार पर विभिन्न राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित करने, संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुसार कार्य करते हुए साम्राज्यवाद, नवउपनिवेशवाद, प्रजातिभेद एवं रंगभेद के उन्मूलन हेतु कार्य करने, भारत-सोवियत संधि के आधार पर दोनों देशों की जनता के लाभ के लिये सम्बन्धों को व्यापक रूप प्रदान करने तथा इस संधि के आधार पर एशिया तथा विश्वशांति हेतु योगदान देने का संकल्प व्यक्त किया गया।[83]

इसी तरह आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी, सांस्कृतिक एवं कृषि के क्षेत्रों में सहयोग की बात भी कही गई तथा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सहमति के मुद्दों का भी उल्लेख किया गया। जिनमें पश्चिम एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया, निशस्त्रीकरण आदि प्रमुख थे।

इसी सयुक्त विज्ञप्ति मे सयुक्त राष्ट्र द्वारा हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित किये जाने वाले प्रस्ताव का पूर्ण समर्थन करते हुए सोवियत सघ ने इसके क्रियान्वयन के प्रति अपनी तत्परता व्यक्त की। इस यात्रा के बाद श्रीमती गाधी ने भारतीय ससद के समक्ष अपने वक्तव्य मे कहा कि -- "भारत ने सोवियत सघ के समक्ष खाड़ी क्षेत्र मे दक्षिण-पश्चिम एशिया के विकसित होते हुए तनाव के प्रति अपना दृष्टिकोण रखा है"[84]

उन्होंने कहा कि अफगानिस्तान के प्रश्न पर भारत ने अपनी स्थिति व्यक्त करते हुए सोवियत सघ को स्पष्ट कर दिया है कि राजनीतिक हल की प्राप्ति के लिये बाह्य हस्तक्षेप तत्काल समाप्त होना चाहिए। ब्रेजनेव ने अपनी अफगान-नीति पर दृढ़ रहते हुए भी भारत के इस विचार से सहमति प्रकट की है कि राजनीतिक समाधान ही एक मात्र विकल्प है जिससे शान्ति स्थापित हो सकती है। ब्रेजनेव ने इस सन्दर्भ मे भारत की भूमिका की प्रशसा भी की है।[85] इसके अतिरिक्त श्रीमती गाधी ने सोवियत सघ के साथ अन्य क्षेत्रो मे हुए समझौतो की भी जानकारी दी जिनमे द्विपक्षीय सम्बन्धो मे वृद्धि हुई है।

ब्रेजनेव की भारत यात्रा के बाद श्रीमती गाधी पहले अमेरिका और फिर सोवियत सघ गई। अमेरिका जाने से पूर्व श्रीमती गाधी ने सोवियत नेताओ को एक सन्देश भेजकर सद्भावना प्रेषित की तथा कहा कि मै सितम्बर मे आपके देश की यात्रा का बड़ी उत्सुकता से देख रही हूँ।[86] 20 सितम्बर 1982 को श्रीमती गाधी सोवियत सघ की एक सप्ताह की यात्रा पर मास्को पहुँची जहा राष्ट्रपति ब्रजनेव ने हवाई अड्डे पर उनका हार्दिक स्वागत किया।[87] श्रीमती गाधी ने ब्रजनेव द्वारा आयोजित भोज के अवसर पर आशा व्यक्त की कि महाशक्तिया इसके बाद भी निशस्त्रीकरण के प्रश्न पर विचार-विमर्श जारी रखेंगी कि सयुक्त राष्ट्र निशस्त्रीकरण सम्मेलन के द्वितीय विशेष सत्र मे नया अन्यत्र वार्ताओ के कोई प्रभावकारी परिणाम नही निकले है।

श्रीमती गाधी ने कहा कि भारत तथा गुट-निरपेक्ष समुदाय विश्व मे परस्पर विश्वास निर्मित करने तथा विभीषिका के अवसरो का समाप्त करने का जोरदार समर्थक है।[88]

भारत-सोवियत सम्बन्धो का जिक्र करते हुए श्रीमती गाधी ने दावा किया कि इन सम्बन्धो ने विश्व में शान्ति तथा स्थिरता की स्थापना मे एक प्रकार की कारक भूमिका निभाई है।[89] हिन्द महासागर का शान्तिक्षेत्र घोषित करने की सोवियत सहमति का स्वागत करते हुए श्रीमती गाधी ने अन्य शक्तियो से भी यही आग्रह किया।[90]

यात्रा के अन्त में प्रकाशित सयुक्त विज्ञप्ति मे दोनो देशो ने दक्षिण-पश्चिम एशिया तथा हिन्द महासागर में व्याप्त तनावपूर्ण स्थिति पर चिन्ता व्यक्त की थी। अफगानिस्तान का उल्लेख किये बिना दोनो देशो ने इस क्षेत्र मे बाह्य हस्तक्षेप के प्रति चिन्ता व्यक्त की तथा कहा कि इस क्षेत्र के देशो की स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता, प्रादेशिक अखण्डता तथा असलग्न स्वरूप के लिये शान्तिपूर्ण राजनीतिक हल की उपयोगिता स्वीकार की।[91] इस तरह विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ हिन्द महासागर के प्रश्न, निशस्त्रीकरण जैसी महत्वपूर्ण

समस्याओं के शांतिपूर्ण प्रयासों के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की।

इस यात्रा से भी दोनों देशों के सम्बन्धों का और अधिक विकास हुआ।

(6) गुट-निरपेक्ष सम्मेलन आन्दोलन के नेतृत्व का दायित्व

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का 7 वां सम्मेलन नई दिल्ली में 7 मार्च, 83 से प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में आन्दोलन के 101 सदस्य देशों में से 99 देश सम्मिलित हुए। सम्मेलन का उद्‌घाटन प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने क्यूबा के राष्ट्रपति फीडेल कास्त्रो से अध्यक्ष पद ग्रहण करने के बाद किया। अपने उद्‌घाटन भाषण में श्रीमती गांधी ने विश्वशांति निशस्त्रीकरण तथा आर्थिक न्याय पर विशेष बल दिया।[92]

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए श्रीमती गांधी ने कहा -- "आज मानव जाति ऐसे कगार पर खड़ी है जहा विश्व आर्थिक व्यवस्था कभी भी ढह सकती है और नाभिकीय युद्ध की लपटों में मनुष्य जाति का सर्वनाश हो सकता है। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन ने इस बात का निरन्तर दृढ़ समर्थन किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को नया रूप दिया जाना चाहिए। हम शोषण के विरुद्ध हैं। हम इस बात की हिमायत करते हैं कि हर राष्ट्र को अपने संसाधनों पर अधिकार हो और वे अपनी नीतियां स्वयं तय करें। हमारी मांग है कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के संचालन में हमारी आवाज भी उतनी ही सुनी जाए जितनी कि दूसरों की सुनी जाती है। हम न्याय और समानता के आधार पर एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था कायम करने के प्रति अपनी वचनबद्धता दोहराते है।[93] विश्व में चल रही शस्त्रों की स्पर्धा से समूची मानव जाति के लिये उत्पन्न खतरे की ओर संकेत देते हुए श्रीमती गांधी ने कहा --

"विकास, स्वतंत्रता निशस्त्रीकरण और शांति परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। क्या नाभिकीय अस्त्रों के रहते शांति सम्भव है ? मेरे पिता का कहना था कि शांति के बिना विकास के सभी स्वप्न धूल में मिल जाएंगे। बताया जाता है कि संसार भर में सैनिक मदों पर जितना खर्च होता है वह कुल अधिकारिक विकास सहायता से बीस गुना अधिक है। हर दिन हर क्षण निभिकीय अस्त्रों का आकार और उनकी घातकता बढ़ती जा रही है। एक नाभिकीय विमान-वाहक पर 400 करोड़ डालर की लागत आती है जो 53 देशों के सकल राष्ट्रीय उत्पाद से अधिक है। नाग ने अपना फन फैला दिया है। समूची मानव जाति भयाक्रान्त और भयभीत निगाहों से इस झूठी आशा के साथ देख रही है कि वह उसे काटेगा नहीं। संसार को मृत्यु और भय की इतनी भयावह स्थिति का सामना पहले कभी नहीं करना पड़ा है। नाभिकीय अस्त्रों के भंडारों में बन्द विनाशकारी शक्ति मानव जीवन का समाप्त कर सकती है।[94]

शांति की इच्छा संसार में सर्वत्र विद्यमान है। उन देशों में भी जो स्वयं ये हथियार तैयार करते हैं। उनमें भी जहां ये नाभिकीय हथियार प्रतिस्थापित किये जाते हैं।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन इतिहास का सबसे बड़ा शांति आन्दोलन है।[95]

अस्तित्व तभी सम्भव है जब सह-अस्तित्व कायम हो। अहस्तक्षेप को हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का बुनियादी कानून मानते हैं। फिर भी एशिया अफ्रीका तथा लटिन अमेरिका में तरह-तरह के हस्तक्षेप होते रहते हैं। कभी प्रकट रूप से तो कभी गुप्त रूप से। *ये सब असह्य और अस्वीकार्य है।*[96]

श्रीमती गांधी ने सम्पूर्ण विश्व समुदाय से अपील करते हुए कहा --

"आइये, हम अपनी इस आस्था को नये सिरे से घोषित करें कि स्वतंत्रता, विकास, निशस्त्रीकरण और शांति परस्पर अविभाज्य है। और गुट-निरपेक्षता के आधार स्तम्भ पाच सिद्धान्तों में अपने दृढ विश्वास की पुष्टि करें जो है -- सम्प्रभुता एव प्रादेशिक अखण्डता, अनाक्रमण, अहस्तक्षेप और पारस्परिक लाभ तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व।[97]

श्रीमती गांधी के इस भाषण का गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों पर विशेष प्रभाव हुआ। सम्मेलन प्रारम्भ होने के पूर्व कुछ प्रश्नों पर सम्मेलन मे मतभेद रहने की सम्भावना थी। कम्पूचिया के प्रश्न पर सदस्य देशों मे दो पक्ष थे -- एक सिहानुक की निर्वासित सरकार को प्रतिनिधित्व देना चाहता था और दूसरा हेंग सामरिन की सरकार को। मतभेद की स्थिति में भारत के प्रस्ताव पर कम्पूचिया के स्थान को रिक्त रखने पर सहमति हुई।[98]

इस तरह विवाद के एक प्रमुख विषय का हल भारत के कूटनीति के प्रयासों से खोज *लिया गया। इसी तरह कुछ देश अफगानिस्तान म सोवियत संघ की उपस्थिति का* उसका नामोल्लेख करते हुए प्रस्ताव पारित करना चाहते थे। भारत ने प्रयास किये कि किसी देश का नाम लिये बगैर विदेशी सैन्य उपस्थिति के प्रति सम्मेलन विरोध प्रकट करे भारत को इन प्रयासों मे भी सफलता मिली।

5 दिन के विचार-विमर्श के बाद सम्मेलन द्वारा नई दिल्ली घोषणापत्र घोषित किया गया। इसी के साथ 13 सूत्रीय नई दिल्ली सन्देश भी घोषित किया गया। आर्थिक सहयोग के *क्रियान्वयन हेतु एक कार्यक्रम भी घोषित किया गया।*

सम्मेलन के घोषणापत्र मे दो भाग थे। पहले भाग में महाशक्तियों से शक्तिप्रभाव तथा सर्वोच्चता की पिपासा को शात करने का आग्रह किया गया तथा दूसरे भाग में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को स्थापित करने के उपाय सुझाए गए।

राजनीतिक घोषणा पत्र के मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार थे --[99]

1 आणविक शक्ति के भय अथवा प्रयोग पर तत्काल बंदिश लगे तथा अणु सम्पन्न राष्ट्र आणविक शस्त्रो के परीक्षण पर प्रतिबंध हेतु व्यापक संधि करें।

2 प्रभावकारी अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण मे आणविक निशस्त्रीकरण हो तथा सामान्य निशस्त्रीकरण हेतु बातचीत की जाए।

3 विश्व के विभिन्न भागों म अणुरहित क्षेत्र घोषित किये जाए।

4 श्रीलका में अगले वर्ष होने वाले हिन्द महासागर क्षेत्र के सम्मेलन की तैयारी प्रारम्भ

की जाए जिसमें इस क्षेत्र में महाशक्तियों की सैन्य उपस्थिति को कम करने पर विचार किया जाएगा।

5 अमेरिका एवं सोवियत संघ हिन्द महासागर में अपनी सैन्य शक्ति कम करने के विषय में संवाद प्रारम्भ करें।

6 ब्रिटिश द्वीपसमूह डियागोगार्सिया सहित मारीशस को वापस किये जाए।

7 यरुशलम सहित फिलीस्तीन के सभी इजराइल अधिकृत क्षेत्रों से इजराइल अपनी सेनाएं हटाए।

8 आणविक ठिकानों पर सैन्य आक्रमण रोकने के लिये तत्काल अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के माध्यम से प्रतिबन्ध लगाए जाए।

9 फिलीस्तीनी लोगों के विरुद्ध अपराध करने के लिये युद्ध अपराध पर विचार करने के लिये इजराइल के विरुद्ध एक अधिकरण बनाया जाए।

घोषणा पत्र में फिलीस्तीनियों तथा दक्षिण अफ्रीका एवं नामीबिया के लोगों का इजराइल तथा दक्षिण अफ्रीकी सरकार के विरुद्ध न्यायोचित संघर्ष में समर्थन व्यक्त किया गया।

इसमें अफगानिस्तान तथा कम्पूचिया से विदेशी सैनिकों को तत्काल हटाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय इन क्षेत्रों में स्थाई शांति स्थापित करने हेतु भूमिका निभाने का आग्रह किया गया।

गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों से उनके विवाद परस्पर सहयोग और शांतिपूर्ण साधनों द्वारा हल करने की अपील की गई।

इसी तरह आर्थिक घोषणा पत्र में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था स्थापित करने के लिये तत्काल उपाय करने का आग्रह किया। न्यूनतम विकसित देशों विशेषकर पृष्ठ प्रदेशीय एवं द्वीपों को उदार शर्तों पर शासकीय स्तर पर विकास सहायता दी जाए। तथा इन देशों पर के कर्ज रद्द किया जाए। इन राष्ट्रों को अतिरिक्त सहायता विकास हेतु दी जाए।[100]

प्रत्येक राष्ट्र को शांतिपूर्ण कार्यों के लिये आणविक तकनीकी विकसित करने की अनुमति दी जाए तथा अणु अप्रसार संधि की शर्तों से मुक्त रखा जाए।[101]

नई अन्तर्राष्ट्रीय संचार व्यवस्था के लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिये गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के सूचना माध्यम सूचनाओं के विउपनिवेशीकरण के लिये कोई प्रयास शेष न छोड़े तथा इन राष्ट्रों के विरुद्ध किये जाने वाले प्रचार का प्रतिरोध करें।[102]

इसी तरह सम्मेलन के अवसर पर गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के नेताओं ने महाशक्तियों तथा विकसित राष्ट्रों के अध्यक्षों के नाम एक अपील प्रकाशित की जिसे नई दिल्ली सन्देश नाम दिया गया। इस 13 सूत्रीय सन्देश में महाशक्तियों से शस्त्रस्पर्धा रोकने तथा नाभिकीय युद्ध की आशंकाओं को समाप्त करने के लिये आग्रह किया जिससे न केवल मानवता वरन्

आने वाली पीढी के लिये गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है।[103]

नई दिल्ली सन्देश मे कहा गया है --

"हमारे ससार की असुरक्षा और उद्विग्नता निरन्तर बढ रही है। अन्तर्राष्ट्रीय *अर्थव्यवस्था मे गैर-बराबरी शोषण और महाशक्तियो का वर्चस्व आज भी बना हुआ है।* परिस्थिति की गम्भीरता का प्रमाण है -- शस्त्रो की बढती हुई होड जिसमे ताकतवर की कोशिश है कि कमजोर वर्ग परिवर्तन के लिये कदम न उठा सके। बडी शक्तिया अपने क्षेत्रीय सघर्षो मे उलझा रही है। वे ऐसी नाभिकीय प्रतिस्पर्धा मे डूबी है जिससे सारी दुनिया के ध्वस का खतरा है शाति और शातिपूर्ण सह-अस्तित्व स्वतत्रता निरस्त्रीकरण और विकास हमारे समय के मुख्य मुद्दे है लेकिन इस शाति की बुनियाद अनिवार्यत न्याय और समानता होनी चाहिए क्योकि असहय असमानता और उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद द्वारा स्थापित शोषण ही दुनिया मे तनाव सघर्ष और हिंसा का सबसे बडा कारण है हम गुटनिरपेक्ष राष्ट्रो के अध्यक्ष महती शक्तियो से अस्त्र होड रोकने की अपील करते है, क्योकि वह बहुत तेज रफ्तार से पृथ्वी नाम के इस उपग्रह के भौतिक ससाधनों को निगल रही है।[104]

नई दिल्ली सन्देश मे आर्थिक सकट की ओर इशारा करते हुए तत्काल उससे उबरने के कदम उठाने की माग की गई है। प्रस्ताव किया गया कि "विकास के लिये मुद्रा तथा वित्त" के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जाए उसमे सारी दुनिया के देश सम्मिलित हो और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा तथा वित्त के ढाचे को व्यापक ढग से नया स्वरूप दिया जाए।[105]

इस सम्मेलन मे इन महत्वपूर्ण घोषणाओ तथा सन्देश के साथ ही यह ऐतिहासिक सम्मेलन सम्पन्न हुआ।

इस सम्मेलन मे भारत की मेजबान देश के रूप मे तथा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के सूत्रधार देश के रूप मे अत्यन्त प्रभावशाली भूमिका रही। सम्मेलन मे कुल मिलाकर विकसित देशों द्वारा तीसरी दुनिया को रुग्ण और पगु करने वाले तरीको पर प्रहार किये गए। कुछ मुद्दो पर सदस्य राष्ट्रो मे सैद्धान्तिक मतभेद होते हुए भी ऐसे सघर्ष की स्थिति नही बन सकी जो आन्दोलन के महत्व को नष्ट करती या सम्मेलन असफल होता। सम्मेलन की सफलता का प्रमाण मुख्य रूप से यही है कि विवाद के किसी भी विषय ने सघर्ष या असहमति का रूप नही लिया और लगभग सभी पर आम-सहमति मिलने मे सफलता मिल गई।

इस सम्मेलन ने पारस्परिक सहयोग के लिये ठोस कार्यक्रम बनाते हुए पाच विशेष योजनाओं पर बल दिया है --

1 हवाना में समुद्रपारीय निगमो के सम्बन्ध में सूचना एकत्रित करने के लिए एक केन्द्र की स्थापना करना।

2 नई दिल्ली में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लिये एक केन्द्र की स्थापना।
3 गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो के अवदान में निर्मित फण्ड का चलाना।
4 प्रायोजनाओं सम्बन्धी विकास की सुविधाओ के लिये एक प्रायोजना की स्थापना। तथा,
5 उत्पादक सघ को परिषद का गठन।[106]

ये कार्यक्रम उच्च स्तर पर विशेषज्ञों, वैज्ञानिको, अर्थशास्त्रियो, योजनाकारो से सलाह लेकर चलाए जाएगे। प्राथमिकता अन्न के उत्पादन को दी गई।[107]

यह तथ्य है कि इस सम्मेलन से आन्दोलन को नयी दिशा प्राप्त हुई है। इससे एक नये सघर्ष (या प्रयास) की शुरुआत का सकेत प्राप्त होता है। पहली बार इस सम्मेलन के द्वारा सदस्यों के मध्य विद्यमान विवादो को द्विपक्षीय आधार पर बातचीत करते हुए हल करने की सार्थकता देशों ने अनुभव की। श्रीमती गाधी के सम्मेलन के दौरान कई मुद्दो पर द्विपक्षीय और बहुपक्षीय बातचीत के लिये अवसर पैदा किया।

भारत ने इन सारी स्थितियों मे गुट-निरपेक्षता के मूल सिद्धान्तो से समझौता करने की स्थिति पैदा नही होने दी। साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के विरोध के साथ-साथ राष्ट्रीय मुक्ति सघर्षों स्वापो नामीबिया, तथा फिलीस्तीन का जोरदार समर्थन किया।

इस शिखर सम्मेलन मे अध्यक्ष चुने जाने के बाद श्रीमती गाधी और भारत के कधों पर निश्चय ही गम्भीर दायित्व आ गया है। मुख्य रूप से इसलिये कि वर्तमान विश्व मे तनाव एव असमानता का तीव्र विकास मानवता के समक्ष गम्भीर चुनौती प्रस्तुत कर रहा है।

श्रीमती गाधी ने अध्यक्ष चुने जाने के बाद सम्मेलन की उपलब्धियो का उल्लेख करते हुए एक महत्वपूर्ण पत्रकार वार्ता मे सम्पन्न राष्ट्रो को आगाह किया कि अगर वे आर्थिक मामलो मे गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो की उपेक्षा करते है तो इसका खतरा उन्हे उठाना ही पड़ेगा। हम किसी से दया की भीख नही माग रहे वरन सहयोग चाहते है। अगर वे मदद करते हैं तो उनको भी उतना ही लाभ होगा जितना हमारा।[108]

सम्मेलन की सफलता का दावा करते हुए श्रीमती गाधी ने कहा कि सम्मेलन की असफलता की भविष्य-वाणियां एक बार पुन गलत सिद्ध हुई हैं। जब तक ससार मे दमन और शोषण जारी रहेगा, गुट-निरपेक्ष आन्दोलन और उसके सिद्धान्तो की सार्थकता बनी रहेगी।[109]

इस बात पर श्रीमती गाधी ने असहमति प्रकट की कि यह आन्दोलन अमेरिका के विरुद्ध है। उन्होंने कहा कि हमारे अमेरिका से अच्छे सम्बन्ध है। उन्होंने सम्मेलन की सफलता के लिये शुभकामनाए भेजी थी।[110]

इस पत्रकार वार्ता मे गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो के अध्यक्ष के रूप मे अपनी भूमिका का महत्व समझते हुए घोषणा की कि वे सयुक्त राष्ट्र महासभा के आगामी अधिवेशन मे भाग

लेने जाएगी जहा नई दिल्ली सन्देश के सन्दर्भ मे विश्व के राष्ट्राध्यक्षों से विचार-विमर्श करेगी।[111]

अपनी उक्त घोषणा के क्रियान्वयन में श्रीमती गाधी सितम्बर 83 के अन्तिम सप्ताह मे अमेरिका की यात्रा पर पहुँची जहा उन्होने सयुक्त राष्ट्र महासभा के अड़तीसवे अधिवेशन मे सम्मिलित होने वाले विभिन्न राष्ट्रों के अध्यक्षों से नई दिल्ली सन्देश के सन्दर्भ मे विचार-विमर्श प्रारम्भ किया। 28 सितम्बर, 83 को श्रीमती गाधी ने गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के अध्यक्ष के रूप म सयुक्त राष्ट्र महासभा मे विचार रखने हेतु आमत्रित किया था। राष्ट्रपति रीगन ने सयुक्त राष्ट्र में विश्व नेताओं की शिखर बैठक बुलाने के लिये श्रीमती गाधी द्वारा की गई पहल के लिये सहयोग का आश्वासन दिया था।[112]

किन्तु इसके पूर्व ही राष्ट्रपति रीगन ने गुट-निरपेक्ष आन्दोलन पर प्रहार करते हुए कहा था कि इस आन्दोलन मे सोवियत सघ की पिछलग्गू सरकारे घुस गई है।[113]

रीगन ने कहा था "बनावटी गुट-निरपेक्षता बनावटी शस्त्र-नियत्रण स अधिक अच्छी नही है।"[114]

रीगन द्वारा गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की जो कड़ी आलोचना की गई इसका उत्तर आन्दोलन की अध्यक्ष श्रीमती गाधी ने महासभा मे अपने मुख्य भाषण म ही दिया।

श्रीमती गाधी ने कहा --

"गुट निरपेक्ष के सदर्भ म महत्व निरपेक्षता का है जिसके अन्तर्गत सबसे दोस्ती रखने की भावना छिपी हुई है। इस भावना के मूल मे किसी भी राष्ट्र स मित्रता स्थापित की जा सकती है उन राष्ट्रों कैसी शासन व्यवस्था है यह तो उनका आन्तरिक मामला है किन्तु जो दोस्ती के ताने-बाने को मजबूत कर सकता है उसे दोस्त बनाया जा सकता है। ऐसे राष्ट्र जो इस निष्ठुर खोज मे लगातार लगे है और भयकर शस्त्रों को जमा करने की होड़ म लगे हैं तथा इसी को सुरक्षा का कवच मानते हैं उनसे अलग राष्ट्रों की जमात को गुट निरपेक्ष की सज्ञा दी जा सकती है।"[115]

श्रीमती गाधी ने विश्व नेताओ को अपने प्रभावशाली एव विस्तृत उदबोधन म आगाह किया कि--

नई अर्थव्यवस्था जन्म लेने के लिये अकुला रही है। शातिपूर्ण ढग स यदि परिवर्तन नहीं हुआ तो उसका स्थान हिंसा ले सकती है।[116]

उन्होंने अपना भाषण इस घोषणा के साथ प्रारम्भ किया कि उनकी वर्तमान यात्रा शाति और सहयोग की खोज हेतु हुई है। उन्होंने बडी शक्तियो म सघर्ष का भी त्याग करके आम तथा पूर्ण निशस्त्रीकरण हेतु प्रयास करने का अनुरोध किया।[117]

उन्होंने टकराव समाप्त करने की गुट-निरपेक्ष दशा की अपील को दोहराते हुए कहा कि सघर्ष से होने वाली पीडा को हम समझते हैं। हम नहीं चाहते कि तनाव बढ़े। मौजूदा सैनिक तकनालाजी के विकास स मानव जाति के विनाश का खतरा पैदा हो गया

है।[118]

श्रीमती गाधी ने कहा कि -- आप ऐसे संसार की कल्पना कीजिए जहां न कोई पनाह लेने वाला होगा न कोई पनाह देने वाला। एक ही परमाणु युद्ध एक लम्हे में सैकड़ो नहीं हजारो हिरोशिमा पर उतर देगा। परमाणु मौत के दानवी हथियारो की होड समाप्त होनी चाहिए। हम लोग तभी जिन्दा रह सकते हैं जब सब मिलकर शांति के लिये संघर्ष करें। आज यदि शांति नहीं होगा तो कल जीवन नहीं बचेगा।

श्रीमती गाधी ने पश्चिम एशिया अफगानिस्तान तथा इरान इराक के बीच युद्ध की जटिल समस्याओ की भी चर्चा की तथा इनके शातिपूर्ण समाधान की आवश्यकता पर बल दिया।[120]

श्रीमती गाधी ने शांति निशस्त्रीकरण, प्रयागो, विकास तथा संयुक्त राष्ट्र का शक्ति कम करने के सन्दर्भ में मुख्य रूप से चिन्ता व्यक्त की।[121]

असमानता तथा दबाव पर आधारित विश्व अर्थव्यवस्था के स्थान पर नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए व्यापार वित्तीय एव तकनीकी सहयोग की नयी शुरुआत करने का आग्रह किया जिससे विश्व की गरीबी शताब्दी के अत तक दूर की जा सके।[122]

संयुक्त राष्ट्र को मानव जीवन का महत्वपूर्ण अंग घोषित करते हुए उसे सहयोग करके एक प्रभावी संस्था बनाने की अपील करते हुए कहा कि 40 वर्ष पूर्व जो स्थितिया नही थी वे आज विद्यमान है जिनका सामना संयुक्त राष्ट्र को करना है।[123]

इस तरह संयुक्त राष्ट्र महासभा में गुट-निरपेक्ष राष्ट्र के अध्यक्ष के रूप में श्रीमती गाधी ने अपने इस प्रभावी उद्बोधन के माध्यम से अपने दायित्वो का निर्वाह करना प्रारम्भ कर दिया है। इस भूमिका का सफल होना तभी सम्भव है जब गुट-निरपेक्ष राष्ट्र मुख्य रूप से उन्हें सहयोग करें। समस्याओ का विकराल रूप गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो के ही सामने है। भविष्य के प्रति उन्हे सतर्क रहना है। इसके लिये यदि इन राष्ट्रो ने परस्पर सद्भाव तथा एकता की स्थितिया निर्मित की तो भारत अपने दायित्वो का निर्वाह करने में पूर्णत सफल हो सकेगा।

संदर्भ-सूची

1 द टाइम्स आफ इडिया -- 29 दिसम्बर, 1979।
2 इडिया बैकग्राउण्डर वाल्यूम - 8, न० - 174 (40) अगस्त, 8 1983।
3 वेदिक, वेदप्रताप -- भारतीय विदेशनीति नये दिशा सकेत, पृष्ठ 54।
4 टाइम्स आफ इडिया -- 8 जनवरी, 1979।

5 इंडियन एक्सप्रेस -- 31 जनवरी, 1979।
6 टाइम्स आफ इंडिया -- 1 फरवरी, 1979।
7 हिन्दुस्तान टाइम्स -- 23 फरवरी, 1979।
8 इंडियन एक्सप्रेस -- 8 जुलाई, 1979।
9 नायक, जे० ए० -- इंडियन एण्ड द कम्युनिस्ट कन्ट्रीज, डाक्यूमेन्ट्स 1980, अविनाश रिफरेन्स पब्लिकेशन्स पृष्ठ 19।
10 इंडिया बैकग्राउण्डर -- अगस्त 12-18, 1980 पृष्ठ 596।
11 इंडियन एक्सप्रेस -- 8 जुलाई 1980।
12 नायक, जे० ए० -- पूर्वोक्त - पृष्ठ 20-23।
13 टाइम्स आफ इंडिया -- 15 सितम्बर 79।
14 इण्डिया बेकग्राउण्डर्स जनवरी 28 1980, पृष्ठ 2062।
15 इंडिया बैकग्राउण्डर -- जनवरी 28, 1980 पृष्ठ 2062।
16 टाइम्स आफ इंडिया -- 29 दिसम्बर, 1979।
17 टाइम्स आफ इंडिया -- 12 जनवरी 1980।
18 एशियन रिकार्डर -- 4-10 मार्च 1980 पृष्ठ 15 343।
19 -वही- फरवरी 19-25 1980 पृष्ठ 15, 324।
20 टाइम्स आफ इंडिया -- 1 अगस्त 1982।
21 -वही-
22 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 23 सितम्बर, 1982।
23 इंडियन एण्ड फारेन रिव्यू -- खण्ड - 18 अंक - 19, जुलाई 1981 पृष्ठ 15।
24 गौतम, रामसखा - 1980 के उपरान्त भारतीय विदेशनीति लोक प्रशासन, मध्यप्रदेश राजनीति विज्ञान सम्मेलन विशेषांक, अप्रैल-जून, 1982 पृष्ठ 11।
25 द टाइम्स आफ इंडिया -- 22 जून 1980।
26 एशियन रिकार्डर -- जुलाई 29-अगस्त 4 1980 पृष्ठ 155-171।
27 -वही-
28 -वही-
29 टाइम्स आफ इंडिया -- 22 जून 1980।
30 एशियन रिकार्डर -- दिसम्बर 16-22 1980 पृष्ठ 15 791।
31 टाइम्स आफ इंडिया -- 15 नवम्बर 1980।
32 इंडियन एक्सप्रस -- 27 जून, 1981।
33 एशियन रेकार्डर -- 6-12 अगस्त 1980 पृष्ठ 16 162-63।
34 -वही- पृष्ठ 16 163।
35 -वही- पृष्ठ 16 162।

36 एशियन रेकार्डर -- मार्च 5-11, 1983।
37 टाइम्स आफ इंडिया -- 31 अक्टोबर, 83।
38 स्टेट्समेन -- 31 अक्टोबर, 1983।
39 टाइम्स आफ इंडिया -- 31 अक्टोबर, 83।
40 टाइम्स आफ इंडिया -- 2 दिसम्बर, 1981।
41 एशियन रेकार्डर -- अगस्त 6-12 1981 पृष्ठ 16 163।
42 -वही-
43 गौतम रामसया -- पूर्वोक्त स उद्धृत, पृष्ठ 4।
44 पीस एण्ड सॉलिडरिटी नई दिल्ली वाल्यूम - 13 फरवरी-मार्च 1982 अंक-23, पृष्ठ 2।
45 एशियन रिकार्डर -- दिसम्बर, 24-31 1981 पृष्ठ 16 377-78।
46 -वही- पृष्ठ 16 377।
47 एशियन रेकार्डर -- 24-31 दिसम्बर, 1981, पृष्ठ 377।
48 टाइम्स आफ इंडिया -- 25 दिसम्बर, 1982।
49 टाइम्स आफ इंडिया -- 25 दिसम्बर 1982।
50 हिन्दुस्तान टाइम्स -- 25 दिसम्बर, 1982।
51 -वही-
52 टाइम्स आफ इंडिया -- 25 दिसम्बर, 1982।
53 इंडिया बेकग्राउन्डर, नवम्बर 1982, पृष्ठ 269।
54 इण्डिया बेकग्राउण्डर नवम्बर, 1982, पृष्ठ 269।
55 -तथैव- नवम्बर 15 पृष्ठ 271।
56 टाइम्स आफ इंडिया -- 12 नवम्बर, 1983।
57 हिन्दुस्तान टाइम्स -- 2 दिसम्बर, 1983।
58 इण्डिया बेकग्राउण्डर 4 अक्टोबर, 1982, पृष्ठ 127।
59 दिनमान -- 25-31 जुलाई, 1982, पृष्ठ 15।
60 एशियन रेकार्डर -- 27 अगस्त - 2 सितम्बर 1982 पृष्ठ 16 760।
61 -वही-
62 -वही-
63 एशियन रेकार्डर -- 27 अगस्त -- 2 सितम्बर 1982 पृष्ठ 16 760।
64 -वही-
65 -वही-
66 -वही-
67 टाइम्स आफ इंडिया -- 14 अगस्त, 1982।

68 -वही-
69 -वही- 28 सितम्बर 1983।
70 टाइम्स आफ इंडिया -- 12 फरवरी 1980।
71 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 12 फरवरी 1980।
72 द टाइम्स आफ इंडिया -- 15 फरवरी 1980।
73 एशियन रेकार्डर -- मार्च 11-17, 1980, पृष्ठ 15 356।
74 -वही-
75 टाइम्स आफ इंडिया -- 12 फरवरी 1980।
76 इण्डिया बेकग्राउण्डर अक्टूबर 4 1982 पृष्ठ 221-222।
77 टाइम्स आफ इंडिया -- 9 दिसम्बर 1980।
78 एशियन रेकार्डर -- जनवरी 8-14, 1981 पृष्ठ 15 827।
79 एशियन रेकार्डर -- जनवरी 8-14, 1981, पृष्ठ 15 828।
80 टाइम्स आफ इंडिया -- 12 दिसम्बर 1980।
81 -वही-
82 एशियन रेकार्डर -- जनवरी 8-14 1981 पृष्ठ 15, 828।
83 संयुक्त विज्ञप्ति का मूल पाठ -- एशियन रिकार्डर -- जनवरी 8-14 1981 पृष्ठ 15, 828।
84 -वही- पृष्ठ 15, 827।
85 एशियन रेकार्डर -- जनवरी 8-14 1981 पृष्ठ 15 830।
86 -वही- नवभारत टाइम्स -- 29 जुलाई 1982।
87 टाइम्स आफ इंडिया -- 21 सितम्बर 1982।
88 एशियन रेकार्डर -- अक्टूबर 22-28, 1982 पृष्ठ 16 848।
89 -वही-
90 एशियन रेकार्डर -- अक्टूबर 22-28 1982 पृष्ठ 16 848।
91 टाइम्स आफ इंडिया -- 27 सितम्बर, 1982।
92 एशियन रेकार्डर -- अप्रैल 16-22 1983 पृष्ठ 17 126।
93 टाइम्स आफ इंडिया -- 8 मार्च 1983।
94 टाइम्स आफ इंडिया -- 8 मार्च, 1983।
95 -वही-
96 -वही-
97 -वही-
98 एशियन रेकार्डर -- अप्रैल 16-22, 1982, पृष्ठ 17, 120।
99 -वही- पृष्ठ 17, 128।

100 एशियन रिकार्डर -- अप्रैल 16-22, 1983, पृष्ठ 17, 131।
101 -वही-
102 -वही-
103 -वही-
104 दिनमान -- 20-26 मार्च 1983, पृष्ठ 22।
105 -वही-
106 दिनमान -- 20-26 मार्च 83।
107 दिनमान -- 20-26 मार्च, 1983, पृष्ठ 23।
108 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 13 मार्च, 1983।
109 द हिन्दुस्तान टाइम्स -- 13 मार्च, 1983।
110 -वही-
111 टाइम्स आफ इंडिया -- -वही-
112 दैनिक हिन्दुस्तान -- 28 सितम्बर, 1983।
113 दैनिक हिन्दुस्तान -- 28 सितम्बर, 1983।
114 नवभारत टाइम्स -- 27 सितम्बर, 1983।
115 द स्टेट्समेन, 30 सितम्बर, 1983।
116 द स्टेट्समेन, 30 सितम्बर, 1983।
117 हिन्दुस्तान टाइम्स -- 30 सितम्बर, 1983।
118 -वही-
119 स्टेट्समेन, 30 सितम्बर, 1983।
120 स्टेट्समेन, 30 सितम्बर, 1983।
121 -वही-
122 -वही-

अध्याय - 7

उपसंहार

उपसंहार

किसी भी देश की विदेशनीति की सफलता का मूल्याकन मुख्यत इसी आधार पर किया जाता है कि उसके माध्यम से राष्ट्रीय हितो की कहा तक रक्षा हुई है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि राष्ट्रीय हितो की ही पूर्ति करने वाली विदेशनीति ही अधिक सार्थक होती है। विदेशनीति का सैद्धान्तिक पक्ष जब व्यवहार के धरातल पर उतरता है तो यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि घोषित सिद्धान्तो का इस तरह क्रियान्वयन न हो कि राष्ट्रीय हितो की कीमत चुकानी पडे।

इसके अतिरिक्त किसी भी देश की विदेशनीति की सफलता विदेशनीति के लिये उपलब्ध अन्त सरचना पर निर्भर है। विदेशनीति और रक्षानीति मे यदि समानान्तरता नही है तो विदेशनीति की सफलता को स्थायी नही रखा जा सकता। अत रक्षानीति, विदेशनीति के सफल क्रियान्वयन को सशक्त आधार प्रदान करती है। उदाहरणार्थ यदि कोई देश सुरक्षा व्यवस्था की दृष्टि से कमजोर या शक्तिहीन है और उसकी आस्था विश्वशाति की स्थापना मे है तो शेष विश्व इस आस्था को उसकी विवशता ही मानेगा अथवा इस आस्था पर विश्वास नही करेगा। अस्तु, शाति की बात करने के लिये भी शक्तिशाली होना आवश्यक है। रक्षानीति के अतिरिक्त विदेशनीति का सफल क्रियान्वयन उसकी राजनयिक-व्यवस्था की श्रेष्ठता पर भी निर्भर है। दक्ष एव प्रशिक्षित राजनयिक तथा उत्कृष्ट राजनय भी विदेशनीति की आवश्यक अन्त सरचना है। यदि कोई देश अपनी विदेशनीति के अनुकूल राजनयिक व्यवस्था स्थापित करने मे सफल नही होगा तो वह राष्ट्रीय हितो की रक्षा करने वाली विदेशनीति सचालित नही कर सकेगा। रक्षानीति तथा राजनय के अतिरिक्त गुप्तचर व्यवस्था तथा सचार साधनो की दक्षता भी विदेशनीति सचालित नही कर सकेगा। रक्षानीति तथा राजनय के अतिरिक्त गुप्तचर व्यवस्था तथा सचार साधनो की दक्षता भी विदेशनीति की अन्त सरचनाओ मे सम्मिलित है। विदेशनीति का क्रियान्वयन, गतिशील अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के युग मे जिसमे न कोई स्थायीमित्र हो न स्थायी शत्रु, बहुत कठिन कार्य है। इसलिये इस गतिशीलता पर पकड बनाए रखने के लिए सशक्त एव प्रभावी गुप्तचर व्यवस्था तथा सचार एव सूचना प्रणाली अनिवार्य शर्त है।

इस तरह विदेशनीति का मूल्याकन जहा इस तथ्य के आधार पर किया जाता है कि वह राष्ट्रीय हितो की रक्षा तथा वृद्धि करने मे कहा तक सहायक हुई है, वहीं इसका

क्रियान्वयन अपरिहार्य अन्त सरचना के अभाव में सम्भव ही नहीं है जिसमें रक्षानीति, राजनय, गुप्तचर व्यवस्था और सचार माध्यमों पर नियत्रण सम्मिलित हैं।

यह सही है कि नेहरू युग में विदेशनीति के जिन सिद्धान्तों को विकसित किया गया उन पर तत्कालीन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों का प्रभाव था, इसीलिये नेहरू की मान्यता थी कि भारत की विदेशनीति को नेहरू की विदेशनीति कहना उचित नहीं है वह तो परिस्थितियों की ही उपज है किन्तु विदेशनीति के सिद्धान्तों के क्रियान्वयन में यदि परिस्थितियों से न्यूनाधिक समझौते की उपेक्षा की जाए तो विदेशनीति राष्ट्रीय हितों से असम्पृक्त हो जाती है। 1970 के पूर्व मुख्य रूप से नेहरू युग में यही कमी विदेशनीति के सन्दर्भ में उभरकर सामने आती है। स्वतंत्र होते ही भारत ने विश्व राजनीति में अपनी सक्रिय और प्रभावशाली भूमिका निभाने के लिये विश्वशांति की स्थापना के प्रयास, संयुक्त राष्ट्र में आस्था, साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद का विरोध, प्रजातिभेद व रगभेद का विरोध, सैन्य सगठनों का विरोध और इन सबके लिये गुट-निरपेक्षता को साधन बनाना प्रमुख लक्ष्यों और सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार किया। लेकिन इस भूमिका के लिये जो मूलभूत आवश्यकताएं थीं उनका भारत में सर्वथा अभाव था, परिणाम यह हुआ कि नेहरू युग कश्मीर को लेकर पाकिस्तान के साथ विवाद से प्रारम्भ हुआ और उसका अन्त चीन द्वारा भारत की पराजय के रूप में हुआ। गुट-निरपेक्षता के प्रणेता होने के बाद भी गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में हम इतनी प्रभावी भूमिका भी नहीं निभा सके कि सकट की स्थितियों में गुट-निरपेक्ष समुदाय का कोई देश हमारे साथ होता।

भारत ने चीन से मैत्री के इस समर्पण भाव से प्रयास किये कि स्वतंत्रता के बाद भारत ने च्यांग काई शेक की राष्ट्रवादी चीनी सरकार से भी मैत्री की ओर साम्यवादी क्रान्ति ने जब इस सरकार को उखाड़ फेंका तो भारत ने माओ त्से तुंग की सरकार को तत्काल मान्यता देकर उससे सम्बन्ध स्थापित किये तथा इन सम्बन्धों को भारत "चीनी-हिन्दी भाई-भाई" के कल्पनालोकीय युग तक पहुँचाया। इसी प्रक्रिया में जिस "तिब्बत" को ब्रिटिश सरकार के समय मध्यवर्ती राज्य के रूप में ब्रिटेन ने सुरक्षित रखा था, उस पर चीन की प्रभुसत्ता को भी स्वीकार कर लिया और दूसरी ओर दलाई लामा को शरण देकर चीन को नाराज भी किया। दूरदर्शी यथार्थवाद ने नेहरू को यदि चीन मैत्री के लिये प्रेरित किया भी था तो भी यह तो देखना आवश्यक था कि चीन हमारे सन्दर्भ में क्या चिन्तन विकसित कर रहा है। हम यह इसीलिये नहीं कर सके कि न हमारा राजनय, हमारी विदेशनीति एव राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने में सक्षम था, न गुप्तचर व्यवस्था इतनी प्रभावी थी कि हम चीनी योजनाओं को जान पाते, न सचार साधनों के नाम पर हमारे पास कोई उपलब्धि थी। परिणाम यह हुआ कि उपयुक्त अन्त सरचना के अभाव में हमारी चीन-नीति ने हमारी विदेशनीति को लड़खड़ा दिया और चीन से सबक मिलने के बाद ही हमने विदेशनीति निर्माण एव क्रियान्वयन की अपरिहार्यताओं की ओर ध्यान देना प्रारम्भ

किया।

यदि यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि भारत स्वतन्त्रता के समय साम्राज्यवादी शोषण के कारण इस स्थिति में नहीं था कि विदेशनीति के लिये आवश्यक अन्त संरचना पर पर्याप्त ध्यान देता तो उसका विनम्र उत्तर यही है कि यदि भारत नव-स्वतंत्र होने से बहुत अधिक साधनहीन था तो साधन-सम्पन्न होने तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दुरूह समस्याओं में देश के नेतृत्व की ऊर्जा-नष्ट करने की क्या आवश्यकता थी उसका विपरीत प्रभाव यह हुआ कि एशिया अफ्रीका तथा विश्व राजनीति में एक कमजोर देश के बढ़ते हुए प्रभाव को चीन सहन नहीं कर सका और बाडुंग के अफ्रो एशियाई सम्मेलन से ही उसने भारत की छवि एवं प्रभाव को धूल-धूसरित करने का जो क्रम प्रारम्भ किया वह 1962 की दर्दनाक पराजय के समय चरम सीमा पर पहुंचा।

यह मान्यता कि चीनी आक्रमण के विरुद्ध पश्चिमी देशों की सहायता गुट-निरपेक्षता की ही नीति का परिणाम थी भी सही नहीं कही जा सकती क्योंकि इस सहायता का कारण तत्कालीन विश्वराजनीति में व्याप्त तनावपूर्ण स्थितियां थीं तथा साम्यवादी देश ने एक गैर-साम्यवादी देश पर आक्रमण किया था क्योंकि सहायता के एक वर्ष बाद ही अमेरिका ने भारत पर काश्मीर के सन्दर्भ में दबाव डालना प्रारम्भ कर दिया था जिसे न मानने पर घोषित सहायता की आपूर्ति भी आगे चलकर रोक दी गई।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि नेहरू युग में भारत के अन्य पड़ोसी देशों से भी या तो सम्बन्ध अच्छे नहीं रह या उनकी उपेक्षा की गयी। पड़ोसी देशों पर कोई प्रभाव स्थापित हुआ नहीं बड़ी शक्तियां दबाव में ही रखने के प्रयत्न करती रहीं और सफल भी हुई। गुट-निरपेक्ष देश न पाकिस्तान से मतभेद में हमारे साथ रहे न चीन के आक्रमण के समय।

उपरोक्त तथ्यों से इस बात की पुष्टि होती है कि विदेशनीति के क्रियान्वयन में रक्षानीति की उपेक्षा राजनय की अक्षमता व असफलता गुप्तचर व्यवस्था एवं संचार साधनों की कमजोरी के कारण भारत भयावह रूप से असफल रहा और राष्ट्रीय हितों की निरन्तर कीमत चुकानी पड़ी।

नेहरू के बाद के वर्षों में इन कमजोरियों पर भारत का ध्यान गया लेकिन फिर भी कोई प्रभावी उपलब्धि भारत प्राप्त नहीं कर सका। 1970 तक भारत बड़ी शक्तियों की कृपा की अपेक्षा करता रहा तथा उनके द्वारा प्रभावित किया जाता रहा एवं छोटे देशों द्वारा अपमानित किया जाता रहा। 1947 से 1970 तक की अवधि में राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से विदेशनीति कुछ खास उपलब्धि अर्जित नहीं कर सकी।

1962 की पराजय से मिले कटु अनुभवों ने जब यह बोध कराया कि सुरक्षा की आधारशिला पर ही विदेशनीति का महल खड़ा किया जा सकता है तथा अन्य अनिवार्य अन्त संरचनाओं को भी महत्त्व दिया जाना आवश्यक है तब 1970 तक भारत ने अपने को इस स्थिति में पहुँचाया कि भारत विदेशनीति का संचालन राष्ट्रीय हितों के आधार पर

करे। इसलिए भारत ने 1971 में अपने घोषित लक्ष्यों व आदर्शों को यथार्थवादी आधार पर राष्ट्रीय हितों के अनुरूप मोड़ने में संकोच नहीं किया। अपनी सुरक्षा को मजबूत बनाने के लिए 1971 में एक महाशक्ति के साथ शांति मैत्री और सहयोग के लिए संधान करते हुए भी असंलग्न रहने की असाधारण कूटनीतिक सफलता प्राप्त की। इसी के साथ 1971 में भारत की विदेशनीति की अवधारणाओं में बदलाव के चिन्ह दिखाई देने लगे।

1971 के बाद भारतीय विदेशनीति की अवधारणाओं में परिवर्तन से मेरा यह आशय कदापि नहीं रहा है कि भारत ने स्वतंत्रता के बाद विदेशनीति के अपने घोषित सिद्धान्तों और लक्ष्यों को तिलांजलि दे दी। या इन अवधारणाओं में से कुछ का त्याग किया। मेरा स्पष्ट आशय यही रहा कि भारत ने विदेशनीति क्रियान्वयन के सन्दर्भ में इन अवधारणाओं की नई व्याख्या की है। इस नई व्याख्या के साथ अवधारणाओं को नया स्वरूप व नई दिशा प्रदान की है। यह स्थापित करने के लिए मैं पहले यह स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूं कि मैंने "1971 के बाद" ही इन अवधारणाओं में बदलाव की बात क्यों कही है ?

'1971' अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का वर्ष था। इसी के साथ 1971 में ही भारतीय उपमहाद्वीप 1947 के बाद यथास्थिति में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। उल्लेखनीय यह था कि इन दोनों ही परिवर्तनों में अन्तःसम्बद्धता थी तथा इन दोनों परिवर्तनों की सम्बद्धता ही भारतीय विदेशनीति की अवधारणाओं के क्रियान्वयन में अप्रत्याशित परिवर्तनों का कारण बनी। 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' तथा भारतीय उपमहाद्वीप की यथास्थिति में जो परिवर्तन हुए उनका अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन करना अपने निष्कर्षों को स्पष्ट करने के लिए यहां समीचीन ही होगा।

विश्वयुद्ध के बाद साम्यवाद बनाम पूंजीवाद की जिस वैचारिक प्रतिद्वन्द्विता पर महाशक्तियों द्वारा शक्ति की राजनीति के युग की शुरुआत की गई थी तथा पहले साम्यवाद के फैसले हुए खतरे को नियंत्रित करने के लिये सैन्य संगठनों का जो दौर अमेरिका द्वारा नाटो, सीएटो, सेंटो, एन्जस तथा यू० एस० -- जापान संधि के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। इसका उत्तर सोवियत संघ ने 'वारसा पैक्ट' के अपने सैन्य संगठन के माध्यम से दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दो दशक शीतयुद्ध के ही दशक रहे। साम्यवाद से अमेरिका को इस हद तक घृणा थी कि सोवियत संघ के प्रारम्भिक साम्यवादी भाई 'चीन' को उसने मान्यता तक देने से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं चीन को संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता तक से अमेरिकी निषेधाधिकार के कारण वंचित रहना पड़ा। इस तरह 40 करोड़ से ऊपर की आबादी को अमेरिका ने विश्व समुदाय का सदस्य बनने के उसके अधिकार से महज इसी कारण वंचित रखा कि वह एक साम्यवादी देश था। उधर इसी तरह की वैचारिक कट्टरता चीन ने दिखाई। चीन ने सोवियत संघ के समाजवादी होने पर मात्र इस

आधार पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया कि उसके नेताओं ने स्टालिन के बाद उदार नीति अपनाते हुए अमेरिका से संवाद स्थापित कर लिया था तभी से चीन के लिये सोवियत संघ 'संशोधनवादी' हो गया था। यह कहा जाए कि साम्यवाद के मार्ग से विचलित हो गया। इस तरह चीन व अमेरिका अपनी कथित वैचारिक कट्टरता के कारण एक-दूसरे से पूर्णत दूर रहे एवं एक-दूसरे को अस्पृश्य समझते रहे। इधर एशिया अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका में विश्वयुद्ध के बाद जहां भी संघर्ष हुए अधिकांश साम्यवाद के विरोध या समर्थन के कारण हुए।

1971 में अचानक अमेरिका और चीन के कूटनीतिक सम्बन्धों में सुधार की जो घटनाएं घटी उनसे यह स्पष्ट हो गया कि अब तक जिस वैचारिक द्वन्द्व का दृश्य विश्व में प्रस्तुत किया गया था वह कितना अस्वाभाविक था। 1971 में किसींजर ने अमेरिका के पहले विदेश सचिव के रूप में चीन की यात्रा का कार्यक्रम निश्चित कर एक ऐतिहासिक घटनाक्रम को जन्म दिया। उल्लेखनीय है कि साम्यवाद का वैचारिक बन्धन सोवियत संघ तथा चीन के मध्य भी 1969 में हुए रक्तपात में क्षत-विक्षत हो चुका था। सोवियत संघ पर संशोधनवाद का आरोप लगाने वाले चीन ने जब अमेरिका से दोस्ती के नये रिश्ते तय किये तो क्रेमलिन के नीति निर्माताओं के समक्ष एक अप्रत्याशित संकट उपस्थित हो गया। पश्चिमी यूरोप में नाटो के माध्यम से अमेरिका, सोवियत संघ पर नियंत्रण रखने की रणनीति पहले ही अपना रहा था। उधर जापान में तथा सीएटो के माध्यम से दक्षिणपूर्व एशिया में उसके पैर जम हुए थे। दूसरी ओर मध्यपूर्व में इजराइल तथा सेटो के माध्यम से वह सोवियत संघ की घेराबंदी कर चुका था। पाकिस्तान उसके लिये सैन्य सुविधा का स्थल था ही। और अब जब सोवियत चीन मतभेदों को भुनाने का लक्ष्य लेकर जब अमेरिका चीन तक कथित मैत्री का संदेश लेकर पहुँचा तो सोवियत संघ चाहे कितना ही शक्तिशाली देश हो असुरक्षा की न्यूनाधिक आशंका अनुभव करने लगा। इस तरह विश्व राजनीति में हुआ यह नाटकीय परिवर्तन 1971 को ऐतिहासिक महत्त्व का वर्ष बना गया।

1971 में ही भारतीय उपमहाद्वीप में भी एक महान क्रान्तिकारी घटना घटी। यह क्रान्तिकारी घटना 1947 के भारत विभाजन से जुड़ी हुई थी। 1947 में द्विराष्ट्र सिद्धान्त' के जिस अवैज्ञानिक चिन्तन से भारत के विभाजन के परिणामस्वरूप पाकिस्तान का जन्म हुआ था, वही पाकिस्तान 1971 में एक बार फिर विभाजन के कगार पर आ खड़ा हुआ और इस बार दो राष्ट्रों का सिद्धान्त विभाजन की इस नियति को रोक नहीं सका। पाकिस्तान के सैनिक तानाशाह याहयाखान ने पाकिस्तान में चुनाव तो करवाए लेकिन अविभाजित पाकिस्तान के चुनावों में जो विजेता रहे उन्हें सत्ता हस्तान्तरण से इनकार ही नहीं किया वरन् उनके दमन का जो संकल्प किया उससे स्थिति ही पाक-शासकों के हाथ से निकलती चली गई। भारत की पूर्वी सीमा पर मार्च, 1971 से प्रारम्भ होने वाले स्वाधीनता आन्दोलन तथा उसे कुचलने के लिये किये गये कत्लेआम या नरसंहार से अपनी

जान बचाने लिये भारत की सीमा म लाखों शरणार्थियों के अविरल प्रवेश ने भारत पर आर्थिक बोझ ही नही लाद दिया वरन् उसकी प्रादेशिक अखण्डता तथा सुरक्षा के लिये भी खतरे प्रस्तुत कर दिये। भारत न पाकिस्तान म पैदा होने वाली इस समस्या के हल के लिय जो भी प्रयत्न किय व निश्चय ही पाक-विभाजन को टाल सकते थे लेकिन पाकिस्तान की सैनिक सरकार न कवल सैन्य शक्ति क प्रयोग से बगलादेश के मुक्ति सग्राम को कुचल देने के लिये कृत सकल्प थी वरन् भारत द्वारा किय जा रह प्रयासो का समर्थ बिना 'भारत विरोध' की अपनी पारपरिक नीति क आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन प्राप्त करने म जुट गई। इसी प्रयास म उसन अपन वरिष्ठ सहयोगी 'अमरिका' तथा 1962 क बाद उपलब्ध हुए मित्र चीन की सहायता प्राप्त करन का सकल्प किया और यह सहायता प्राप्त करने के लिये पाकिस्तान न जो कूटनीतिक भूमिका निभाई वह थी चीनी-अमरिकी मैत्री की स्थापना मे मध्यस्थता। इस मध्यस्थता स उपकृत अमेरिका तथा चीन न पाकिस्तान को तत्कालीन विद्यमान सकट म सहयोग करने का वचन भी दिया।

इस प्रकार 1971 म विश्व राजनीति म होन वाले परिवर्तन तथा भारतीय उपमहाद्वीप म होन वाले इस परिवर्तन म अन्त सम्बद्धता स्थापित हो गई जिसन इस क्षत्र मे धुरी निर्माण की प्रक्रिया को मूर्त करत हुए 'चीन-अमेरिकी-पाक' धुरी को सक्रिय कर दिया।

यह धुरी भारत क लिये भी चिन्ता का विषय बन गई। भारत को पाकिस्तान क सम्भावित आक्रमण की योजना बहुत स्पष्ट रूप स दिखाई देने लगी। भारत क लिय यह विचार करना अत्यन्त स्वाभाविक हो गया कि यदि पाकिस्तान न आक्रमण किया तथा उस अमेरिका व चीन का सहयोग भी मिला तो भारत किस तरह सामना करगा। साथ ही यदि बगलादश की स्वतत्रता के आन्दोलन को कुचलने म पाकिस्तान सफल हुआ तो शरणार्थी किस तरह बगलादेश जाएग। प्रधानमत्री को अपनी विदेशनीति पर इन स्थितियो मे विचार करना आवश्यक हो गया और उसी विचार प्रक्रिया का परिणाम हुई, भारत तथा सोवियतरूस सघ के मध्य 9 अगस्त 1971 को सम्पन्न हुई शान्ति मैत्री और सहयोग की 20 वर्षीय सधि।

मेरा स्पष्ट मत है कि भारत-सोवियत सधि स्वतत्र भारत की विदेशनीति के लिये अभूतपूर्व घटना है। 1971 के बाद भारतीय विदेशनीति की बदलती हुई अवधारणाओं की जब हम बात करते हैं जो निश्चय ही यह सधि ही उभर कर सामने आती है। यह सही है कि यह सधि मुख्यत राष्ट्रीय हितो की रक्षा के लिये तत्कालीन परिस्थिति मे श्रेष्ठतम विकल्प थी किन्तु मेरा दृष्टिकोण यही है कि इस 'सधि' के माध्यम से भारत ने अपने राष्ट्रीय हितो की रक्षा करते हुए विदेशनीति की अपनी मुख्य अवधारणा 'असलग्नता' की नई व्याख्या की है। उल्लेखनीय यह है कि इस सधि के ही एक अनुच्छेद मे सोवियत सघ ने भारत की असलग्नता की नीति के प्रति अपना सम्मान तथा समर्थन व्यक्त किया है और

इसीलिये भारतीय प्रधानमंत्री और विदेशमंत्री ने देश-विदेश में लगाए जाने वाले उन आरोपों को मूलतः अस्वीकार कर दिया कि इस संधि में भारत ने अपनी असंलग्नता की नीति का खात्मा कर दिया है। भारत का इस संधि के सन्दर्भ में यह तर्क रहा है कि यह शांति, मैत्री और सहयोग की संधि है। असंलग्नता की नीति सैन्य संगठनों तथा सैन्य संधियों से संलग्न न होने की नीति है। भारत ने सैन्य संधि नहीं की है। यही भारत की विदेशनीति की प्रमुख अवधारणा असंलग्नता की नई व्याख्या है। यह सही है कि संधि में स्पष्ट सैन्य व्यवस्थाएं नहीं है लेकिन संधि कर्त्ता पक्षों व अनुच्छेद 8, 9, व 10 तथा मुख्यतः अनुच्छेद 9 में जो संकल्प किया है वह शांति मैत्री और सहयोग की इस संधि को आवश्यकता पड़ने पर सैन्य सहयोग की ओर ले जा सकता है जिसकी सम्भावनाएं 1971 के भारत-पाक युद्ध में बंगाल की खाड़ी में सातवें जहाजी बेड़े के पीछे सोवियत बेड़े के पहुंचने से तथा चीन की सेनाओं के भारतीय सीमा पर जमा होने की प्रतिक्रियास्वरूप सोवियत चीन सीमा पर सोवियत सेनाओं के जमाव के रूप में निर्मित हो गई थी। प्रश्न यही है कि यदि पाकिस्तान का विभाजन से बचाने के ईमानदार प्रयास अमेरिका और चीन या किसी एक ने भी किये होते तो क्या शांति मैत्री और सहयोग की संधि शांति मैत्री और सहयोग की वचनबद्धता के लिये सैन्यसंधि का रूप नहीं ले सकती थी? अस्तु सैन्य प्रावधानों में स्पष्ट उल्लेख किये बिना भारत ने अपनी असंलग्नता की नीति को सुरक्षित रखा (क्योंकि यह सैन्य संधि नहीं थी) साथ ही सोवियत संघ द्वारा संधि के इस दस्तावेज पर भारत की असंलग्नता की नीति के प्रति सम्मान की स्वीकृति भी प्राप्त की, यही भारतीय विदेशनीति की राजनयिक सफलता थी। भारत ने असंलग्नता की नीति का नया रूप प्रदान किया। वैसे भी कोई सिद्धान्त या आदर्श यदि राष्ट्रीय हितों की पूर्ति न कर सके तो वह निरर्थक ही होता है। अतः भारत-सोवियत संधि भारतीय विदेशनीति के मुख्य घोषित सिद्धान्त में नई व्याख्या के साथ प्रस्तुत हुई।

इस तरह 1971 में चीन-अमरिकी-पाक धुरी को सन्तुलित करने के उद्देश्य से भारत-सोवियत- बंगलादेश की धुरी क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में निर्मित हुई।

उसके बाद की घटनाओं का यहां पुनः उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। केवल इतना ही कि संधि के साथ ही भारत में कूटनीतिक चातुर्य का जो प्रारम्भ किया था उसकी निरन्तरता 1971 के भारत-पाक युद्ध में रणकूटनीति के चातुर्य का ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बंगलादेश की स्वतंत्रता के रूप में बनी रही।

1971 का भारत-पाक युद्ध तथा उसमें भारत को प्राप्त विजय ने निश्चय ही भारत को एक नया आत्मविश्वास और आत्मसम्मान प्रदान किया। यद्यपि यह विजय प्रकट रूप में पाकिस्तान के विरुद्ध थी किन्तु परोक्ष रूप में यह चीन और अमेरिका के विरुद्ध भी भारत की नैतिक विजय थी जिसमें सोवियत सहयोग की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। इस विजय के साथ ही भारत ने एक निर्णायक युद्ध लड़ते हुए बंगलादेश की स्वाधीनता में अपना महत्वपूर्ण

योगदान दिया। बगलादेश की स्वाधीनता तथा पाकिस्तान के विभाजन से भारत की 1947 के पूर्व से ही दो राष्ट्र के अप्राकृतिक सिद्धान्त के प्रति उसकी अस्वीकृति को सही सिद्ध कर दिया।

1971 की ऐतिहासिक विजय के बाद की विदेशनीति सम्बन्धी घटनाक्रमो का हमने जो अध्ययन किया है उससे विदेशनीति के सन्दर्भ मे भारत की यथार्थवादी दृष्टि का स्पष्ट आभास होता है। भारत ने शाति तथा मैत्री की स्थायी खोज के लिये युद्ध के तत्काल बाद प्रयास प्रारम्भ कर दिये और उल्लेखनीय यह है कि इन प्रयासो मे भारत ने अब 'तीसरी शक्ति' का कोई सहयोग नही लिया। यह भी भारतीय विदेशनीति क्रियान्वयन की नई उपलब्धि थी।

भारत ने नव-स्वतत्र बगलादेश से 25 वर्षीय सधि की। उसकी अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय मे सदस्यता के लिये प्रयास किये। प्रारम्भ मे चीन द्वारा अवरोध उत्पन्न किया गया किन्तु जब शिमला समझौते तथा त्रिपक्षीय समझौते के माध्यम से भारत ने भारत, पाकिस्तान तथा बगलादेश की युद्धोत्तर समस्याओ का सुलझाने के प्रयास तेज किये तथा पाकिस्तान ने भी बगलादेश को मान्यता प्रदान कर दी तो चीन ने बगलादेश के सयुक्त राष्ट्र मे प्रवेश मे कोई बाधा नही पहुचाई। इस तरह बगलादेश को अमेरिका-चीन तथा पाकिस्तान की मान्यता ने भारत को कूटनीतिक सफलता प्रदान की वहीं सयुक्त राष्ट्र की बगलादेश की सदस्यता से सम्पूर्ण विश्व समुदाय ने भारतीय प्रयासो को सही निरूपित किया जिस सयुक्त राष्ट्र की महासभा ने भारत-पाक युद्ध के समय युद्धविराम का प्रस्ताव 11 के विरुद्ध 104 मतो से पारित किया था बगलादेश की स्वतत्रता के मार्ग मे बाधा पहुचाई थी उसी सयुक्त राष्ट्र द्वारा बगलादेश को सदस्यता प्रदान करने के निर्णय से यह स्पष्ट रूप से स्थापित हुआ कि 1971 मे भारत ने बगलादेश की स्वतत्रता का समर्थन कर सही कदम उठाया था। भारत ने मुजीब की हत्या के बाद भी बगलादेश के प्रति अपनी मैत्री की नीति मे कोई परिवर्तन नही किया। बगलादेश की ओर से उठने वाले विवादो के प्रति भी भारत मैत्रीपूर्ण प्रतिक्रिया ही व्यक्त करता रहा।

इसी तरह पाकिस्तान के साथ द्विपक्षीय सम्बन्धो को सामान्य बनाने के जो प्रयास भारत ने युद्ध के बाद प्रारम्भ किये वे भी विदेशनीति के परिवर्तित व्यवहार की पुष्टि करते है। पाकिस्तान ने सम्बन्धों के सामान्यीकरण के लिये सोवियत सघ को मध्यस्थ बनाने का जो प्रस्ताव भारत के समक्ष रखा था उसे भारत ने अस्वीकार कर दिया। यह इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भारत-सोवियत सधि के बाद भी भारत विदेशनीति के सन्दर्भ मे निर्णय करने की अपनी शक्ति का प्रयोग करता रहा है। सोवियत सघ के लिये भारत-पाक विवादो मे मध्यस्थता एक सम्मानजनक अवसर था जो भारत ने उसे अपने राष्ट्रीय हितो के कारण प्रदान नही किया। 3 जुलाई, 1972 को भारत और पाकिस्तान के राज्याध्यक्षों का सम्पन्न हुआ शिमला समझौता उपमहाद्वीप मे स्थाई शाति की स्थापना की दिशा मे एक

ओर ठोस प्रयास था। यह समझौता बगलादेश युद्ध की तुलना म भी भारत की परिष्कृत और श्रेष्ठ राजनयिक उपलब्धि था। भारत यह अनुभव कर चुका था कि युद्ध म प्राप्त विजय के प्रभाव का उपयोग उपमहाद्वीप म स्थायी शाति स्थापित करने क लिय किया जाना चाहिए। इस समझौते के बाद यद्यपि इसक क्रियान्वयन म विलम्ब अवश्य हुआ किन्तु फिर भी आठवे दशक के उत्तरार्ध म दाना दशो के सम्बन्ध सामान्य एव मैत्रीपूर्ण ही रह।

उपमहाद्वीप मे स्थायी शाति की आधारशिला रखने क इन प्रयासा क ही अन्तर्गत भारत ने 1971 के बाद क इन वर्षा म अफगानिस्तान श्रीलका स अपन मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो को और अधिक मजबूती प्रदान की। साथ ही पहली बार मध्यपूर्व की प्रमुख शक्ति इरान के साथ भारत के सम्बन्धो मे तीव्र विकास हुआ। इरान के साथ आर्थिक क्षत्र म कीर्तिमान स्थापित करने वाले समझौते भारत न किये। इरान-भारत सम्बन्धा का भी भारत-पाक सम्बन्धो के सामान्यीकरण पर अनुकूल प्रभाव हुआ।

इसी तरह 1975-76 के बाद चीन के साथ सम्बन्धा क सामान्यीकरण का भी समुचित महत्व प्रदान करत हुए राजदूता की अदला-बदली क साथ 1962 क बाद स टूटे हुए सूत्र पुन जोडने म सफलता मिली। भारत न यह निर्णय अपन स्वाभिमान का सुरक्षित रखते हुए चीन की पहल पर अनुकूल दृष्टिकोण अपनाते हुए लिया। भारत-चीन तनाव शैथिल्य के मार्ग मे भी भारत सावियत सधि बाधक नहा थी यह एक बार पुन स्थापित हुआ।

उपलब्धियों के इसी क्रम म 1974 का भारतीय अणु-विस्फोट तथा 1975 म भारत मे सिक्किम का विलय भी जुड गया। इन सभी घटनाओ न भारतीय विदशनीति का एसी गतिशीलता प्रदान की जिसस उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा म निश्चय ही वृद्धि हुई। इसी बढती हुई प्रतिष्ठा के आधार पर तथा अपन नव अर्जित आत्मविश्वास क कारण अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो और समस्याओ के सन्दर्भ मे प्रभावी भूमिका का निर्वाह पुन प्रारम्भ किया।

1973 मे श्रीमती गाधी ने पश्चिम एशिया सकट म अमरिका भूमिका क लिय उसकी तीव्र भर्त्सना की। साथ ही हिन्द-चीन तथा दक्षिण-पूर्व एशिया की समस्या क सन्दर्भ म भी अमेरिकी साम्राज्यवादी वृत्तिया पर प्रहार किय। इन दाना प्रश्ना क अतिरिक्त हिन्द महासागर मे महाशक्तियों की स्पर्धा मुख्यत दियागार्गासिया मे स्थापित अमरिकी अड्डे का जमकर विरोध किया। इसी तरह दक्षिण अफ्रीका मे रगभद तथा जातिभद की साम्राज्यवादी प्रवृत्तिया पर भी भारत न प्रहार किय। उल्लेखनीय यह ह कि भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मचा पर तथा सम्मेलनो मे निर्भीक किन्तु बेबाक तरीके से इन सभी समस्याओ क सन्दर्भ म अपनी भूमिका निभाई। 1973 तथा 1976 के चाथे तथा पाचवे गुटनिरपक्ष शिखर सम्मेलनो मे सयुक्त राष्ट्र के मच पर तथा राष्ट्रमडल आदि के सम्मेलनों में सतत् रूप से भारत ने प्रभावी भूमिका के माध्यम से इन समस्याओं के प्रति अपने विचार रख।

1977 में भारत में प्रथम बार केन्द्रीय सत्ता में परिवर्तन हुआ। जनता पार्टी की इस सरकार के सत्तारूढ़ होने पर यह सामान्य अपेक्षा थी कि भारत की विदेशनीति में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हो सकते हैं। यह धारणा इसलिये व्याप्त हुई थी कि नये सत्तारूढ़ दल में कई दल तथा नेता वही थे जो 1947 से 1977 तक नेहरू तथा उनके उत्तराधिकारियों की सरकार द्वारा संचालित की गई विदेशनीति के कई पहलुओं के विरोधी थे। मुख्य रूप से इनके मत में श्रीमती गांधी की सरकार ने असंलग्नता को वास्तविक रूप में नहीं अपनाया था तथा दोनों में सोवियत संघ से उनके विशेष सम्बन्ध थे। इसीलिये नई सरकार सही अथवा वास्तविक असंलग्नता की नीति अपनाने के संकल्प के साथ प्रस्तुत हुई। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं हो सका। नई सरकार ने भी सोवियत संघ से भारत की मैत्री को न केवल बनाये रखा वरन इसे और दृढ़ बनाने के प्रयास भी किये। निश्चय ही इतनी निकटता यह सरकार अमेरिका से स्थापित नहीं कर सकी। यह सही है कि कम्पूचिया अफगानिस्तान आदि प्रश्नों पर जनता सरकार ने सोवियत भूमिका का सहयोग नहीं दिया परन्तु इस तरह के उदाहरण श्रीमती गांधी की विदेशनीति में भी देखे जा सकते हैं जब श्रीमती गांधी ने सोवियत संघ की मान्यताओं के विपरीत निर्णय लिये हैं। विदेशनीति के सूत्रों का संचालन करने पर नई सरकार के विदेशनीति निर्माताओं को यह अनुभव हो गया था कि महाशक्तियों से समान दूरी नहीं रखी जा सकती। इस तरह जनता सरकार ने भी इस मान्यता की ही पुष्टि की कि लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में सत्ता परिवर्तन से ही विदेशनीति परिवर्तित नहीं हो जाती मुख्य रूप से जब वह राष्ट्रीय हितों को निरन्तर प्रतिबिम्बित कर रही हो। जनता सरकार ने अपने पड़ोसी देशों के प्रति बड़े भाई की उदारता का परिचय देते हुए राष्ट्रीय हितों के साथ थोड़े बहुत समझौते करते हुए सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने में सफलता अवश्य प्राप्त की। जनता सरकार ने चीन के मनोविज्ञान को समझे बिना उससे सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाते हुए विवादों का हल करने में जो व्यग्रता दिखाई उसके कोई ठोस परिणाम नहीं निकले। जनता सरकार की चीन नीति सफल नहीं हो सकी।

अन्य महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सन्दर्भ में जनता सरकार ने पूर्व सरकार की नीतियों का ही अनुसरण किया।

भारतीय आणविक नीति के सन्दर्भ में यद्यपि जनता सरकार ने शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिये भी अणु-विस्फोट न करने का संकल्प व्यक्त किया किन्तु अणुअप्रसार संधि पर हस्ताक्षर न करने तथा भारत के आणविक संयत्रों पर निगरानी स्वीकार न करने के सन्दर्भ में पूर्व सरकार की ही नीति को निरन्तर बनाए रखा। निशस्त्रीकरण के प्रश्न पर भी जनता सरकार ने पूर्व सरकार के दृष्टिकोण को ही समर्थन दिया।

1979 के हवाना सम्मेलन के पूर्व जनता सरकार भंग हो चुकी थी तथा इसके स्थान पर चरणसिंह के नेतृत्व में कार्यवाहक सरकार देश में सत्तारूढ़ थी इसलिये हवाना

सम्मेलन में भारत ने कोई उल्लेखनीय भूमिका नही निभाई। विदेशनीति के सन्दर्भ मे भी इस कार्यवाहक सरकार की कोई उल्लेख्य उपलब्धि नही रही।

1980 में श्रीमती गाधी के नेतृत्व मे पुन उनका दल सत्तारूढ हुआ। अपने इस कार्यकाल में श्रीमती गाधी ने विदेशनीति को पूर्व-कार्यकाल की अपेक्षा और अधिक गतिशील रूप दिया साथ ही यथार्थपरक दृष्टिकोण अपनाते हुए भारत की अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका को नये आयाम दिये।

वियतनाम और सोवियत सघ से मैत्री के आधार पर तथा चीन को स्पष्ट और निर्भीक होने का आभास देते हुए भारत ने कम्पूचिया को मान्यता प्रदान करने का निर्णय लिया। लेकिन साथ ही अफगानिस्तान के प्रश्न पर निरन्तर अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करते हुए इस बात पर बल दिया कि अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओ सहित किसी भी किस्म के विदेशी हस्तक्षेप को तुरन्त समाप्त होना चाहिए। भारत ने इसी दृष्टिकोण के आधार पर गुटनिरपेक्ष देशो के सम्मेलन में भी इसी भावना के आधार पर अफगान समस्या के सन्दर्भ मे प्रस्ताव पारित किया। यह भारत की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। इरान-इराक सघर्ष मे भारत ने तटस्थ दृष्टिकोण अपनाते हुए तत्काल युद्ध समाप्त किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया। इस युद्ध का रोकने के लिये गठित गुटनिरपेक्ष देशो की एक समिति मे भारत को भी प्रतिनिधित्व दिया गया।

भारत ने अमेरिका से अपने सम्बन्धो का मैत्रीपूर्ण बनाने के भी प्रयत्न किये। भारतीय प्रधानमंत्री तथा अमेरिकी राष्ट्रपति के मध्य लगातार तीन बार वार्तालाप हुई। दोनो देशो के मध्य सहयोग का विस्तार हुआ। श्रीमती गाधी की अमरिका यात्रा के समय भारतीय विदेशनीति के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट रूप से अमरिका के समक्ष रखा गया। इस यात्रा के बाद से ही यूरेनियम के प्रश्न का हल निकलने की सम्भावनाए प्रबल हुई हैं। इसी के साथ मित्र देश सोवियत सघ तथा भारत के मध्य भी शीर्षवार्ताए हुई। सहयोग के कई समझौते हुए। श्रीमती गाधी ने सोवियत सघ से अफगानिस्तान से सेनाए हटाने की भी अपील की।

चीन के साथ सीमा-विवाद पर यह सहमति हुई कि सीमा समस्या का क्षेत्रवार हल खोजा जाए। यह भारतीय कूटनीति की सफलता ही थी। पाकिस्तान द्वारा प्रस्तुत अयुद्ध सधि के प्रस्ताव पर भी भारत ने शाति सधि का प्रस्ताव रख -पाक राजनय का सटीक उत्तर दिया तथा इन दोनों प्रस्तावों पर दोनों पक्षों में चर्चा जारी है साथ ही भारत-पाक सयुक्त आर्थिक आयोग की स्थापना के माध्यम से दोनो पक्ष एक-दूसरे के साथ सहयोग कर रहे हैं। इसी तरह बगलादेश, श्रीलका, नेपाल, भूटान, बर्मा आदि पड़ौसी देशों से भी भारत ने सम्बन्धो मे निरन्तर सुधार किया। मुख्य रूप से श्रीलका की तमिल समस्या मे भारत की शातिपूर्ण मध्यस्थता ने श्रीलका के साथ भारत के सम्बन्धो को सुदृढ आधार प्रदान किया है।

मार्च 1983 के सातवें गुटनिरपेक्ष सम्मेलन के भारत में सफल आयोजन और तीन वर्षों के लिए प्राप्त अध्यक्षता के नेतृत्व ने जहां भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में वृद्धि की है वहीं भारत के दायित्व को भी बढ़ाया है। अध्यक्ष पद संभालने के बाद से ही भारत, गुटनिरपेक्ष देशों की ओर से निश्चित किये गए प्रस्तावों तथा संदेश को विश्व के नेताओं तथा विश्व मंच पर प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर चुका है। इस सन्दर्भ में श्रीमती गांधी द्वारा गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के अध्यक्ष के रूप में संयुक्त राष्ट्र महासभा में सितम्बर, 83 में आमंत्रित शिखर सम्मेलन एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। श्रीमती गांधी ने इस मंच से विश्व समुदाय से निशस्त्रीकरण करते हुए विश्व में तनाव घटाने की अपील की जिससे विश्वशांति के लिये भयावह खतरे पैदा हो गए है साथ ही नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की भी मांग को पूरी शक्ति के साथ रखा है। यह सही है कि उत्तर-दक्षिण संवाद में भारत की भूमिका के कोई प्रभावी परिणाम नहीं निकल सके हैं किन्तु भारत प्रयत्नरत है तथा पहले दक्षिण-दक्षिण संवाद के माध्यम से गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों में परस्पर सहयोग और विश्वास को बढ़ाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की संचार व्यवस्था को शक्तिशाली बनाने के प्रयत्न भी प्रारम्भ हो गए हैं जिससे आन्दोलन की एकता के सन्दर्भ में लाभकारी दूरगामी परिणाम निकलेंगे।

इस तरह 1980 के बाद भारत ने विदेशनीति को जहां निजी प्रश्नों के सन्दर्भ में यथार्थपरक रूप प्रदान किया वहीं विश्वराजनीति में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए एक बार पुनः वर्तमान विश्व के समक्ष उत्पन्न हुए संकट के समाधान में प्रभावी भूमिका निभाना भी प्रारम्भ किया।